इकाई - 1

यहूदी धर्म-ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति

संरचना

1.0 प्रस्तावना

1.1 उद्देश्य

1.2 मूसा का जीवन चरित्र

1.3 धर्म-साहित्य

1.4 यहूदी धर्म की विशेषताएं

1.5 ईश्वर विचार

1.6 मानव विचार

1.7 अशुभ की समस्या

1.8 मरणोत्तर जीवन और असहता

1.7 अहिंसा एवं शान्ति विचार

1.10 सारांश

1.11 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

जातिगत उत्पत्ति के दृष्टिकोण से यहूदी लोग सेमीत्स (Semites) थे। वे बहुत दिनों तक क्रमश: सौल (Saul), डेविड (David) तथा सोलोमन (Solomon) की छत्रछाया में स्वतन्त्र रूप से आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहे। सोलोमन के शासनकाल में उनका प्रसिद्ध शहर जेरूसलम (Jerusalem) अपने उत्थान की चोटी को छू रहा था। उसी समय 'यहवेह' (Jehovah) के प्रति अगाध श्रद्धा के रूप में एक मन्दिर की स्थापना हुई जिसके फलस्वरूप तत्कालीन धार्मिक प्रवाह बहुदेवतावाद से मुड़कर एक सर्जनात्मक धर्म-चेतना की ओर प्रशस्त हुआ। यहूदी परम्परा के प्रारम्भ में चट्टानों, पशुओं (भेड़ आदि), गुफाओं और पर्वतों की देवी-देवताओं, सर्पों आदि की पूजा होती थी। लेकिन धीरे-धीरे यहवेह को ईश्वर के रूप में स्वीकार किया गया जिससे यहूदी धर्म में दृढ़ता और एकता की भावना का आगमन हुआ। किन्तु शीघ्र ही उस पर मिश्रवालों ने आक्रमण कर दिया जिसके परिणामस्वरूप यहूदी लोग गुलाम बन गए और उनके जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यतिक्रम आ गया। बाद में मूसा (Mozes) नामक एक यहूदी ने ही उन्हें फिर से स्वतंत्र किया और उनके सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक जीवन को प्रकाशित किया। उस समय से मूसा ही उनका धर्म-गुरु बना और उसने ही उनके धार्मिक नियमों का प्रतिष्ठापन किया।

1.1 उद्देश्य

जिस प्रकार हमने पिछले वर्ष पाठ में पाया कि भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शान्ति के विचारों को विभिन्न अन्तराल में विभिन्न परिप्रेक्ष्य में प्रतिष्ठित हुए, इसी प्रकाप गैर-भारतीय परम्परा में भी इस तरह के उदात्त मूल्यों की प्रतिष्ठा समय-समय पर स्थापित होती रही। गैर भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शान्ति जैसे मूल्यों को स्थापित करने की शृंखला में सर्वप्रथम यहूदी परम्परा का नाम आता है। दो अन्य महत्वपूर्ण धर्म-दार्शनिक विचारधाराएं यथा - ईसाई एवं इस्लाम इसके उपरान्त अस्तित्व एवं प्रचलन में आई।

1.2 मूसा का जीवन चरित्र

ईसा से डेढ़ हजार पहले मूसा हुए थे- एक यहूदी के घर। उनके पिता का नाम था अमराम, माँ का योथेबेद। उनके एक बहन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

थी मरियम। मिस्र की सरकारी आज्ञा थी कि जो भी यहूदी बच्चा पैदा हो, वह नील नदी में बहा दिया जाय। राजा को किसी ने कह दिया कि कोई इसराइली ही मिस्र का नाश करेगा, तभी से यह आज्ञा जारी हुई। राजकन्या बिटियाहको कोढ़ था तथा वह नील नदी में नहाने जाती। वहीं पर पानी में बहता हुआ मूसा उसे मिला। उसे बड़ी दया आई। उसने उसे बचा लिया और दाईको सौंपा दिया दूध पिलाने को। संयोग से दाई मूसा की माँ ही थी। मूसा राजमहल में बड़ा हुआ तथा उसे अच्छी शिक्षा-दीक्षा मिली।

बड़े होने पर मूसा ने महल से बाहर निकलकर देखा, तो पता चला कि यहूदियों पर मिस्री लोग बहुत अत्याचार करते हैं। गोशेन स्थान पर गया तो मरियम की दीन हालत उसने देखी। और भी जगह-जगह उसने ऐसे ही अत्याचार देखे। एक बार मूसा ने देखा कि एक मिस्री एक यहूदी को बुरी तरह पीट रहा है, तो उसने उसका कोड़ा उससे छीन लिया। उसी कोड़े से उसने उस व्यक्ति को इतना मारा वह मर ही गया। मूसा से ये सब अत्याचार बर्दाश्त न हुए। चालीस सालकी उम्र में वह राजमहल का सुख छोड़कर बाहर निकल पड़ा। मिद्दान के याजक येत्रो ने अपनी बेटी सिप्पोराहका विवाह मूसा के साथ कर दिया। चालीस साल की अवस्था तक वह ससुराल में पशु चराता रहा।

एक दिन मूसा होरेव पहाड़ के पास बकरियाँ चरा रहा था कि उसे ईश्वरीय वाणी सुनाई पड़ी-'इसराइली लोग मिस्र में दास हैं। वे कष्ट में हैं। उन्हें उस देश में ले चल, जिसे देने की मैंने तेरे पितरों से प्रतिज्ञा की है।'

'आप कौन हैं?'- मूसा ने पूछा।

'एहे अशेर एहे!' ('सोऽहमस्मि'-'मैं वही हूँ जो मैं हूँ!')

इसी को कहते हैं 'यहोवा'(वही है वह)। सर्वव्यापी परमेश्वर।

यहोवा के आदेश का पालन करने को मूसा तैयार हो गया। मिस्र के राजा फरोहा ने उसके रास्ते में बहुत बाधाएँ डाली, पर वह सफल न हो सका। मूसा की विजय हुई। राजा ने यहूदियों के मिस्र से चले जाने की बात मंजूर कर ली। मूसा ने रक्त की एक बूँद भी बहाये बिना क्रान्ति कर डाली। पैंतीस लाख लोगों को लेकर वह मिस्र से फिलस्तीन के लिए चल पड़ा। रास्ते में भी उस पर अनेक मुसीबतें आयीं, पर ईश्वर का सहारा था। मूसा को अपने उद्देश्य में सफलता मिली। मिस्र से चलने के 3 महीने बाद मूसा ने सिनाई के सामने छावनी स्थापित की। उस पर्वत पर उसे यहोव की पवित्र वाणी सुनाई पड़ी और 10 पवित्र आदेश मिले। ये उपदेश ही यहूदी धर्म का मूल आधार हैं। मूसा ने यहोवा के आदेशों के अनुसार दण्डसंहिता और व्यवस्था तैयार की। राष्ट्र के लिए विधान बना दिया। इसके बाद मूसा ने पहले नाकेबन्दी का प्रबन्ध किया। फिर युद्ध करते-करते मूसा आगे बढ़ता गया। मिद्दियानियों पर मूसा ने विजय प्राप्त की। कनान देश की सीमा बनायी। बाहर छह शरणार्थी नगर बसाने का आदेश दिया। चालीस वर्ष तक यह युद्ध चलता रहा। पुरातन धर्मग्रन्थ (पुरानी बाइबिल) में मूसाके उपदेश भरे पड़े हैं। एक सौ बीस वर्ष की अवस्था में मूसा का देहान्त हुआ। उसने सबको आशीर्वाद देते हुए बिदा ली और कहा - ''मैं यहोवा के नाम का प्रकाश करता हूँ। वह परमेश्वर महान् है, पूर्ण है, न्यायी है, सत्य है। वही तुम्हारा पिता है, उसी ने तुम्हें बनाया है। वह न्याय करेगा, दासों पर करुणा करेगा, उसका सानी कोई नहीं, वही मारता है, वही जिलाता है, वह अनन्त है। उसी को पूजो । आमीन!''

1.3 धर्म-साहित्य

यहूदी धर्म-साहित्य के प्राचीन धर्मग्रन्थ (Old Testament) के पाँच विभाग, जिन्हें पेन्टाच्यूच (Pentateuch) की संज्ञा दी गई है, प्रधान हैं। उनमें न मात्र सामाजिक नियम ही हैं, बल्कि इतिहास, काव्य एवं दर्शन के भी विभिन्न रूप मिलते हैं। सर्व प्रथम मूसा के द्वारा रचित नियम की पुस्तक का पाठ एक प्रसिद्ध विद्वान एजरा (Ezra) ने ईसा पूर्व 444 में किया था।

यहूदी धर्म का प्रमुख ग्रन्थ तोराह कहलाता है। इसका शाब्दिक अर्थ कानून अथवा नियम है। इसमें यहूदी लोगों का इतिहास है। सेबेथ के दिनों में, पर्वों पर, सोमवार और बृहस्पतिवार के दिन में प्रातः काल यहूदी मन्दिर जो 'सिनेगोग' कहलाता है वहाँ तोराह का पाठ होता है। एक वर्ष में पूरा ग्रन्थ पढ़ लिया जाता है। यहूदी तोराह (torah) को अपना पवित्र ग्रंथ समझते हैं जिसमें लिखित और मौखिक दो प्रकार की बातें लिखी हुई हैं। रूढिवादी लिखित तोराह को ही प्रामाणिक मानते हैं। पर तोराह यहूदियों का जीवन है जिससे वे ओतप्रोत कहे जा सकते हैं। यहूदियों के लिए तोराह पवित्र एवं धार्मिक परंपरा का संपूर्ण ग्रंथ है। यह ईश्वर की वह आवाज है जो होरेब (सैनाई Senai) पवर्त से प्रारम्भ होकर समस्त विश्व में ईश्वर की घोषणा करती है। जब तक मानव तोराह के अनुसार जीवन-यापन करेगा, उसे भवभीति नहीं होगी यह उस विश्व का नक्शा है जिसके आधार पर ईश्वर ने संपूर्ण विश्व की रचना की है। यह विश्व का प्राण है और इसी की शरण लेकर यहूदी अनेक कष्ट झेलने में समर्थ हुए थे और जो आज भी उनका मार्गदर्शन करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तोराह के अतिरिक्त यहूदी धर्म में विभिन्न पैगम्बरों के उपदेशों पर आधारित अन्य पुस्तकें भी पवित्र मानी जाती हैं। इन पुस्तकों में 'जोब' तथा 'कोहेलेथ' नाम के ग्रन्थ अमर माने जाते हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के नैतिक उपदेश भरे पड़े हैं। जैसे यहूदी धर्म कर्म पर जोर देता है किन्तु यह कर्म साध्य नहीं बल्कि साधन मात्र है। सुख भोगने चाहिए परन्तु वे शुभ होने चाहिए। परिश्रम और सुख दोनों से ही तटस्थता एवं बुद्धिमानी आती है। सम्पत्ति बुद्धि से उत्पन्न नहीं होती बल्कि आकस्मिक होती है। अस्तु, उसका गर्व करना मूर्खता है।

सादिया (सन् 882–942) और मैमानोइड्स (सन् 1134–1206) यहूदियों के बड़े दार्शनिक हुए हैं। सादिया ने बताया है कि तोराह के अतिरिक्त दो और धर्मस्रोत हैं अर्थात् बुद्धि (रीज़न) और परंपरा (तालमुद–Talmud)। तालमुद में यहूदियों की सभी बातों का उल्लेख किया जाता है जिसमें विधि, औषधि, विज्ञान, आरोग्य–नियम इत्यादि सभी सम्मिलित पाये जाते हैं।

1.4 यहूदी धर्म की विशेषताएं

सेमिटिक अथवा पैगम्बरी (नबीमूलक–prophetic)) धर्म तीन हैं, अर्थात् यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम। वास्तव में यहूदी धर्म से ही ईसाई धर्म निकला है और इन दोनों से इस्लाम की स्थापना की गयी है। यहूदी धर्म प्राचीन है और यहूदियों की संख्या अधिक नहीं है। पर ये दुनियाँ के सभी कोने में पाये जाते हैं और जहाँ भी ये पाये गये हैं वहाँ इन्होंने उस देश की सांस्कृतिक, वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास में बहुत बड़ा योगदान दिया है। यहूदी धर्म में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बातें कही जा सकती है :–

1. यह पैगम्बरी धर्म है जिसके इब्राहिम पैगम्बर कुलपिता कहे जा सकते हैं। बाद में हजरत मूसा को यहूदी धर्म का संस्थापक गिना गया है। मूसा के ही द्वारा यहूदियों को तौराह (torah) दिया गया जिसमें उनके जीवन–संचालन के सभी नियम और आज्ञायें (Commandment) दी गयी हैं। मूसा–संहिता को ई. पू. 444 में एजरा पुजारी ने वर्तमान रूप दिया है। इस मूसा–संहिता को पंचग्रंथ (Pantateuch) कहते हैं।
2. यहूदी धर्म शुद्ध एकेश्वरवाद(monotheism) कहा गया है, क्योंकि ईश्वर को छोड़कर इसमें किसी भी अन्य सत्ता को ईश्वर–समकक्ष नहीं माना गया है। इन धर्म में मूर्तिपूजा और अनेकेश्वरवाद (Polytheism) को अस्वीकारा गया है। इस रूप में इस धर्म को सर्वव्यापक माना जाता है।
3. यहूदी धर्म में चुनाव–सिद्धान्त (election) को स्वीकारा गया है और इस बात का यहूदियों को गर्व है कि ईश्वर ने यहूदी जाति को चुन लिया है कि वे समस्त मानव–जाति का आध्यात्मिक नेतृत्व करें, सभी को ईश्वर–ज्ञान से अवगत करायें और अन्य जातियों के लिए आकाश–दीप (beacon light) के रूप में याजक बने रहें। इसलिए ये ईश्वर के नाम पर अपने प्रारम्भ से शहीद (martyr) करते रहे हैं। प्रत्येक युग में यहूदियों को सताया– मारा गया है और वे समझते है कि बिना यहूदियों के बलिदान से न तो समस्त मानव–जाति का कल्याण हो सकता है और न उन्हें ईश्वर का शुद्ध ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

   यह स्पष्ट है कि अधिक संख्या में किसी भी धर्म में लोग स्वयं अपनी ही आहुति नहीं चढ़ा सकते। इसलिए यहूदियों का विश्वास है कि विश्वासियों की संख्या अल्प ही रहेगी (Only the remnants will be saved)। ये शेष विश्वासी ही प्रारम्भ से चुने गये हैं। उदाहरणार्थ, इब्राहिम पैगम्बर अनेक मूर्तिपूजियों में से चुने गये, बाद में मूसा नबी चुने गये, फिर एलियाह नबी भी चुने गये इत्यादि।
4. यहूदियों का ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्ता है और वह इस सृष्टि से अलग नहीं, वरन् इसकी सभी घटनाओं पर दृष्टि रखता है। अत: यहूदियों के लिये ईश्वर इतिहास की घटनाओं के द्वारा सिद्ध करता है कि उसने यहूदियों को चुन लिया है और उनके साथ उसने पवित्र वाचा बांधी है कि वह उन्हें कभी छोड़ नहीं देगा। इस बात की पुष्टि एक ऐतिहासिक घटना द्वारा विशेष मानी गयी है। यहूदी प्रारम्भ में मिश्रियों के दासत्व में बढ़े, फूले–फले, पर दास होने के कारण वे सताये भी गये। ऐसी स्थिति में ईश्वर ने अपने सेवक मूसा द्वारा उन्हें मिस्र देश से निकाला, स्वतन्त्र जाति बनाया और अपना करने लिये उन्हें तोराह प्रदान किया। यहूदी लोगों ने भी इब्राहिम से लेकर अब तक खतना (सुन्नत Circumcision) की प्रथा को इस बात की गवाही देने के लिये अपनाया है कि वे एकमात्र ईश्वर की पूजा करेंगे और उसके बताये हुए नियम और उसकी आज्ञाओं का पालन करेंगे।

चूँकि यहूदी ईश्वर के चुने हुए लोगों में बताये गये हैं ताकि वे ईश्वर के ज्ञान से समस्त मानवजाति को आलोकित करें, इसलिए ईश्वर उन पर कड़ी नजर भी रखता है। जब–जब यहूदी अन्य देवी–देवताओं की पूजा करते और ईश्वर द्वारा ठहराये हुए नियमों और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आज्ञाओं का उल्लंघन करते हैं तब-तब उन्हें ईश्वर द्वारा कड़ा दंड मिला है। उन्हें लड़ाइयों में हारना पड़ा है और यहाँ तक कि उन्हें दूसरे देशों में निर्वासित एवं तितर-बितर होकर रहना पड़ा है। उन्हें बाबिल देश में निर्वासित होना पड़ा और उनके पवित्र मंदिर को तहस-नहस कर दिया था। यह घटना भी यहूदियों के इतिहास में महत्त्वपूर्ण समझी जायगी। बाबिल में रहकर यरूशलेम के मंदिर के ध्वस्त हो जाने पर उन्हें किसी अन्य मंदिर का सहारा न मिला, तब यरूशलेम की ओर अपना मुँह करके इन निर्वासित यहूदियों ने ईश्वर से प्रार्थना करना सीखा। फिर जब अपने निर्वासन से लौटकर उन्होंने अपने देश में पुनर्वास किया तब फिर उन्होंने कभी मूर्ति-पूजा नहीं की, शुद्ध नैतिक आचरण को पहचाना और ईश्वर को न केवल यहूदियों का अपितु समस्त जातियों का भी सर्वव्यापक ईश्वर मानने में वे समर्थ हुए। इसी काल से (ई. पू. 444) यहूदियों के अंदर शुद्ध नैतिक आचरण द्वारा वे ईश्वर को पूजने लगे हैं।

6. यहूदी धर्म का उद्देश्य है कि विश्व-शांति का और समस्त जातियों को ईश्वर वाद के शुद्ध संदेश का प्रचार-प्रसार करे। यहूदियों का ईश्वर इतिहास की घटनाओं में अपनी प्रकाशना न्याय के दिनों तक करता रहेगा और इसलिए यहूदियों के लिए ईश्वर इब्राहिम, इजहाक और याकूब का ईश्वर है, जिन कुलपिताओं के साथ ईश्वर ने पवित्र वाचा बाँधी है।

1.5 ईश्वर-विचार

यहूदी धर्म में ईश्वर अद्वैत, पवित्र और महान् है। ईश्वर को 'एक' नहीं पुकारा जा सकता, क्योंकि '1 ' से संख्या का बोध होता है और ईश्वर को इस संख्या के रूप में 'एक' नहीं कहा जा सकता। ईश्वर को 'एक' कहने का तात्पर्य है कि वह अनूठा, अनुपम है और न उसके समतुल्य अन्य कोई सत्ता है और न उसे छोड़कर अन्य कोई ईश्वर है। सभी अन्य सत्तायें सापेक्ष हैं, और उस एक ईश्वर पर निर्भर रहती हैं। अत: ईश्वर को आदिसत्ता भी कहा जा सकता है, क्योंकि किसी भी अन्य सत्ता से उसे कुछ प्राप्त नहीं हो सकता है। वह स्वनिर्भर और अपने में सर्वथा परिपूर्ण रहता है। चूँकि ईश्वर मानव जाति का पूज्य सत्ता महान् है, इसलिए ईश्वर को सभी सृष्ट वस्तुओं और मानवों से अतीत (transcendent) और परे कहा गया है। इसलिए नबियों की उद्घोषणा है :

'हे इस्रायल सुनो, ईश्वर हमारा परम प्रभु और एक है।' ईश्वर को 'यशामह' नबी ने पवित्र, और पवित्र महान् कहा है। 'औटो' ने इस 'पवित्र महान्' का विश्लेषण कर कहा है कि ईश्वर आश्चर्यजनक रहस्य और भय संचार करने के साथ मुख्य आकर्षण का विषय है। चूंकि ईश्वर को अतीत (transcendent) और रहस्य कहा गया है, इसलिए कोई भी मानव शब्द ईश्वर के लिए शब्दश: सत्य नहीं कहे जा सकते हैं। बल्कि सभी शब्द संकेत मात्र एवं उपमामय कहे जा सकते हैं। मैमोनाइड्स का कहना है कि शब्दश: ईश्वर को 'आदि' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'आदि' का अर्थ कालिक है और ईश्वर सभी कालों से परे है। इसी प्रकार सादिया ने बताया है कि किसी भी प्रकार के शब्द जिनका संदर्भ देश-काल का होता है उसे ईश्वर के विषय में शुद्ध रूप से काम में नहीं लाया जा सकता है। अत: ईश्वर के संदर्भ में उसके गुणों का संकेत करने के लिए सभी शब्द उपमामय कहे जा सकते हैं। इस संदर्भ में मैमोनाइड्स की यह उक्ति कि हम जानते हैं कि ईश्वर है, पर नहीं जानते कि वह क्या है, अर्थात् ईश्वर के अस्तित्व का हमें ज्ञान है, पर उसके गुण का नहीं, इसे अनेक प्राच्य और पाश्चात्य ईश्वरवादियों ने अपनाया है। यहूदियों का यह मत ईश्वर की महान् पवित्रता का परिचालक है न कि किसी प्रकार के अज्ञेयवाद का। यहूदी इस बात पर बल देते हैं कि ईश्वर में पूर्ण नैतिकता है।

यहूदी अपने धर्म के संदर्भ में कोरे तत्त्वमीमांसक नहीं रहे हैं। उनका धर्म प्रकाशन का है क्योंकि इनके अनुसार दस आज्ञाओं को ईश्वर ने अपने हाथों से लिखा और अन्य विधियों और निषेधों को उनके पैगम्बर मूसा को बताया। दार्शनिक इस विषय पर चिंतन कर सकते हैं कि क्या ईश्वर से परे नैतिक मूल्यों का औचित्य है, या ईश्वर के संकल्प पर अच्छे-बुरे का निर्धारण किया जाता है। यहूदियों के लिए ईश्वर धर्मप्राण है और वह चाहता है कि मानव भी ईश्वर के समान धर्मप्राण बने। ईश्वर की 'पवित्रता' में नैतिक गुणों की भी ध्वनि पायी जाती है, क्योंकि ईश्वर की पवित्रता के द्वारा ही मानवों का परिशुद्धीकरण होता है।

यहूदी धर्म में ईश्वर के न्याय और दया, दोनों पर बल दिया जाता है। यदि बिना कारण केवल न्याय पर बल दिया जाय तो भला कौन ईश्वर की महान् पवित्रता के सामने ठहर सकता है? सभी मानवों को शाश्वत दंड का भागी रहना पड़ेगा। इसलिये यद्यपि ईश्वर पापियों को उनके बुरे काम के लिये दंड देता है, तो भी पश्चात्ताप करने वाले पर वह सदा दया रखकर उन्हें सच्चे रास्ते पर चलाता रहता है। यहूदियों के लिये ईश्वर इस संसार का सृष्टि करने वाला है। अपनी ही मात्र शक्ति से ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है। उसने कहा, 'उजाला हो' और उजाला हो गया। ईश्वर इस सृष्टि की रचनाकर इस संसार से अलग नहीं हो गया है। यह बात यहूदी धर्म में मानव-विचार से स्पष्ट हो गयी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.6 मानव-विचार

ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया है। इसलिये यहूदियों के अनुसार मानव ईश्वर की सर्वोच्च और उत्तस सृष्टि है। मानव के जीवन का चरम लक्ष्य है कि वह प्रत्येक स्थिति में ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करे और उसमें अपनी सम्पूर्ण निष्ठा रखे। ईश्वर स्वयं न्याय और करुणा है, इसलिये ईश्वर चाहता है कि मानव ईश्वर को अपनी संपूर्ण शक्ति, मन और आत्मा से ईश्वर की आराधना करे। ईश्वर चाहता है कि मानव नम्रतापूर्वक न्याय और करूणा को आजीवन निभाये।

ईश्वर ने सृष्टि की रचना इसीलिये की है कि संपूर्ण ब्रह्मांड में न्याय और करुणा के साथ ईश्वर के साम्राज्य की स्थापना की जाय। ईश्वर का लक्ष्य है कि मानव उसी प्रकार का धर्मप्राण धर्मी भारतीय दर्शन का तकनीकी शब्द है तथा धर्म-धर्मी, गुण-गुणी के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ धर्मी का तात्पर्य दूसरा है और पवित्र बने जिस प्रकार स्वयं ईश्वर महान् है। वास्तव में ईश्वर ने मानव को अपनी संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार दिया है कि विश्व में ईश्वरीय साम्राज्य, पृथ्वी पर ईश्वरीय लक्ष्य की पूर्ति तथा इस भूतल पर स्वर्गिक राज्य की स्थापना मानव के द्वारा प्राप्त की जाय। अत: मानव ईश्वर के साथ उसका सहकर्मी है। यहूदियों के अनुसार ईश्वर विशेषतया न्यायी है, क्योंकि करुणा बिना न्याय के मानव को पूर्णतया धर्मी और पवित्र बनाने में बाधक हो सकती है। चूँकि यहूदी धर्म पूर्णतया प्रकाशना-धर्म है, इसलिये यहूदियों के अनुसार ईश्वर ने मूसा द्वारा यहूदियों के माध्यम से मानव-जाति के लिये ईश्वर के वचन कहलाए।

1.7 जगत्-विचार

ईश्वर ने इस जगत् की सृष्टि की है कि इस विश्व में ईश्वर के साम्राज्य की स्थापना हो। इसलिए सृष्टि वास्तविक है और मानवों का यह कर्मक्षेत्र है। इसी विश्व में रहकर और ईश्वर की आज्ञाओं का पालनकर और अपने आपको ईश्वर के प्रति आत्म-निवेदित कर मानव अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यह ठीक है कि विश्व और ईश्वर दोनों एक नहीं हैं। ईश्वर विश्व में अंतर्व्याप्त नहीं है, पर ईश्वर सब जगह उपस्थित रहता है। ईश्वर इस विश्व की सृष्टिकर इस विश्व से अलग नहीं हो गया है, बल्कि वह सर्वत्र है, और मानवों और जगत् की सभी प्रक्रियाओं पर नियंत्रण रखता है। इसलिए न कोई गहराई और न कोई ऊँचाई और न कोई ऐसी गुह्य जगह है जहाँ मानव ईश्वर से छिपकर कोई दुराचार कर सकता है। अत: यहूदी धर्म में सर्वेश्वरवाद नहीं, वरन् ईश्वरवाद है जिसमें ईश्वर को विश्व का रचयिता और विश्व से अतीत सत्ता की संज्ञा दी गयी है। साथ ही साथ अंतर्व्याप्तता के स्थान पर सर्वोपस्थिति की भावना बतायी गयी है। यहूदी धर्म के अनुसार, ईश्वर ने विश्व की रचना जब की थी तो वह विश्व सुंदर और सर्वशुभ ही था। पर ईश्वर ने अपनी ही शक्ति और इच्छानुसार मानव को इच्छा स्वातंत्र्य दिया और इस इच्छा-स्वातंत्र्य में ईश्वर की आज्ञाओं के उल्लंघन करने की संभावना भी ईश्वर-अनुमत है। पर ईश्वर चाहता नहीं है कि कोई भी मानव ईश्वर से विमुख हो जाय और अपने पतन की ओर अग्रसर हो जाय। अत: इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ ईश्वर ने पाप के लिए अवसर अवश्य प्रदान कर दिया है। यह ईश्वर की इच्छा नहीं है, पर इच्छा-स्वातंत्र्य के प्रदान के साथ ईश्वर की अनुमति इसमें झलकती है (God does not will, but permit exit) अत: इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ अशुभ की समस्या उठ खड़ी होती है।

1.8 अशुभ की समस्या

अय्यूब की पुस्तक में अशुभ समस्या को गहनतापूर्वक रखा गया है। इस पुस्तक में दिखाया गया है कि धार्मिक और अधार्मिक और अधर्मी, दोनों दु:ख में एक समान पड़ते हैं। पर धर्मी ईश्वर को अपने दु:ख के लिये उत्तरदायी और दोषी नहीं ठहरा सकते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान है और मानव का कर्त्तव्य है कि ईश्वरीय निर्णय के सामने ईश्वर की स्तुति करे। ईश्वर ही ने प्रकाश और अंधकार, शांति और अशुभ, दोनों की स्थापना की है। परंतु अशुभ भी ईश्वर के संचालन-नियन्त्रण में रहते हैं। तूफान, वर्षा, अतिवृद्धि-अनावृष्टि, बाढ़-सूखा सभी ईश्वर द्वारा भेजे जाते हैं। इसलिये यहूदी ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के सामने नतमस्तक होकर उसकी स्तुति करते, उसे सराहते और कहते हैं - 'ईश्वर ने दिया, ईश्वर ने लिया, ईश्वर को धन्य कहो।' ईश्वर रहस्य महान है और कोई भी उसके रहस्य को नहीं समझ सकता है। यहूदियों का प्रगाढ़ विचार निम्नलिखित है- 'हे ईश्वर, हमें यह नहीं बताओं कि मैं क्यों दु:ख भोग रहा हूँ। मैं 'क्यों' का उत्तर जानने के लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। पर मुझे तेरे लिये दु:ख भोगने के लिये विश्वास दे और दु:ख-यातना सहन करने में सहायता दे।' यह ठीक है कि कुछ अधर्मी इस जीवन में सुख से रहते हैं। पर विश्वासियों का मत है कि यह सुख अल्पकालीन है और न्यायदिवस के बाद उनकी नारकीय यातना अवश्य उन्हें मिलेगी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी बात को ध्यान में रखकर आदिकाल से ही यहूदियों ने बार-बार अन्य जातियों के द्वारा त्रस्त और दंडित होने पर भी ईश्वर में अपने अटल विश्वास को नहीं खोया। उनका विश्वास है कि यहूदियों के दु:ख-भोग से स्वयं यहूदी जाति परिशुद्ध होती है और समस्त मानवजाति को ईश्वर-संदेश देने में समर्थ होती है। ईश्वर द्वारा यहूदी जाति के चुने जाने का सही अभिप्राय है कि वह मानवजाति के लिये बलिदान-स्वरूप बनी रहे। इसलिये अपने धर्म, तोराह और एकेश्वरवाद के नाम पर अअंख्य यहूदी शहीद होते आये हैं। ईसा मसीह ने भी इसी यहूदी परंपरा में रहकर क्रूशीय मौत को स्वीकार किया था।

जो बात प्राकृतिक अशुभ के लिए लागू है वह पाप के संदर्भ में लागू नहीं हो सकती है। पाप ईश्वर का विरोध करना है, उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन करना है और अपने दुराचार के कारण ईश्वर से दूर जाना है। पाप मानव मन की बुराई, दुष्ट योजना और विचार से उत्पन्न होता है इसलिए पाप, मानव और ईश्वर के बीच दुराव कर देता है। यही कारण कि ईश्वर मानव की ताड़ना करता है कि मानव अपने पापों से अपने मन को दूर करे, अपने पापों से पश्चात्ताप करे क्योंकि ईश्वर किसी पापी की मृत्यु नहीं चाहता है, पर वह चाहता है कि पापी ईश्वर की ओर मुड़े, अपने पापों से पश्चात्ताप करे ताकि वह हमेशा के लिए नरक-यातना का अधिकारी न हो।

यहूदी धर्म के अनुसार स्वयं मानव अपने पापों के लिए उत्तरदायी होता है और जो पाप करेगा उसे अवश्य उसके कुकर्म के लिये दु:ख झेलना पड़ेगा, क्योंकि ईश्वर न्यायी है, क्रोध करने में धीमा और करुणा करने के लिये सतत् रहता है। इसलिये करुणामय ईश्वर पापी से नहीं, वरन् उसके पाप से घृणा रखता है, क्योंकि ईश्वर पवित्र महान् है।

1.9 मरणोत्तर जीवन और अमरता

यहूदी धर्म में मरणोत्तर जीवन में लोगों का विश्वास है, पर इसके विषय में उनके विचार स्पष्ट नहीं हैं। एक बात अधिकांश यहूदी मानते हैं कि एक दिन न्याय-दिवस अवश्य होगा जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को उसके किये हुए काम के अनुसार, जजा-सजा, पुरस्कार और दंड मिलेगा। ईश्वर के आज्ञाकारियों को ईश्वर की सहभागिता और उसके प्रकाश में रहने का अवसर मिलेगा। पर यह जीवन आध्यात्मिक ही होगा जिसमें न भूख-प्यास, न विवाह इत्यादि रहेगा। यह शुद्ध पवित्रात्माओं का जीवन स्वर्गिक दूतों के समान होगा।

पर न्याय-दिवस अभी तक नहीं आया है। इस स्थिति में मृत आत्मायें कहां रहती हैं? कुछ यहूदी समझते थे कि ये आत्मायें शीयोल में दुर्बल, क्षीण और निस्सहाय रहती हैं, क्योंकि इसी पार्थिव जीवन में मानव को अवसर मिलता है कि वह अच्छा-बुरा करे। इसके बाद मानव में ईश्वर की स्तुति करने की भी क्षमता नहीं होती। इस शीयोल-वास के विपरीत अनेक यहूदी यह भी मानते थे कि ईश्वर ने पुतला बनाकर उसमें अपनी श्वास छोड़ दिया और मृत्युकाल में ये आत्मायें पुन: ईश्वर के पास वापस चली जाती हैं। तब न्यायदिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायगी और सब मृत आत्मायें फिर से जीवित की जायँगी और तब उनके कर्मों के अनुसार न्याय-दिवस पर उन्हें चाहे अमर स्वर्गिक जीवन या नारकीय आवास प्राप्त होगा। एक तीसरा विचार भी यहूदियों के अंदर देखा जाता है। जब यहूदी बाबिल के निर्वासन से लौट आये तो इसके बाद दु:ख भोगना पड़ा। यरूशलेम के मंदिर को फिर विनष्ट कर दिया गया और यहूदियों को अपने देश को छोड़कर अन्य देशों में तितर-बितर होना पड़ा। ऐसी स्थिति में, विशेषकर यशायह नबी (लगभग ई. पू. 750-700) के लेखों से आशा जगी कि मसीह आयेगा और दाऊद के सिंहासन पर फिर से विराजमान होगा। मसीह आकर इस संसार पर राज्य करेगा और समस्त मानव जाति का उद्धार करेगा। इस मसीही राज्य में न पाप होगा और न शोक। इसी शांति-संदेश के आधार पर साम्यवादी शोषणविहीन राज्य की कल्पना करते हैं जिसमें प्रत्येक अपनी शक्तिभर श्रम करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार सभी सामग्रियों का उपभोग करेगा। अत: यहूदी किसी न किसी प्रकार के मरणोत्तर जीवन में विश्वास रखते हैं और प्राय: सभी समझते हैं कि न्यायदिवस भी अवश्य आयेगा जहाँ व्यक्ति अपने कर्मों के अनुसार चाहे अनंत जीवन या अनंत दु:खभोग का भागी होगा।

1.10 अहिंसा एवं शांति विचार

यहूदी परम्परा में प्रतिपादित अहिंसा एवं शांति विषयक विचारों को मूसा के दस आदेशों व अन्य निम्न सन्दर्भों में प्राप्त किया जा सकता है :-

1.11 दस आज्ञाएं

1. मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ जो तुम्हें बन्धन के घरों से निकालकर मिश्र देश के बाहर लाया हूँ। तुम मेरे अतिरिक्त कोई अन्य देवता नहीं मानोगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. तुम स्वर्ग, पृथ्वी अथवा जल में किसी भी देवता की आराधना नहीं करोगे क्योंकि मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ जो कि अपने मानने वाले हजारों और अपने उपदेशों के अनुयायियों की ओर सतत प्रेम दिखलाता हूँ।
3. तुम घमण्ड से अपने देवता के नाम नहीं लोगे क्योंकि देवता उसको माफ नहीं करेगा जो कि उसका नाम घमण्ड से लेता है।
4. सेबेथ के दिन को याद रखो और उसे पवित्र मानो। तुम छः दिन श्रम करोगे और अपने सब काम करोगे, परन्तु सातवां दिन तुम्हारे ईश्वर के प्रति सेबेथ का दिन है, उसमें तुम काम नहीं करोगे। तुम, तुम्हारा पुत्र, तुम्हारी पुत्री, तुम्हारा नौकर अथवा तुम्हारी नौकरानी, तुम्हारे पशु, अथवा तुम्हारे फाटकों के अन्दर रहने वाले अन्य लोग सेबेथ के दिन काम नहीं करेंगे क्योंकि ईश्वर ने छः दिनों में स्वर्ग और पृथ्वी, सागर तथा अन्य सब कुछ की रचना की थी और सातवें दिन आराम किया था, इसलिए ईश्वर ने सेबेथ दिन को आशीर्वाद दिया है और उसे प्रकाशित किया है।
5. अपने पिता और अपनी माता का आदर करो ताकि उस देश में तुम्हारे दिन लम्बे हों जो तुम्हारे देवता ईश्वर ने तुम्हें दिया है।
6. तुम हत्या नहीं करोगे।
7. तुम व्यभिचार नहीं करोगे।
8. तुम चोरी नहीं करोगे।
9. तुम अपने पड़ौसी के खिलाफ झूठी गवाही नहीं दोगे।
10. तुम अपने पड़ौसी के मकान, उसकी पत्नी, उसके नौकर, उसकी नौकरानी, उसका बैल उसका गधा, अथवा कोई भी चीज जो तुम्हारे पड़ौसी के पास हैं उसको लेना नहीं चाहोगे।

उपरोक्त दस उपदेश यहूदी धर्म के मूल सिद्धान्त हैं। हजरत मूसा ने कहा था कि इजराईल ईश्वर द्वारा चुनी हुई विशेष प्रजाति है और जब तक यहां के लोग ईश्वर के आदेशों का पालन करते हैं तब तक उसे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। इजराइल की महानता उसके अपने गुणों के कारण नहीं बल्कि दैवी चुनाव के कारण है। ईश्वर ने उसे अन्य राष्ट्रों को प्रकाश देने के लिये चुना है। यहूदी धर्म-ग्रन्थों में प्राप्त अहिंसा, शांति, प्रेम आदि सद्‌गुणों के सन्दर्भ में अन्य आदेशों का उल्लेख निम्न है :-

1.11.1 प्रेम, दया, दान, सत्कर्म

''अपने मन में किसी के प्रति वैरका, दुश्मनीका भाव मत रख।''

''कोई परदेशी तेरे संग रहे, तो उसे दुःख न देना। साथ में जो परदेशी रहे, उसे देशी के समान ही मानना। उससे अपने ही समान प्रेम करना।''

''यदि मनुष्य आपसमें मारपीट करके किसी गार्भिणी स्त्री को ऐसी चोट पहुँचाये कि उसका गर्भ गिर जाय, परन्तु और कुछ हानि न हो, तो मारने वाले से उतना दण्ड लिया जाय, जितना उस स्त्री का पति पंच की सम्मत्ति से ठहराये।''

''परन्तु यदि उसे और कुछ हानि पहुँचे, तो प्राण की सन्ती प्राण का, आंख की सन्ती आँख का, दाँत की सन्ती दाँत का, हाथ की सन्ती हाथ का, पाँव की सन्ती पाँव का, दाग की सन्ती दाग का, घाव की सन्ती घाव का और मार की सन्ती मार का दण्ड हो।''

1.11.2 दान : दया : सत्कर्म

''हर एक आदमी को दान देना चाहिए। जो आदमी खुद दूसरों के दान पर होता हो, उसे भी चाहिए कि वह उन लोगों को दान दे, जिनकी हालत उससे भी बुरी है।''

''गरीबों की मदद करो। उन्हें ऐसे साधन दो, जिनसे उनकी रोजी चल सके, जीविका चल सके।''

''गरीबों को दान देते समय मीठे शब्द बोलो। दान दी जाने वाली वस्तु से भी मीठे शब्दों का मूल्य अधिक है।''

''तुम्हें पता चले कि तुम्हारा कोई कर्जदार इस हालत में है कि वह कर्ज ली गयी रकम लौटा नहीं सकता, तो उससे मिलना टाल दो, जिससे वह पशोपेश में न पड़े।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''अपना कर्ज न चुकाकर या अपने नौकरों को भरभूर मजदूरी न देकर दान देना गलत है।''

''अनुचित काम करने के लिए अथवा अपने निजी स्वार्थ या सुख-सुविधा के लिए दान देना गलत है।''

''सबको यह महसूस करना चाहिए कि दूसरे जीवों को कष्ट न हो।''

''अपने पशुओं को जब तक चारा न खिला लो, तब तक खुद खाना न खाओ।''

''किसी भी पशु-पक्षी को खरीदने के पहले यह देख लो कि उसे खिलाने के लिए तुम्हारे पास काफी चारा-दाना है या नहीं।''

''यदि वृक्ष या भूमि पर तेरे सामने रास्ते में किसी चिड़िया का घोंसला मिले, चाहे उसमें बच्चे हों चाहे अण्डे, और उन बच्चों या अण्डों पर उनकी माँ बैठी हो, तो बच्चों समेत माँ को मत लेना।''

''यदि तेरे शत्रु का बैल या गदहा भटकता हुआ तुझे मिले, तो उसे अवश्य उसके पास लौटा आना।''

''यदि तू अपने वैरी के गदहे को बोझ के मारे दबा हुआ देखे, तो चाहे उसे उस स्वामी के कारण छुड़ाने को तेरा मन न चाहे तो भी उसे अवश्य छुड़ा लेना।''

जिसका माल हो, उसे लोटा दे।

तू अपने भाई के गाय-बैल या भेड़-बकरी को भटकी हुई देखकर अनदेखी न करना। उसे अवश्य उसके पास पहुँचा देना। यदि वह दूर हो, तो वह जब ढूंढ़ने आये, तब उसे दे देना। किसी का गदह हो या कपड़ा, खोयी हुई कोई भी चीज क्यों न हो, उसके बारे में ऐसा ही करना। तुझे मिले, तो देखी-अनदेखी न करके उसे वापस लौटा देना। किसी के चौपाये को, गाय, बैल, गदहे को, राह में गिरा देखना तो देखी अनदेखी न करना। उसे उठाने में अवश्य उसकी मदद करना।

दांवते समय चलते हुए बैल का मुँह न बाँध।

1.11.3 सत्कर्म करो

''सत्कर्म करने की, सभी मनुष्यों, सभी प्राणियों पर दया करना उचित है।''

''बीमारों के पास जाओ। उनकी सेवा करो। उनसे मीठा बोलो। उनके प्रति अच्छा व्यवहार करो।''

''गरीब लड़की को विवाह के मौक पर उपयोगी उपहार भेंट करो।''

''मृतकों का आदर करो। उनके रिश्तेदारों से सहानुभूति प्रकट करो।''

''हर आदमी का प्रसन्नता से स्वागत करो।''

सबके साथ अच्छा व्यवहार तो करो ही, जो आदमी गलत रास्ते-पर जा रहा हो, उसे सदाचार के सही रास्ते पर लाने की कोशिश भी करो।

1.11.4 पवित्र विचार रखो

''तुम अपने-आपको पवित्र करो और पवित्र बने रहो, क्योंकि मैं तुम्हारा पवित्र करने वाला परमेश्वर यहोवा हूँ।''

''एक-दूसरे पर न तो अंधेर करना, न एक-दूसरे को लूट लेना।''

''मजदूर की मजदूरी तेरे पास दूसरे दिन सबेरे तक न रहने पाये।''

''पके बाल वाले के सामने उठ खड़े होना। बूढ़ों का, बुजुर्गों का आदर-मान करना और परमेश्वर का भय निरन्तर मानना।''

''बहरे को शाप न देना। अन्धे के आगे ठोकर लगने का सामान मत रखना। अपने परमेश्वर का भय मानना।''

''न तो परायी स्त्री के साथ व्यभिचार कर और न अपनी किसी नजदीकी रिश्तेदार के साथ ऐसा घिनौना काम कर''।

''पवित्र रहो। संयम का पालन करो। तुम्हारे सारे काम तो पवित्र हों ही, तुम्हारे विचार भी पवित्र हों। बुरे विचार यदि रोके न गये, तो उनका परिणाम बुरे कामों से भी बुरा हो सकता है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''प्रभु के जितने भी आदेश हैं, उनमें इस बात पर जोर दिया गया है कि प्रभु से सदा डरते रहो। प्रभु से डरो- इससे तुम बुरे कामों से बचोगे। पर इतना ही काफी नहीं। प्रभु से प्रेम भी करो। अपने सारे कर्म प्रभु को अपर्ण कर दो। प्रभु सेवा में, मानव की सेवा में अपने को बलिदान करो। आत्मदमन करो। संयम करो।''

''झूठी बात न फैलाना। अन्याय भरी गवाही देकर दुष्ट का साथ न देना। बुराई करने के लिए न तो बहुतों के पीछे हो लेना और न उनके पीछे चलकर मुकदमे में न्याय बिगाड़ने को गवाही देना।''

''झूठे मुकदमे से दूर रहना। निर्दोष और धर्मात्मा आदमी को मत सताना।''

''अपनी थैली में भाँति-भाँति के घटती-बढ़ती बटखरे न रखना। अपने घर में भाँति-भाँति के, घटती-बढ़ती नपुए न रखना। तेरे बटखरे और नपुए पूरे-पूरे और धर्म के हों।''

''ऐसे कामों में जो लोग कुटिलता बरतते हैं, वे सब परमेश्वर यहोवा की दृष्टि में घृणित हैं।''

''न्याय में, परिमाण में, तौल में और नाप में कुटिलता न करना। सच्चा तराजु, धर्म के बटखरे, सच्चा नपुआ और धर्म की तौल तुम्हारे पास रहे।''

''तुम न तो चोरी करना, न एक-दूसरे से कपट करना और न झूठ बोलना।''

''व्यापार में, दूकानदारी में सदा ईमानदारी बरतो। न दूकानदार धोखा दे, न ग्राहक। दूकानदार न तो किसी चीज भाव बढ़ाकर ले और न कम तौले। ग्राहक को ठगने के लिए चीज का रूप न बदले। उसी तरह ग्राहक को दूकानदार की असुविधा का या उसकी नासमझी का फायदा नहीं उठाना चाहिए।''

''जो मजदूर या नौकर काम में ढिलाई करता है, पूरा काम नहीं करता, समय की पाबन्दी नहीं करता, वह साथियों के प्रति भी पाप करता है, ईश्वर के प्रति भी।''

''मजदूर को पूरी मजदूरी देनी चाहिए। उसकी बेबसी का फायदा नहीं उठाना चाहिए। मजदूर को कम से कम इतनी मजदूरी तो देनी हो चाहिए, जिससे वह अपने रहन-सहन के स्तर को कायम रख सके।''

''घूस मत लेना, क्योंकि घूस देखने वालों को अंघा कर देती है और धर्मात्माओं की बातें पलट देती है।''

''दास को मुक्त करो''

''तुम यदि कोई दास मोल लो, तो वह 6 वर्ष तक सेवा करे। सातवें वर्ष वह स्वतन्त्र होकर सेंतमेंत चला जाय। यदि वह अकेला आया हो तो अकेला ही जाय, पत्नी के साथ आया हो तो पत्नी साथ जाय। जब तू अपने दास को स्वतन्त्र करे, तब उसे खाली हाथ न जाने देना। अपनी भेड़-बकरियों, खलिहान और दाखमधु के कुंड में से उसे बहुतायत के साथ देना। तेरे परमेश्वर यहोवा ने तुझ पर जैसी कृपा की हो, जैसी आशीष दी हो, उसी के अनुसार उसे देना।

1.11.5 वाणी के दोष छोड़ो

''ओनाथ देबारिम' कहते हैं वाणी दोषों की मनाही है। किसे क्या कहकर पुकारना चाहिए, इस बात का पक्का पता हुए बिना किसी नाम से पुकारना दोष है।''

''सच बोलो। मन में जिसके लिए 'हाँ' हो, उसे 'हाँ' कहो। 'ना' हो, तो 'ना' कहो।''

''सत्य पर पर्दा डालना, किसी के विश्वास का गलत फायदा उठाना, इसकी भी मनाही है।

''हम जानते हैं कि फलां आदमी हमारा न्योता स्वीकार नहीं करेगा, फिर भी हम उससे कहते हैं कि आप हमारे यहाँ भोजन के लिए अवश्य पधारिये।''

''हमें किसी मामूली काम के लिए पैसा चाहिए, पर हम यह कहकर उधार माँगते हैं कि हमारे पास खाने को नहीं है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.11.6 किसी से घृणा न करो

''जो आदमी किसी आदमी से घृणा करता है, वह सृष्टि रचने वाले परमेश्वर से घृणा करता है। किसी भी आदमी से घृणा नहीं करनी चाहिए, फिर वह चाहे कोई क्यों न हो।''

''यदि तुम्हारा शत्रु तुम्हें मारने आये और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे तो उसे खाना दो, पानी दो।''

''हम देखें कि कोई आदमी संकट में है, डूब रहा है, उस पर डाकू या शेर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें। यदि ऐसा न कर सकें, तो हमें अपने पैसे से उसका बचाव का प्रबन्ध करना चाहिए।''

1.11.7 ईश्वरीय गुण अपनाओ

''ईश्वर ने मनुष्य को अपना भागीदार बनाया है, ताकि वह उसकी सृष्टि के उद्देश्य को पूरा कर सके।''

''प्रभु दयालु है। इसलिए तू भी दयालू बन।''

''प्रभु उदार है। इसलिए तू भी उदार बन।''

''प्रभु सत्य और न्यायी है। इसलिए तू भी सत्यशील और न्यायी बन।''

''मनुष्य है जमीन और आसमान के बीच की कड़ी। मरणशील शरीर और दैवी आत्मा का सम्मेलन। मृत्यु अवसर पर शरीर धरती पर पड़ा रह जायगा। आत्मा ईश्वर के पास लौट जायगी।''

1.11.8 हिंसा न करो

''दुष्ट कहा जायगा वह आदमी, जो किसी भाई के खिलाफ हाथ उठाया है, फिर वह भले ही उसे मारे नहीं। किसी भाई की रोजी पर हमला न करो। गलत होड़ करके किसी का ग्राहक न छीनो। ऐसा करना उतना ही बुरा है, जितना चोरी करना और डाका डालना। किसी आदमी के आत्मसम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप हैं, जितना उसका खून कर देना।''

निष्कर्षत : यहूदी परम्परा मानवीय प्रेम पर गहन प्रकाश डालती प्रतीत होती है। बन्धुत्व की भावना का गहरा विवेचन करते हुए उल्लेख आया है कि बन्धुत्व का प्रेम जाति एवं धर्म की सीमाओं से ऊपर है, इसलिए अपने पड़ोसी को प्यार करो, उसके प्रति मन में घृणा का भाव मत रखो, न प्रतिकार का विचार मन में लाओ और न उससे ईर्ष्या ही करो। जब भाईचारे का भाव मन में स्थापित हो जाता है तो सहज ही घृणा का भाव दूर हो जाता है। सभी लोग एक ही पिता के पुत्र हैं ऐसा समझकर सबसे प्यार करो। पड़ोसी से प्यार करना ही सबसे बड़ा न्याय है और पड़ोसियों या साथियों से घृणा करना ईश्वर से घृणा करना है। अतएव, यदि तुम्हारा भाई- पड़ोसी निर्धन है, पतन की अवस्था में है तो उसे गरीबी से मुक्त करो, यदि वह कोई आगन्तुक या प्रवासी ही है तो क्या, वह तुम्हारे साथ रह सकता है। तुम अपने पड़ोसियों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम स्वयं अपने प्रति चाहते हो। उनके साथ वाचिक रूप से भी गलत व्यवहार न करो। अपने संगी-साथियों की किसी भी प्रकार की सेवा करना सुकर्म या सुकृति है।

इस प्रकार यहूदी धर्म ने मानवता के प्रति सम्मान, ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति आदि को ईश्वर के प्रति प्रेम या विश्वास के परिचायकों में स्थान दिया है। क्योंकि ये सब सदाचार हैं। इसके विपरीत क्रोध, विलास, गरीब, कमजोर, विधवा स्त्री एवं अनाथ बच्चों को सताना, व्यापार में बेईमानी, लाभ के लिए नीच आचरण को अपनाना, कर्जदारों के प्रति रुष्टता प्रदर्शित करना आदि दुराचार है। यहाँ तक कि दया और प्रेम को इसमें ईश्वर का ही रूप माना गया है। यहूदी परम्परा का अहिंसा-सिद्धान्त अपने विधेयात्मक रूप में प्रेम और दया को प्रधानता देता है। कारण, यहूदी लोग मिस्र के द्वारा पराजित होने के बाद से स्वतन्त्रता के पहले तक गरीबी का जीवन व्यतीत करते रहे और आपस के संगठन के आधार पर ही मूसा ने उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान की। इसी वजह से दया और प्रेम (संगठन) को कायम रखना उनके लिए अनिवार्य भी था।

1.12 सारांश

यहूदी धर्म के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विश्व के अन्य धर्मो के समान इसमें भी मानव प्रेम, सदाचार तथा सहिष्णुता आदि मानवीय गुणों पर बल दिया गया है। इनका यह सिद्धान्त कि मानव को ईश्वर ने अपनी प्रतिमा में बनाया है और जगत भोगने के लिये भेंट किया है, समस्त मानव प्राणियों को पृथ्वी पर मिल-जुलकर रहने और और आनन्दपूर्वक जीवन बिताने का संदेश देता है। यहूदी धर्म ने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संसार को अनेक महापुरूष प्रदान किये हैं। यद्यपि आज विश्व में इनकी संख्या बहुत कम है किन्तु दुनिया के धर्म के नक्शे पर आज भी इनका एक विशिष्ट स्थान है।

1.13 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. हज़रत मूसा ईसा से कितने पहले पैदा हुए थे।
   (अ) 1500 वर्ष पहले (ब) 2000 वर्ष पहले (स) 1000 वर्ष पहले
2. प्राचीन धर्म-ग्रन्थ के कितने विभाग हैं?
   (अ) पांच (ब) सात (स) ग्यारह
3. यहूदी धर्म में कितनी आज्ञाएं मानी गई हैं?
   (अ) 10 (ब)12 (स) 21
4. यहूदी परम्परा किस पर प्रकाश डालती प्रतीत होती है।
   (अ) मानवीय प्रेम (ब) सांसारिक प्रेम (स) भौतिक प्रेम
5. यहूदी परम्परा में किस की मान्यता है?
   (अ) ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया है।
   (ब) मानव ईश्वर का दास है।
   (स) मानव स्वयं पैदा हुआ।

(ब) लघु निबन्धात्मक प्रश्न

1. हज़रत मूसा के जीवन-चरित्र का संक्षेप में वर्णन करें।
2. यहूदी धर्म साहित्य का परिचय दें।
3. यहूदी धर्म में वर्णित अहिंसा शान्ति विचारों का परिचय दें।
4. यहूदी धर्म में ईश्वर - विचार का वर्णन करें।

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. यहूदी धर्म-दार्शनिक परम्परा का परिचय देते हुए हज़रत मूसा के जीवन-वृत का वर्णन करें॥
2. यहूदी परम्परा में वर्णित दार्शनिक एवं नैतिक विचारों को प्रस्तुत करे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई - 2

ईसाई - धर्म-ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति

संरचना

2.0 प्रस्तावना

2.1 उद्देश्य

2.2 परिचय

2.3 ईसाई परम्परा

2.4 ईसा मसीह का जीवन चरित्र

2.5 ईश्वर विचार

2.6 मानव विचार

2.7 अशुभ विचार

2.8 नीति विचार

2.9 जीसस के उपदेश

2.10 ईसाई धर्म की सामाजिक भूमिका

2.11 सारांश

2.12 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

ईसाई धर्म की गणना विश्व के महानतम धर्मों में की जाती है। इस धर्म के अनुयायी विश्वभर में फैले हुए हैं। ईसाई धर्म के प्रवर्तक ईसा ने विश्व भर में अहिंसा, प्रेम एवं सेवा का संदेश प्रसारित किया।

2.1 उद्देश्य

गैर भारतीय धर्म-दार्शनिक परम्परा के अन्तर्गत अहिंसा एवं शान्ति के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाएगा।

2.2 परिचय

ईसाई-परम्परा के जन्मदाता महात्मा ईसा मसीह थे, जिनके नाम से ईस्वी सन् प्रचलित है। उनका आविर्भाव आज से प्राय: 1971 वर्ष पूर्व गैलिली के नाजरेथ शहर में हुआ था। उनकी माता का नाम मेरी और प्रतिपालक पिता का नाम जौसेफ था। जीवन के प्रारम्भ में महात्मा मसीह ने, जिनका घरेलू नाम जीसस था, अपने वंशगत व्यवस्था बढ़ईगिरी की ओर हाथ बढ़ाया, किन्तु बाद में पैलेस्टाइन के एक प्रसिद्ध संस्कार प्रतिपादक जॉन के विचारों से प्रभावित होकर धार्मिक एवं दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। उनकी मातृभाषा हेब्रु मिश्रित सिरियन थी, जिसमें मौखिक रूप से ही उन्होंने अपना उपदेश दिया। फिर भी उनके उपदेशों की जानकारी के ये पाँच स्रोत हैं-

1. गॉसपेल्स तथा नवीन टेस्टामेंट (Gospals and the New Testament)
2. एपोक्राइफा (Apocrypha)
3. फिलो की कृतियाँ (Works of Philo)
4. एनॉक का ग्रन्थ (Book of Enoch)
5. डेनियल का ग्रन्थ (Book of Doniel)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.3 ईसामसीह का जीवन चरित्र

ईसा के जन्म से पूर्व यहूदी लोग यह विश्वास करते थे कि शीघ्र ही यहोवा ईश्वर किसी पैगम्बर को भेजेगा जो कि उनके शत्रुओं को हराकर उनको स्थाई रूप से न्याय और शांति दिलायेगा तथा उन्हें सब प्रकार के कष्टों से छुटकारा दिलाएगा। वह मसीह होगा। आगस्टस सीजर के राज्य में यहूदियों की मसीह के अवतार की आशा अत्यन्त बलवती हो गई क्योंकि जनता को बड़ा कष्ट था। जनता में अधिकतर लोग एक तीस पृष्ठों की पुस्तक पढ़ते थे और उसके विषय में वाद-विवाद करते थे। इस पुस्तक में डैनियल ने अपने विभिन्न स्वप्न दिये थे। इनमें से एक स्वप्न यह भी था कि एक फरिश्ते ने उससे कहा कि डेविड के घर में ईश्वर के पुत्र का जन्म होगा जो कि पृथ्वी पर स्वर्ग का राज्य स्थापित करेगा। परन्तु डैनियल की पुस्तक यह नहीं बतलाती थी कि ऐसा कब होगा। उसमें केवल इतना ही कहा गया था कि ऐसा तब होगा जबकि कष्ट बहुत अधिक बढ़ जायेंगे। रोमन शासन में यहूदियों को बहुत अधिक कष्ट था जिससे उनको यह आशा बन्ध गयी थी कि मसीह का अवतार शीघ्र ही होने वाला है। कुछ लोगों को तो इतना अधिक विश्वास हो चला था कि वे अपनी घन, सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र आदि को छोड़कर उपवास और उपासना में लग गये थे। बाजारों में, घरों में और पूजा गृहों में सब कहीं मसीह के अवतार की चर्चा थी। बूढ़े और जवान निर्धन और धनी, अशिक्षित और विद्वान सभी मसीह के आने की ही बात करते थे। कुछ उसे ईश्वर का पुत्र कहते थे, कुछ उसे मनुष्य का पुत्र कहते थे और कुछ उसे डेविड का पुत्र कहते थे। सब कहीं यह चर्चा थी कि मसीह किस तरह का होगा, क्या यह स्त्री के गर्भ से जन्म लेगा या पैगम्बर ऐलिजा के समान अग्नि रथ पर चढ़ कर स्वर्ग से आएगा। लोग उसको कैसे पहचानेगे, वह पूर्व से आएगा या पश्चिम से? उत्तर से आएगा या दक्षिण से? वह भूमि पर चलेगा या बादलों से उतरेगा? इस प्रकार जनता में मसीह के विषय में 'कहाँ' और 'कैसे' के प्रश्न को लेकर विवाद था, परन्तु यह सभी मानते थे कि मसीह का अवतार अत्यन्त निकट है।

इस समय जूडिया का राजा हेरोद महान था हेरोद बहुत दुष्ट शासक था। यद्यपि उसका व्यक्तिगत जीवन बहुत सुखी नहीं था, परन्तु वह अनन्तकाल तक जुडिया पर शासन करना चाहता था। अस्तु वह मसीह के अवतार की बात से सबसे अधिक क्रोधित होता था क्योंकि लोग यह कहते थे कि डेविड का पुत्र मसीह ही यहूदियों का राजा बनेगा। जब हेरोद 70 वर्ष का था, तब एक दिन उसके गुप्तचरों ने उसे यह खबर दी कि फारस से तीन बुद्धिमान व्यक्ति यरूसलेम में खजानों से लदे हुए आये हैं और सब जगह पूछते फिरते हैं कि ''बतलाओ वह कौन सा बालक है जो यहूदियों का राजा बनेगा, हम उसकी पूजा करना चाहते हैं।'' राजा ने तुरन्त मेजाई कहलाने वाले इन तीन व्यक्तियों को बुला भेजा। उसने उनसे पूछा ''तुम्हारे पास इस बात का क्या चिन्ह है कि डेविड का पुत्र यहूदियों का राजा जन्म ले चुका है?'' उन्होंने जवाब दिया कि ''हमने पूर्व में एक सितारा उगता हुआ देखा और वह हमारे सामने चलता रहा जब तक कि हम उसका पीछा करते हुये यहाँ तक न पहुँच गये।'' दुष्ट राजा ने कुछ देर विचार किया और फिर उन से कहा ''जाओ और उस बालक की तलाश करो जो यहूदियों का राजा होने के लिये पैदा हुआ है और जब तुम उसको पा जाओ तो मेरे पास समाचार लाओ कि वह कहाँ है ताकि मैं भी जाऊँ और उसकी पूजा कर सकूँ।'' तीनों बुद्धिमान व्यक्ति उस सितारे के पीछे चलते रहे जो कि उन्होंने पूर्व में देखा था।

सितारा उनके आगे चलता रहा और वे उसके पीछे चलते रहे। इस तरह तरह वे यरूसलेम को छोड़कर बैथलेहम पहुँचे। सितारा एक मकान के ऊपर रुक गया जिसमें कि जोसेफ बढ़ई अपनी पत्नी मेरी और नवजात शिशु यीशु के साथ रहता था। तीनों बुद्धिमान व्यक्ति घर में घुसे और माँ की गोद में शिशु के सामने घुटने टेक कर बैठ गये। उन्होंने समस्त खजाने मेरी के चरणों में डाल दिये। फिर वे बैथलेहम से चल दिये। परन्तु वे लौट कर जरुसलेम नहीं गए क्योंकि वे जानते थे कि हेरोद बालक का पता लगाकर उसकी पूजा नहीं करना चाहता बल्कि उसे हानि पहुंचाना चाहता है। उस रात को जोसेफ बढ़ई ने यह स्वप्न देखा कि हेरोद ने उनके पुत्र यीशु को मारने के लिये अपने आदमी बैथलेहम भेजे हैं। इस स्वप्न से जोसेफ इतना अधिक भयभीत हो गया कि वह दूसरे ही दिन अपनी स्त्री और पुत्र को लेकर इजराईल छोड़कर मिस्र भाग गया। इस बीच हेरोद ने मेजाईयों के लौटने की प्रतिक्षा की और जब वे नहीं लौटे तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा। उसने मसीह के अवतार बालक को मारने के लिये सोचना शुरू किया और क्योंकि उसे यह पता नहीं था कि बैथलेहम का कौन सा बालक मसीह है, इसलिये उसने यह आज्ञा दी कि दो वर्ष या उससे कम आयु के शहर के सारे लड़के मार डाले जायें।

कुछ समय के पश्चात् हेरोद मर गया और जब उसकी मृत्यु का समाचार मिस्र पहुँचा तो जोसेफ अपने परिवार सहित अपने देश लौट आया और गलीली के प्रान्त में नजेरथ के शहर में बस गया। यह शहर मुख्य राजमार्गों से दूर चारों ओर पहाड़ियों से घिरा हुआ घाटी में था। यहाँ पर सफेद पत्थर बहुत मिलते थे। इसलिये यहाँ अधिकतर मकान सफेद पत्थर के बने हुए थे। इसी कारण नजेरथ 'सफेद शहर' कहलाता था। यह नगर यरुसलेम से 55 मील दूर था और क्योंकि उन दिनों गधे से अधिक तेज कोई सवारी न थी इसलिए यरुसलेम की चहल पहल नजरथ तक नहीं पहुंच सकती थी। इन दिनों अधिकतर धनिक लोग अपने बच्चों को शिक्षा पाने के लिये

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यरुसलेम भेजते थे। बढ़ई जोसेफ के पास इतना पैसा नहीं था। अस्तु, यह बढ़ई की दुकान में काम करते हुए ही यीशु को पवित्र उपदेशों का पाठ कराता रहता था और यीशु की माता मेरी उसको प्रात काल और संध्याकाल की प्रार्थनायें सिखाती थीं। छुट्टियों के दिन पूजा घरों और अन्य स्थानों पर यीशु बाइबिल सुनता था और इस तरह उसने यहूदियों के नैतिक नियमों के विषय में बहुत कुछ सीख लिया।

बचपन में यीशु एक सामान्य बालक था। यद्यपि बहुत से लोगों ने बालक यीशु के चमत्मकारों के विषय में बहुत से ग्रन्थ लिखे हैं। यह अवश्य है कि यीशु स्वप्नदृष्टा बालक था। वह चिन्तन में डूबा रहता था और जहाँ कहीं लोग बाइबिल पढ़ते रहते या उसके विषय में वादविवाद करते रहते तो वहां पहुंच जाता। उस पर इस उपेदश का बड़ा प्रभाव पड़ा था कि, तुम्हारे लिए जो घृणित है वह दूसरों के लिये मत करो। यही सम्पूर्ण पवित्र नियम है।'' यीशु को मैदानों में खेलने की जगह छोटी-छोटी कहानियों को सुनना अधिक पसन्द था और उसे सबसे अधिक पसन्द थी मसीह के आने की चर्चा जो वह सब कहीं सुनता था।

जब यीशु बारह वर्ष का हुआ तो उसे विधि की दीक्षा लेने के लिये यरुसलेम जाना पड़ा। उन दिनों यह प्रथा थी कि विधि संस्कार के लिये व्यक्ति यरुसलेम की यात्रा करते थे। इस प्रकार यीशु ने अपने जीवन में पहली बार नजेरथ को छोड़कर फिलिस्तीन की राजधानी यरुसलेम की यात्रा की, उसका पिता इतना निर्धन था कि वह यात्रा के लिये गधे का प्रबन्ध भी नहीं कर सकता था। अस्तु बालक यीशु को अपने माता-पिता के साथ 55 मील की पैदल यात्रा करके यरुसलेम पहुंचना पड़ा। मार्ग में अन्य देशों से आये हुए यात्री मिले और जैसे-जैसे ये लोग यरुसलेम के पास पहुंचते गये तीर्थ यात्रियों की भीड़ भी बढ़ती गयी यहाँ तक कि यहोवा के मन्दिर तक पहुंचते-पहुंचते स्त्री-पुरुष और बालकों का एक विशाल जन-समुदाय बन गया। यीशु ने अब तक अनेक बार इस 'ईश्वर के नगर' की सजधज की कल्पना की थी, अब उसने अपनी आँखों से पहली बार इस नगर को देखा। परन्तु जैसे ही वह नगर में दाखिल हुआ उसे लगा कि वह उस नगर से भिन्न है जो उसने अपने स्वप्नों में देखा था। यहाँ सब लोग विदेशी भाषायें बोल रहे थे, विदेशी वस्त्र पहने हुए थे, और भीड़ में चारों ओर रोमन सैनिक घूम रहे थे। मन्दिर पर पहुंचकर यीशु की निराशा का ठिकाना न रहा। उसने देखा कि जिस मन्दिर के लिये उसके हृदय में इतना अधिक सम्मान और विश्वास था, उसके चारों ओर भेड़ बकरियों और बैलों के समूह खड़े हुए हैं जो कि बलिदान के लिए बेचे जा रहे हैं। चारों ओर तीर्थयात्री पशु बेचने वालों से सौदबाजी कर रहे हैं और सिक्के बदलने वाले देश के विभिन्न भागों के सिक्कों को यरूसलेम के चांदी के सिक्के से बदल रहे हैं। मन्दिर पहुंचकर यीशु ने जो उपदेश सुने उनसे उसे और भी निराशा हुयी क्योंकि ये उपदेश सरल और सुलझी हुई भाषा में न थे बल्कि क्लिष्ट और लम्बे थे। फिलिस्तीन से लौटकर जब यीशु नजेरथ पहुंचा तो यरुसलेम के विषय में उसका स्वप्न भंग हो चुका था। वहाँ के दृश्य को देखकर उसे बड़ी निराशा और दु:ख हुआ था। अब वह और भी अधिक चिन्तन में डूब गया और मसीह के अवतार में और भी अधिक रुचि लेने लगा।

12 वर्ष की आयु से 30 वर्ष की आयु तक यीशु के जीवन के विषय में कोई विशेष बात पता नहीं लगती। इस बीच में जोसेफ की मृत्यु हो चुकी थी और यीशु तथा उसकी माता मेरी नजेरथ छोड़कर मेरी के जन्मस्थान काना आ बसे थे। यहाँ पर यीशु बढ़ई का काम करके अपने परिवार का पालन करता था। इन दिनों फिलिस्तीन में यह प्रथा थी कि पूजागृहों में होने वाले सत्संग में यदि कोई व्यक्ति दैवी नियमों के विषय में कुछ अनुभव करता तो वह उपस्थित जनसमूह के सामने अपनी व्याख्या बतलाता था। यीशु ने भी अनेक बार ऐसा किया। उसकी व्याख्यायें अन्य लोगों की व्याख्याओं से भिन्न थीं। वे सरल शब्दों में होती थीं और श्रोताओं के हृदय की छूती थीं, अत: धीरे-धीरे उसके बहुत से प्रशंसक हो गये और वे उसको अपना गुरु मानने लगे। क्रमश: बहुत से लोग काना के इस नवयुवक बढ़ई की शिक्षाओं पर विचार करने लगे।

इन दिनों जकरिया और एलिजाबेथ का पुत्र जॉन जोर्डन के किनारे उपदेश दिया करता था। उसके बहुत से शिष्य उसके चारों ओर एकत्रित रहते थे और कहा जाता है कि वह उनको मसीही अवतार का उपदेश देने से पहले नदी में नहलाता था जिससे कि वे पवित्र हो जायें। इस तरह वह बहते हुए पानी से बपतिस्मा देता था। अस्तु, वह बपतिस्मा देने वाला जॉन (John the Baptist) कहलाता था। धीरे-धीरे जॉन की कीर्ति काना तक पहुंची। उसे सुनकर यीशु अपनी दुकान छोड़कर जॉन से मिलने पहुंचा। जार्डन के किनारे यीशु ने बहुत से अनुयायियों के बीच जॉन का देखा जो कि लगभग 30 वर्ष की आयु का था। उसकी दाढ़ी बढ़ी थी और बाल बिखरे हुए थे। यीशु ने उनके उपदेश सुने और उसके बाद जॉन से बपतिस्मा देने की प्रार्थना की। जॉन ने एक दृष्टि में ही समझ लिया कि यीशु कोई साधारण अनुयायी नहीं था और उसने कहा ''मुझे तो स्वयं तुमसे बपतिस्मा लेने की जरूरत है और तुम मेरे पास आये हो।'' परन्तु यीशु के जिद करने पर जॉन ने उसको बपतिस्मा दिया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जॉन के उपदेशों में मसीही अवतार में अटल विश्वास था। जॉन को छोड़कर यीशु जूड़िया के रेगिस्तान में पहुंचा और मसीही अवतार के विषय में चिन्तन में डूब गया। 40 दिन तक रेगिस्तान में यीशु अपने मनन और चिन्तन में लगा रहा। रेगिस्तान से यीशु जब अपने घर पहुंचा तो उसके मस्तिष्क में मानव मात्र के भ्रातृत्व न्याय और शान्ति के विषय में बहुत से विचार थे। परन्तु वह गलीली में बहुत दिन नहीं ठहरा क्योंकि यरुसलेम की वार्षिक यात्रा का समय आ पहुंचा था। यीशु भी यरुसलेम के पवित्र नगर में मुख्य पूजाग्रह पहुंचा और जब उसने वहां के बलिदान, सौदेबाजी और शोरगुल के दृश्य को देखा तो उससे न रहा गया। उसके हृदय में तीव्र विद्रोह उठा और उसने एक पशु बेचने वाले के गिरे हुए कोड़े को उठाकर पूजागृह के आंगन से सारे पशुओं को बाहर हाँक दिया, सिक्के बदलने वालों की मेजें उल्ट दीं और उनके सिक्कों को इधर-उधर बिखेर दिया और जब लोग हल्के-बक्के से उसको देख रहे थे यीशु ने अपनी आवाज बुलन्द की, ''इन चीजों को ले जाओ। ईश्वर के घर को बाजार मत बनाओ।''

यरुसलेम के पवित्र पूजा स्थान में यीशु के द्वारा अधिकारियों और पुजारियों की अवहेलना करके सौदागरों को जबदस्ती बाहर निकाल दिये जाने से उसके बहुत से प्रशंसक और अनुयायी बन गये। दूसरी ओर पुजारी और धार्मिक नेता उसके घोर शत्रु बने गये। वार्षिक पर्व के बाद यीशु गलीली लौट आया और उसने नजेरथ और काना में अपने धर्म का उपदेश दिया। यहाँ से वह कैपरनाम पहुंचा जो कि गलीली झील के किनारे पर एक गाँव था। कैपरनाम में पीटर और एन्ड्रयू नाम के दो मद्दुवे उसके शिष्य बन गये और उसको मसीही अवतार मानने लगे। यीशु ने मद्दुओं को धर्म का उपदेश दिया। क्रमश: उसकी कीर्ति कैपरनाम के निकट के गाँवों और नगरों में फैलने लगी। उसकी कहानियाँ राज्य में चारों ओर फैल गईं और दूर-दूर से लोग मछुओं के उस गाँव में नजरथ के नवयुवक बढ़ई को देखने और सुनने आने लगे। एक बार जबकि कैपरनाम के निकट यीशु के उपदेशों को सुनने के लिये विशाल जनसमुदाय एकत्रित हो गया तो उसने वह प्रसिद्ध उपदेश दिया जो कि पहाड़ी पर उपदेश (Sermon on the Mount) कहलाता है। यह उपदेश यीशु के उपदेशों का सार है।

यीशु ने अपने शिष्यों से में बारह को चुना और उनको मसीही अवतार का सन्देश फैलाने के लिये चारों ओर भेजा। इन्होंने चारों ओर जाकर यह समाचार फैलाया कि मसीह का अवतार हो चुका है और यह अवतार नजेरथ का यीशु है। इस सन्देश को सुनकर कैपरनाम में दूर-दूर से लोग यीशु का दर्शन के लिये एकत्रित होने लगे। वह जहाँ कहीं भी जाता, उसके पीछे शिष्यों का एक विशाल जन-समुदाय होता और बहुधा उसे भोजन करने तक ही फुर्सत नहीं मिलती थी।

इसी समय यीशु के पास जॉन की मृत्यु का समाचार पहुंचा। जॉन ने हैरोद के पुत्र हैरोद एन्टीपस के भ्रष्टाचार के विरुद्ध आवाज उठाई थी और इसलिये उसको मार डाला गया था। जॉन की मृत्यु का समाचार सुनकर यीशु ने जूडिया और यरुसलेम जाने का फैसला किया। वह जानता था कि इन स्थानों पर उसे प्राणों का खतरा है परन्तु जॉन के उदाहरण ने उसके सामने यह बात सिद्ध कर दी कि यदि शत्रु को हराना है तो उसके खेमे में जाकर उसे हराना चाहिये। यरुसलेम में यीशु के सबसे बडे शत्रु वहाँ के धार्मिक नेता थे जो कि यहूदियों के बेबीलोन जाने से पहले के धर्म को फिर से स्थापित करना चाहते थे। वे मूसा तथा अन्य पिछले पैगम्बर के विरुद्ध कोई भी बात सुनना पसन्द नहीं करते थे। अस्तु यरुसलेम के धार्मिक नेता उसके शत्रु बन गये। इन दिनों यरुसलेम में धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान पर कोई रोक-टोक नहीं थी जब तक कि रोमन सरकार के विरुद्ध विद्रोह या नास्तिकता की कोई बात न हो। यरुसलेम के पुजारियों ने यह कोशिश की कि किसी तरह यीशु के वचनों में राज विद्रोह या नास्तिकता की कोई बात सुनाई पड़े परन्तु उनके बहुत प्रयास करने के बाद भी ऐसा नहीं हुआ। अब यीशु ने खुल्लमखुल्ला जनता के सामने इन धार्मिक नेताओं की आलोचना की। तीन वर्ष पहले यीशु यहोवा के मन्दिर में अकेला आया था, अब उसके चारों ओर अनुयायियों की एक बहुत बड़ी भीड़ थी जो कि कीर्तन करते चल रहे थे। इन लोगों ने यरुसलेम के लोगों को बतलाया कि यीशु ही मसीही अवतार है।

जब यीशु मन्दिर में पहुंचा और उसने वहाँ पशु बेचने वाले और सिक्के बदलने वाले सौदागरों को देखा तो उसने फिर उन्हें मन्दिर के बाहर खदेड़ दिया। इस बात से पुजारियों में बड़ी खलबली मची और उसके अनुयायियों को देखकर उन्हें उसकी शक्ति का भय हुआ। इन पुजारियों और धार्मिक नेताओं ने गुप्त सभायें करके यह विचार किया कि यीशु को किस तरह रोका जा सकता है। दूसरी और यीशु को भी खतरे का आभास हुआ। जॉन के विद्रोह का परिणाम उसके सामने था। उसने कई बार अपने शिष्यों से कहा कि उसका अन्त निकट है परन्तु वे इस बात की खुशी मनाने में मग्न थे कि आने वाले पर्व पर ईसा अपने को मसीह घोषित करेगा। यरुसलेम में तीर्थ यात्रियों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। चारों ओर लोग आने वाले पर्व के उत्साह में प्रसन्न मुख घूम रहे थे परन्तु ईसा उदास था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर्व के पहले की रात को ईसा और उसके 12 मुख्य शिष्य ईसा के एक अनुयायी के घर में भोजन के लिये एकत्रित हुये। जब ईसा खाने की मेज पर बैठ गया तो उसने यह देखा कि उसके शिष्यों में उसके निकट बैठने के लिये प्रतिद्वन्द्विता थी। वह तुरन्त उठा और उसने एक बर्तन में पानी लिया और अपने शिष्यों के पैर धोये। शिष्यों को उसका यह काम देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और कुछ ने उसका विरोध किया। परन्तु ईसा ने कहा, ''तुमने आपस में सम्मानित स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयास किया है अब मैंने तुम्हारे सामने एक उदाहरण रखा है कि तुम वैसा ही करो जैसा कि मैंने किया है। याद रखो, सेवक अपने स्वामी से बड़ा नहीं है, न ही वह जो कि भेजा गया है उससे बड़ा है जिसने कि उसे भेजा है।'' यीशु के इन वाक्यों को सुनकर उसके शिष्य समझ गये और वे चुपचाप भोजन के लिये बैठ गये। जब वे चुपचाप बैठे थे तो एकाएक यीशु ने कहा, ''मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम में से एक मेरे साथ विश्वासघात करेगा।'' उसके इन वाक्यों से शिष्यों में सनसनी फैल गई। उन्होंने दु:ख से एक दूसरे की ओर देखा और यीशु से विश्वासघाती का नाम पूछा। यीशु ने केवल इतना कहा, ''वह मेरे साथ खाने वाले बारहों में से है।'' इससे सभी शिष्यों को बड़ा दु:ख हुआ। भोजन के बाद ईसा ने अपनी आंखों में कोमलता और प्रेम भरकर उन्हें अपना उपदेश दिया।

रात्रि में यीशु अपने शिष्यों के साथ गैथ्समैन के उद्यान में पहुंचा जहाँ पर कि वह बहुधा प्रार्थना और चिन्तन किया करता था। उसके शिष्यों में साईमन का पुत्र जूदास उपस्थित नहीं था। यीशु और उसके शिष्य रात्रि में बहुत देर से उद्यान में पहुँचे थे और अत्यधिक थक गये थे, शीघ्र ही वे सब सो गये। आधी रात को जूदास कुछ अधिकारियों और सैनिकों को लेकर बाग में पहुंचा जो कि लालटेनें, मशालें और हथियार लिये हुये थे। खटका सुनते ही यीशु उठकर सामने आया और उसने अधिकारियों से पूछा, ''आप किसको चाहते हैं'' उन्होंने उत्तर दिया ''हम नजेरथ का यीशु नामक व्यक्ति को चाहते है।'' यीशु ने कहा, ''वह मैं हूँ।'' सैनिकों ने उसे हथकड़ियाँ पहना दीं। शोर होने से उसके सोते हुये शिष्य जाग गये परन्तु सैनिकों और अधिकारियों को देखकर वे भाग खड़े हुये और उनका गुरु यीशु अकेले यरुसलेम के सर्वोच्च पुजारी के पास ले जाया गया।

यहाँ रात भर उसके विरुद्ध तरह-तरह के आरोप लगाए गये और उसका अपमान किया गया। अगले दिन उसे यरुसलेम के रोमन गवर्नर पोंटियस पायलेट के सामने उपस्थित किया गया। उसके विरुद्ध नास्तिकता का आरोप था। गवर्नर को यहूदियों के धार्मिक झगड़े में कोई रुचि नहीं थी। जब उसने देखा कि उसने कोई राजद्रोह नहीं किया तो वह उसे छोड़ देना चाहता था। परन्तु यीशु के शत्रुओं ने पायलेट को समझाया कि वह लोगों को भड़काता है। पायलेट ने यीशु को गलीली के गवर्नर हैरोद के पास भेज दिया। हैरोद ने यीशु के वापस पायलेट के पास भेज दिया।

अब पायलेट ने यीशु को नास्तिकता और अधार्मिकता फैलाने के अपराध में फांसी का दण्ड दिया। उन दिनों रोमन साम्राज्य में यह प्रथा थी कि रोमन गवर्नर की दावत के दिन के पहले किसी एक कैदी को माफी दी जाती थी। इस अवसर पर पाय लेट के सामने दो कैदी थे नजरथ का यीशु और बार अब्बास नाम का एक व्यक्ति जिस पर रोमन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह भड़काने का आरोप था। पायलेट के पूछने पर निर्णायक नेताओं ने बार अब्बास के लिये माफी की मांग की, उसे छोड़ दिया गया। अब सैनिकों के संरक्षण में यीशु और उसके साथ दो चोर जिनको क्रूस पर चढ़ाया जाना था अपने-अपने क्रूस अपने कन्धों पर लेकर चले। उन दिनों यह प्रथा थी कि दण्डित व्यक्ति स्वयं अपने क्रूस लेकर चलते थे जिन पर उन्हें लटकाया जाना था। यीशु का क्रूस विशेष रूप से भारी था क्योंकि उसको यरुसलेम के एक बढ़ई ने बार अब्बास के लिये बनाया था जिसके कारण उसके पुत्र की मृत्यु हो गई थी। यीशु का क्रूस इतना भारी था कि उसके बोझ के नीचे उसके पैर लड़खड़ाने लगे। रोमन सिपाहियों ने साइमन नाम के व्यक्ति को क्रूस ले जाने में यीशु की सहायता करने के लिये लगाया। इन दिनों फांसी की सजा पाए व्यक्ति के क्रूस पर उसका नाम और उसका अपराध लिख दिया जाता था। यीशु के कष्ट को कम करने के लिये जब यरुसलेम की स्त्रियों ने उसे एक विशेष पेय दिया तो उसने उसे पीने से इन्कार कर दिया और जब सिपाहियों और भीड़ ने उसका मजाक उड़ाया तो उसने केवल यह प्रार्थना की ''उन्हें माफ कर, हे ईश्वर! क्योंकि वे नहीं जानते कि वे क्या करते है?'' क्रूस पर टंगे हुए घण्टों बाद जब यीशु का कष्ट अत्यधिक बढ़ गया तब वह चिल्लाया, ''मेरे ईश्वर! मेरे ईश्वर! तूने मुझे क्यों भुला दिया है?'' फिर उसने मन्द स्वर से कहा, ''यह अन्त है.....'' उसने अपना सर झुका लिया और उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

ईसा की मृत्यु के बाद उसके अनुयायी संगठित हो गये और अपने को ईसाई कहने लगे। उन्होंने गुप्त रूप से सभायें करके ईसा के कार्य को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। उन्होंने चारों ओर ईसा के मसीह होने का समाचार फैलाया और उसके चमत्कारों के बारे में बहुत सी घटनायें लोगों को सुनायीं। वे आपस में एक दूसरे को भाई-भाई मानते, साथ-साथ खाते-पीने, रोगियों की और बेसहारा लोगों की सहायता करते तथा धनियों से दूर रहते थे और अपनी सम्पत्ति को सबकी सम्पत्ति समझकर उनको सेवा में लगाते थे। क्रमश: उनकी संख्या बढ़ती गयी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस समय यरुसलेम के पुजारियों ने 'पॉल' को ईसाई सम्प्रदाय को नष्ट करने के लिये बुलवाया। पॉल ने यरुसलेम आकर ईसाईयों पर बहुत से अत्याचार किये। जब उसे यह मालूम हुआ कि उनकी संख्या दमिश्क में बढ़ रही है तो वह यरुसलेम से दमिश्क की ओर चला। कहा जाता है कि मार्ग में उसका हृदय बदल गया और दमिश्क पहुँचकर उसने ईसाईयों पर अत्याचार करने के स्थान पर ईसा की शिक्षाओं को फैलाने का बीड़ा उठाया। 25 वर्ष तक वह नगर-नगर और देश-देश ईसा के धर्म का प्रचार करते हुये घूमता रहा। वह सीरिया, सीलशिया, मैसीडोनिया, क्रीट, सिसली, रोम और इटली पहुँचा और जहाँ कहीं पहुंचा, वहाँ उसने ईसा के मसीह अवतार का सन्देश सुनाया। उसने अपने श्रोताओं को यह विश्वास दिलाया कि वे उस बड़े भ्रातृ संघ के सदस्य हैं जो समस्त भूमण्डल को विजय करेगा। उसने स्थान-स्थान पर ईसा के नाम पर गिरजाघरों की स्थापना की। उसने भिन्न-भिन्न देशों में अपने अनुयायियों को पत्र भेजकर उन्हें धर्म का उपदेश दिया। जब पॉल रोम पहुँचा तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया और राजद्रोह के अपराध में उसे फाँसी दे दी गयी। परन्तु पॉल का कार्य पूरा हो चुका था। उसके ईसाई बनने के समय ईसाई धर्म बहुत दुर्बल था परन्तु उसकी मृत्यु के समय उसके संसार के महान धर्मों में गिने जाने की नींव पड़ चुकी थी।

पॉल की मृत्यु के बाद उसके शिष्यों ने ग्रीक और रोमन लोगों में ईसाई धर्म को फैलाया। पॉल के द्वारा स्थापित गिरजे के माध्यम से यहाँ ईसा के उपदेश फैलने लगे। इस प्रकार ईसा की मृत्यु के लगभग 100 वर्ष बाद उसके उपदेश एशिया, माइनर, सीरिया, मैसीडोनिया, ग्रीस, रोम और मिस्र में भी फैल चुके थे। ईसाई अपने को पृथ्वी पर अवतरित एक नवीन जाति मानते थे। वे रविवार के दिन गिरजाघर में एकत्रित होकर सामूहिक रूप से प्रार्थना करते और बाइबिल पढ़ते। वे बुद्धवार और शुक्रवार को उपवास रखते तथा नित्य ईश्वर की प्रार्थना करते थे।

पॉल की मृत्यु के 100 वर्ष बाद ईसाइयों का पवित्र उपदेश मिलाकर New Testament नाम की पुस्तक बना दी गयी जो कि यहूदियों के Old Testament के साथ मिलकर बाइबिल बनाती है। ईसाइयों में प्रत्येक मनुष्य अपने को मिश्नरी समझने लगा और उसने ईसा के उपदेश को सब ओर फैलाने का बीड़ा उठाया। 300 वर्षों तक रोमन सम्राटों ने ईसाइयों पर भंयकर अत्याचार किए परन्तु इन अत्याचारों से उनका संगठन और भी जड़ पकड़ता गया। 312 ई. रोमन सम्राट कोन्सटेनटाइन ईसाई बन गया और उसने ईसाइयत को राज्य धर्म घोषित किया। इसके बाद में ईसाइयों पर अत्याचार समाप्त हो गये। परन्तु दूसरी ओर विभिन्न देशों में उनमें आपस में बहुत से सम्प्रदाय बन गये जिनमें से प्रत्येक एक दूसरे से घृणा करने लगा। इससे भी उनकी संख्या बढ़ी क्योंकि प्रत्येक सम्प्रदाय एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये अपनी संख्या को बढ़ाने का प्रयास करने लगा। सातवीं शताब्दी में प्रारम्भ में ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो ईसाई धर्म विश्व धर्म बन जायेगा। परन्तु अरब में इस्लाम धर्म के प्रार्दुभाव से उसके एक जबर्दस्त प्रतिद्वन्द्वी का जन्म हुआ। फिर भी आज संसार में ईसाई धर्म के अनुयायियों की संख्या के समान संख्या संसार के किसी भी अन्य धर्म के अनुयायियों की नहीं है। ईसाई लोग संसार में सब कहीं पाये जाते हैं और योरुप, उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया में तो उन्हीं की संख्या प्रमुख है।

2.4 ईसाई धर्म में ईश्वर-विचार

1. यहूदी धर्म के समान ईसाई भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता समझते हैं, और समझते हैं कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है।
2. ईश्वर में इच्छा और सर्वशक्तिमत्ता है, पर वह शरीरी नहीं है। किसी न किसी रूप में ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है।
3. ईश्वर अपनी सृष्टि से दूर नहीं रहता, वरन् उसकी देखभाल करता रहता है।
4. ईश्वर चाहता है कि मानव मेरे समान पवित्र हो और अपनी इच्छा को मुझे अर्पितकर मेरे समान ही पूर्ण हो।
5. ईसाइयों के अनुसार, ईश्वर मानव के प्रति इतना सहानुभूति रखता है कि वह उसके संपूर्ण बालों तक की संख्या जानता है। ईसा ने बताया है कि जब ईश्वर-फूल-पत्तियों को सुन्दर बना सकता और गौरैये तक की खोज-खबर रखता है तो वह क्यों अपने लोगों की सुधि न लेगा? इसलिये मानव का भी कर्त्तव्य है कि वह सर्वप्रथम ईश्वर और ईश्वर के राज्य की खोज करे।
6. यहूदी धर्म की तुलना में ईश्वर को करुणामय परमपिता कहा गया है। ईश्वर न्यायी अवश्य है, पर वह विशेषतया प्रेम है और नहीं चाहता है कि पापी अपने पाप में पड़ा रहे। ईश्वर के प्रेम का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर ने अपने प्यारे पुत्र को जगत् में भेजा ताकि उसके बलिदान से सभी पापी उद्धार पायें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''ईश्वर ने जगत् से ऐसा प्यार किया कि उसने अपना एकलौता पुत्र दिया, ताकि जो कोई उस पर विश्वास करे सो मृत्युदंड का भागी न हो, वरन् अनंत जीवन प्राप्त करे।''

7. इसलिये ईसाई मानते हैं कि ईश्वर ईसा में अवतरित हुए हैं।
8. ईसा ने अपनी बलि देकर स्वर्ग का द्वार सभी के लिये खोल दिया है। इसे प्रायश्चित का सिद्धान्त (Atonement) कहा जाता है। फिर इसे प्रतिनिधिमूलक (Vicarious) बलि भी कहते हैं, अर्थात् पापी के पाप का भार ईसा ने वहन कर लिया और पापी अब अपने पापों को स्वीकार कर ईसा पर भरोसा रखकर पापमोचन प्राप्त कर सकते हैं।
9. संत योहन ने लिखा है कि ईश्वर को किसी ने नहीं देखा है, पर जिसने ईसा को देखा है, उसने ईश्वर को देखा है, अर्थात् ईसा की शिक्षा, जीवनी और मृत्यु ईश्वर के प्रेम-स्वरूप का उद्घाटन करती है। मिथक की भाषा में यीशु को ईश्वर का पुत्र, मसीहा इत्यादि संज्ञा दी गयी है, पर आज की भाषा में कहा जाएगा कि यीशु ख्रीष्ट उस ईश्वर का प्रतीक है जो परम सत्ता का आभास और उसका परिचय दिलाने में समर्थ होता है। ईसाईयों के लिए 'ईश्वर यीशु है', क्योंकि उसे छोड़कर वे ईश्वर को अन्य रूप से समझने में अपने को असमर्थ पाते हैं।
10. ईसा ने बताया है कि ईश्वर परम प्रेमी, दयालु पिता है जो गड़ेरिये के समान अपनी खोयी हुई भेड़ के समान पथभ्रष्ट को ढूंढ निकालने के लिए सर्वदा आँख बिछाये रहता है। ईसा ने बराबर ईश्वर को ''पिता'' कहकर संबोधित किया और प्राणों को छोड़ते हुए अंतिम वचन में कहा, ''हे पिता, मैं अपनी आत्मा को तुझे समर्पित करता हूँ।'' ईसा ने बताया कि ईश्वरीय प्रेम क्षमाशील, उद्धारक और बिना किसी भेद के सर्वव्यापक है।
11. मसीह ने उड़ाऊ पुत्र के दृष्टान्त देकर बताया कि ईश्वर अपने उड़ाऊ पुत्र की ओर भी ताक लगाये रहता था। जब उसका पुत्र सब कुछ गँवा चुका और भूख-प्यास से तड़पने लगा तब उसने पश्चाताप किया और अपने पिता की ओर बढ़ा ताकि उससे दया की भीख माँगे। परन्तु उसका पिता उसकी बाट जोह रहा था। उसने दरिद्र, निस्सहाय, क्लान्त, भूखे-प्यासे बेटे को दूर से देखा, उस ओर दौड़ा। पुत्र पूरी बात कह भी नहीं पाया था कि उसके पिता ने उसे गले लगा लिया और कहा, ''यह मेरा पुत्र मर गया था, फिर जी उठा है। आओ, खुशियाँ मनायें।''
12. ईश्वर का यह प्रेम क्षमाशीली है और पश्चातापी को अपने में फिर ले लेने को प्रदर्शित करता है।
    जब यीशु को क्रूस पर उनकी मृत्यु-निमित्त चढ़ाया गया तो उनका पहला वचन यही था ङ
    ''हे पिता! इन्हें क्षमा कर, क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।''

ईश्वर का प्रेम उद्धार का आधार होता है। बाइबिल के अनुसार, यीशु ने कहा है कि तुम अपने शत्रुओं से भी प्रेम रखो और अपने प्रेम में परम पिता के समान पूर्ण बनो। ईश्वर धर्मी और अधर्मी, दोनों को बिना किसी भेद के वर्षा और सूर्यप्रकाश का दान देता है। ईश्वरीय प्रेम की पराकाष्ठा में हिन्दू-मुसलमान-ईसाई का कोई भेद नहीं रहता है।

2.5 त्रयेक परमेश्वर (Trinity)

प्रश्न उठता है कि क्या ख्रिष्टीय एकेश्वरवाद वास्तव में एकेश्वरवाद रहता है, क्योंकि इसमें पिता-पुरुष, पुत्र-पुरुष और पवित्रात्मा-पुरुष को भिन्न और फिर एक कहा जाता है। यदि ये भिन्न-भिन्न है तो इन्हें एक मानना आत्मविरोधी है। यदि ईश्वर एक हो तो ख्रीष्ट और आत्मा को ईश्वर के समकक्ष नहीं समझना चाहिये।

उपरोक्त समस्या पर विचार करते समय हमें याद रखना चाहिये कि ईश्वर, ईश्वर के पुत्र ईसा तथा पवित्र आत्मा को तीन व्यक्ति माना जाता है और जहाँ व्यक्तित्व रहेगा, वह एक व्यक्तित्व दूसरे व्यक्तित्व से मिलकर कभी एक नहीं हो सकता है। व्यक्तित्व का अपना स्वरूप ही है कि एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपना अलगाव रखे। इसलिये त्रयेक ईश्वर की भावना दोषपूर्ण है। पर जो कुछ भी हो ईसाई त्रयेक ईश्वर को ईश्वर-त्रय नहीं समझना चाहिये, अर्थात् यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव का ईश्वर-त्रय नहीं कहा जा सकता है।

प्रतीक-सिद्धान्त के अनुसार, ईसा ईश्वर के प्रबल प्रतीक हैं जो ईश्वर के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं और जब भक्त ईसाई ईश्वर को क्षमाशील, उद्धारक और परिशोधक प्रेम के रूप में समझने लगता है तो उसमें अदम्य शक्ति आ जाती है। ईश्वर सर्वथा एक ही है और पवित्रात्मा वह शक्ति है जो साधक को इस प्रेममय ईश्वर के आस्वादन से प्राप्त होती है। कई विचारकों ने त्रयेक ईश्वर की भावना को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वीकार किया है। पर इसे सच्चिदानंद के रूप में समझा है, अर्थात् ईश्वर सत् हैं, पुत्र शुद्ध चेतना और पवित्र आत्मा आनंद है। इस त्रेक ईश्वर को उन्होंने दूसरे रूप में भी देखा है, अर्थात् पिता स्रष्टा, पुत्र निदर्शक (आदर्श उदाहरण) और पवित्र आत्मा पवित्रीकर्ता है।

यदि ईसा को जिन्होंने मनुष्य का रूप धारण किया, ईश्वर समझा जाय तो इसे ईश्वर-निंदा कहा जायगा। यदि ईसा को उनके मानव रूप में समझा जाय तो इसे मूर्तिपूजा कहा जायगा। फिर यदि ईसा को पूर्ण मानव और पूर्ण ईश्वर कहा जाय, तो एक ही व्यक्ति को सीमित (मानव रूप में) और असीमित (ईश्वर) एक साथ समझने में परस्पर-विरोध देखा जाता है। अत: ईसा केवल प्रतीक हैं जो ईश्वर का बोध कराने में समर्थ होते हैं।

2.6 मानव-विचार

ईसाई धर्म में यहूदी धर्म के समान-विचार पाया जाता है, पर बाद में ईसाई-संघ (चर्च) के स्वरूप के निखरने पर मानव-विचार में ईसाई विशिष्टता चली आती है। ईसाई धर्म के अनुसार, छ: दिनों में (जो वास्तव में युगों के समान हैं) सम्पूर्ण जगत् प्राणी, पशु और अंत में मानव को अपनी छवि में ईश्वर ने सृष्टि की है। ईश्वर ने मानव को केवल अपने ही बिंब में नहीं बनाया, वरन् मानव को अपनी संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार भी दिया। अत:, मानव ईश्वर के समान ही नीतिवान् एवं भव्यशाली जीव है, और संपूर्ण सृष्टि पर अधिकार देकर मानव से आशा रखता है कि वह संपूर्ण संसार को ईश्वर की इच्छानुसार रूप भी दे देगा। पर ईश्वर का क्या स्वरूप है जिसकी छवि के अनुसार ईश्वर ने मानव को बनाया है।

ईश्वर के स्वरूप की कल्पना के सन्दर्भ में निर्गमन की पुस्तक में ईश्वर ने बताया कि 'मैं जो हूँ सो हूँ।' इब्रानी भाषा में जिस शब्द का अनुवाद 'मैं हूँ' किया गया है, उसमें किसी काल का बोध नहीं होता है। पर ईश्वर अपनी चुनी हुई जाति का प्राचीनकाल से इब्राहिम, इजहाक, याकूब और अन्य नबियों का ईश्वर भी रहता आया है और अंत तक बना रहेगा। अत:, ईश्वर की प्रकाशना सर्जनात्मक क्रिया है जो समस्त मानवजाति का मार्गदर्शन करती है। इसलिये ईश्वर की छवि भी इसी सर्जनात्मक शक्ति का बोध कराती है। ईश्वर ने अन्य जीव-जन्तु, वनस्पति तथा पशुओं के स्वभाव में स्थिरता प्रदान की है, पर मानव को निरन्तर प्रगतिशील तथा गतिशील रखा है। उनके विकास का और इसी प्रकार उसके ह्रास का भी कोई अन्त नहीं है। इसलिये कभी-कभी बड़े विस्मय के साथ विचारक प्रश्न करते आये हैं कि मानव जो घूल के समान है उसे ईश्वर ने क्यों रचा? क्यों उसे स्वर्गदूतों की अपेक्षा थोड़ा ही नीचा रखा है पर ईश्वर ने उसे कितनी अधिक विकास-शक्ति और महिमा से मंडित किया है?

ईसाई विचारकों के अनुसार, ईश्वर ने संपूर्ण विश्व को रचकर मानव को अपनी छवि में इसलिये बनाया कि वह विश्व में स्वर्गिक राज्य की स्थापना करे। क्या ईश्वर मानवों को शुभ संकल्पशक्ति देकर अपने इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता? उसने क्यों मानव को बुरे कर्म के लिये वासना भी दी है? क्या मानव अपने सृजनहार से इस प्रकार प्रश्न कर सकता है? ईसा ने कहा कि जिसने मुझे देखा, उसने ईश्वर को भी देखा है। इसलिये ईसाई इस प्रश्न का समाधान ईसा की शिक्षा, उसके काम और मृत्यु के आधार पर करते हैं। ईसा ने बताया कि उनके जीवन का उद्देश्य है कि स्वर्गिक राज्य की स्थापना की जाय। इसलिये मानव का असली स्वरूप इस स्वर्गिक राज्य और तद्नुरूप ईसाई मंडली के चित्रण से स्पष्ट होता है।

मसीह ने अपने प्रचार का काम इस उद्घोषणा से प्रारंभ की : ''स्वर्गिक राज्य सन्निकट है। पापों से पश्चाताप करो। यीशु को आने वाला ख्रीष्ट समझकर उस पर विश्वास करो। पहले स्वर्गिक राज्य की चिंता करो तब तुम्हें अन्न, वस्त्र और सभी सामग्रियाँ ईश्वर-पिता होगा। जब ईश्वर-पिता पशु-पक्षी और वन के फूलों की देखभाल करता है तो हे अल्पविश्वासी क्या वह तुम्हारी (जो सृष्टि का उत्तम और अधिकारी जीव है) सुधि न लेगा?'' परन्तु धर्मी बनना और ईश्वर की दसों आज्ञाओं का पालन करना कठिन है। मसीह का कहना है :

''हे सब लोगों! जो भारी बोझ से दबा हो और क्लान्त हो, मेरे पास आओ, मैं तुम्हें विश्राम दूंगा। मेरा जुआ अपने कँधों पर रखो और अपना जुआ मुझको दो क्योंकि मेरा जुआ हल्का है।'' मसीह के जुए को अपने ऊपर उठाने का अर्थ है मसीही विश्वास, आशा और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करना, क्योंकि बाइबिल के अनुसार मसीह मृत्युपर्यन्त ईश्वर के अधीन रहा और उसी की ही आज्ञाओं के अनुसार, ईश्वर के प्रेम-स्वरूप को स्पष्ट कराने के लिये अपने प्राणों की आहुति दी है। पर मसीह ने स्पष्ट कर दिया कि उसका राज्य संसार का नहीं है। संसार में बड़े शासक वे कहे जाते हैं जो अन्य लोगों पर राज्य करते हैं। पर अच्छा ईसाई वह है जो सबका दास है, दीन है, विनम्र है, और उसकी सेवा करता है। मसीह ने कहा कि ''जब मैं तुम्हारा प्रभु और गुरु होकर भी तुम्हारा पैर धोता हूँ, तो क्या तुम्हारा कर्त्तव्य नहीं है कि तुम एक दूसरे का पैर तक धोया करो?''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

ईसाई धर्म के अनुसार, मानव अवश्य संसार में रहता है, पर वह संसार का नहीं, वरन् ईश्वर का पात्र है। यदि मानव ईश्वर की आज्ञाओं का पालन न करे तो उसे दंड भोगना ही पड़ेगा। यहूदी जाति ईश्वर की चुनी हुई थी तो भी इस जाति को ईश्वर की आज्ञाओं का उल्लंघन करने के फलस्वरूप बार-बार दु:ख उठाना पड़ा। ताड़ना के रूप में अन्य जातियों को इतना समर्थ किया गया कि वे यहूदियों को उनके पाप के कारण उनका संहार और दमन करें। जब तक मानव इस भूतल पर है उसे संसार के शासकों के शासन को स्वीकार करना है, क्योंकि ईश्वर ही शासक बनाता है और उन्हें बल और प्रभुता प्रदान करता है।

ईश्वर के राज्य को यीशु ने बताया था कि यह प्रगतिशील और प्रसार का विषय है, क्योंकि उसने उपमाओं द्वारा स्पष्ट किया कि यह बढ़ते हुए वृक्ष के समान है, यह फैलने वाले खमीर के समान है- फिर उसने इस स्वर्गिक राज्य को संपूर्ण विश्व का राज्य समझकर इसे व्यापक रूप दिया था। ईसा के अनुसार यीशु की भेड़ें केवल यहूदी ही नहीं, वरन् अन्यदेशीय भी हैं। बाद में चलकर यीशु ने इस स्वर्गिक राज्य को ईसाई मंडली (चर्च) के रूप में समझा। यह मंडली जितनी बाह्य है उतनी ही हृदय की वस्तु है। संत पीटर को ईश्वर का आदेश मिला कि वह इस चर्च के द्वार को समस्त जातियों के लिये खोल दे- इस चर्च के सदस्य समस्त मानवजाति के लोग हो सकते हैं और न इनमें जाति का और न कोई वर्ण-विचार का भेद पाया जाता है।

इस चर्च की व्यवस्था ईसीन लोगों के समान साम्यवादी थी, पर बाद में चलकर इसकी व्यवस्था रोमी शासन के समान बन गयी। इस पार्थिव ईसाई संघ को यीशु ने आदेश दिया कि ईसाई धर्म का वे प्रचार और प्रसार करें। इस संघ के विभिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न वरदान और कार्यक्षमतायें दी गयी हैं, पर व्यक्तियों आपस में मिलकर मंडली की जैविक व्यवस्था को अथवा तंत्र को स्थापित करना चाहिये।

2.7 मानव की अंतिम गति

पूर्व में उल्लेख आया है कि ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया, उसमें स्वतन्त्र इच्छा प्रदान की और अच्छे-बुरे का ज्ञान दिया। ईश्वर का उद्देश्य था कि मानव इच्छा-स्वातन्त्र्य के आधार पर बुराई को त्यागकर अच्छाई को चुने और अन्त में ईश्वर सायुज्य और सान्निध्य के योग्य होने के लिये पवित्र संकल्पी हो। मानव पवित्र संकल्पी तभी हो सकता है जब वह अपनी इच्छा को ईश्वर के अधीन कर दे और उसकी आज्ञाओं को पूर्णतया पालन करे, क्योंकि ईश्वर की सेवा सच्ची स्वतन्त्रता है। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि हम लोगों ने आदि-पाप के सन्दर्भ में देखा है कि मानव हजारों वर्षों से पापाचरण करने के फलस्वरूप बहुत ही बिगड़ गया है। उसका देश और समाज, जैसा मसीह के युग में यहूदियों का था, इतना भ्रष्ट हो गया था कि यहूदी चाहते थे कि मूसाई नियमों का पालन करें, पर ऐसा करने में वे अपने को असमर्थ पाते थे। संत पॉल का कहना है- ''मैं चाहता हूँ कि जो उचित है वही करूँ, पर कर नहीं पाता। जो मैं नहीं चाहता और जिससे मैं घृणा भी करता हूँ, वही मैं करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि अच्छा काम करूँ, और कर नहीं पाता। जब मैं अनुचित नहीं करना चाहता हूँ तो मैं किसी प्रकार वही करता हूँ।''

पर मूसाई नियम तो बताये ही गये थे जिसके अनुसार उचित, अच्छा और सत्य बताया गया था, तो क्यों नहीं मानव उनका अनुसरण कर पवित्र और शुभ संकल्पी हो सकता है? संत पॉल का कहना है कि जितना ही अधिक व्यक्ति नियमों का पालन करना चाहता है, उतना ही अधिक वह उसका उल्लंघन करता है, और इस ज्ञान से उसे आत्मग्लानि होती है और वह अपने को पाप के दलदल में फँसा हुआ पाता है। तब मानव अपने पापों से कैसे छुटकारा पाये, किस प्रकार पापवृत्ति से मुक्त होकर ईश्वर की छवि को प्राप्त करे?

ईसाई धर्म के अनुसार, ईश्वर-मिलन यीशु मसीह के क्रूशीय बलिदान के रहस्य में विश्वास करने से मानव में पापमोचन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिये सर्वप्रथम ईसा की क्रूशीय मृत्यु के रहस्य को जानना होगा। ईसा की क्रूशीय मृत्यु को मानव जाति द्वारा प्रायश्चित के रूप में पवित्र मनुष्य ईसा का आत्मा-बलिदान समझा जाता है। यहूदी पशु को अपने पापों के प्रायश्चित में ईश्वर से क्षमा प्राप्त करने की आशा से बलि चढ़ाते थे। केवल पशु को निर्दोष रहना चाहिये था। इस रूप में यीशु ने अपने को उस पवित्र मेमना का निर्दोष रूप धारण किया जिससे वह अपना बलिदान समस्त जाति के पापों के प्रायश्चित के लिये करे। मसीह ने लोगों से कहा, ''तुम में से कौन है जो मुझे पापी ठहरा सकता है?'' फिर मसीह ने कहा, ''मैं अपनी इच्छानुसार अपने प्राणों की आहुति कर रहा हूँ, क्योंकि मैं इसी निमित्त संसार में जन्मा।'' इसलिये ईसा की क्रूशीय मौत पवित्र मेमने का वह आत्मबलिदान है जो समस्त मानव-जाति के पापमोचन निमित्त दिया गया है-

(क) इस मौत को स्वयं ईश्वर ने ही तैयार किया था कि इस क्रूशीय मौत को मानव-जाति अपने पापों के प्रायश्चित के रूप में स्वीकार करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

''ईश्वर ने जगत् को ऐसा प्यार किया कि उसने अपने एकलौते पुत्र को बलिदान के रूप में भेजा ताकि जो उस पर विश्वास करे, उसे अनन्त जीवन प्राप्त हो।''

(ख) ''इस क्रूशीय मृत्यु को प्रतिनिधिमूलक कहा जाता है, क्योंकि वह सब मानव के लिये मरा और अब फिर किसी प्रकार की बलि की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं निष्पाप था। इसलिये वह अपने पापों के कारण नहीं मरा।''

(ग) ''यह ईश्वर-मिलन का मार्ग है जो समस्त मानव-जाति के लिए स्थिर किया गया है।''

ईसा की मृत्यु से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि ईश्वर प्रेम है। मानव ने ईश्वरीय छवि को कितना ही अधिकधूमिल क्यों न कर दिया हो, अपनी पापवृत्ति के कारण ईश्वर से कितना ही दूर क्यों न हो गया हो पर ईश्वर का क्षमाशील प्रेम मानव को क्षमा करने को तैयार है। ईसा की मृत्यु ने स्पष्ट कर दिया कि मानव का स्वार्थ उसे इतना अंधा कर देता है कि वह संत पुरुष की भी हत्या करने से नहीं हिचकता है।

(घ) ईसा की क्रूशीय मौत ईश्वर का अनुग्रह है क्योंकि अपने ही कर्म के आधार पर मानव अपनी मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्म से नहीं, ईश्वरीय प्रेम और उसके अनुग्रह पर विश्वास करने से क्षमा और पापमोचन हो सकता है।

''जब मानव अपने पापों में डूबा हुआ था तब ईश्वर ने आयोजन किया कि वह ईसा के आत्मबलिदान के द्वारा उद्धार का मार्ग खोल दे।'' ईश्वरीय क्षमाशील प्रेम और उसके अनुग्रह पर भरोसा रखकर ही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

प्रत्येक स्थिति में ईश्वर से प्रार्थना करते रहना पड़ता है कि ईसाई प्रलोभन में तथा परीक्षाओं में गिर न पड़ें, अत: प्रार्थना के जीवन से ही ईसाई मन की शान्ति और शुद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रभु की प्रार्थना इस प्रकार है :

''हे हमारे स्वर्गिक पिता! तेरा नाम पवित्र माना जाय। तेरा राज्य आये। तेरी इच्छा जैसे स्वर्ग में है, वैसी पृथ्वी पर भी हो। प्रतिदिन की रोटी आज हमें दे। जिस प्रकार हम अपने अपराधियों को क्षमा करते हैं, उसी प्रकार तू हमारे अपराधों को क्षमा कर। परीक्षा में न डाल, बुराइयों से बचा, क्योंकि राज्य, पराक्रम और महिमा सदा तेरी ही है।''

ईसाई विश्वासियों के अनुसार, मसीह पर विश्वास रखने से उनमें नये जीवन का संचार होता है। सब मसीह में एक हो जाते और उनमें किसी भी जाति, वर्ण इत्यादि का भेद नहीं रहता। ईसाईपन इसी में है कि वह ईश्वर द्वारा अपना लिया गया है। ईसाई को बार-बार अपनी परीक्षा लेकर देखना पड़ता है कि उसका विश्वास अटल है कि नहीं। संत पीटर ने ईसाई जीवन की चार सीढ़ियाँ बतायी हैं।

1. सर्वप्रथम, प्रत्येक ईसाई को ग्रहण कर लेना चाहिये कि यीशु ख्रीष्ट उसका ईश्वर और त्राणकर्त्ता है। ऐसा मान लेने पर मन में शान्ति और पापों के प्रति विमुखता आती है।
2. विश्वास बिना कर्म के मुर्दा है। इसलिये शुभ कार्यों में लग जाना चाहिये।
3. तब धीरे-धीरे ज्ञान होने लगेगा कि उसके लिए ईश्वर की क्या इच्छा और आदेश है।
4. अन्त में, ईश्वरीय प्रेम में इतना बढ़ जाना चाहिये कि बिना भेदभाव के शत्रुओं तक से प्रेम करना स्वाभाविक हो जाना चाहिये।

2.8 अमरता-विचार

स्वयं ईसा मसीह और आरम्भ काल के ईसाई धर्म के प्रचारक यहूदी थे और अमरता के सन्दर्भ में उनके विचार भी यहूदियों के विश्वास से अभिरंजित थे। यहूदियों का विश्वास था कि मृत्योपरान्त मानव शियोल में रहता है जहाँ उसकी सम्पूर्ण शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। पर उन्हें पुनरुत्थान (Resurrection) में भी विश्वास था। वे विश्वास रखते थे कि न्याय-दिवस (Day of Judgement) में ईश्वर सब मृतकों को फिर जिला देगा और तब प्रत्येक व्यक्ति के अपने कर्म के अनुसार नरक (सज़ा) या स्वर्ग (जज़ा) प्राप्त होगा। यीशु मसीह भी पुनरुत्थान और न्याय-दिवस में विश्वास रखते थे। यही बात सन्त पॉल और अन्य प्रमुख सन्त आदि भी मानते थे। मसीह अपने प्रचार-काल में बार-बार न्यायदिवस की चर्चा करता था। जब मसीह क्रूश पर लटका हुआ था, उसी समय अपने प्रायश्चित्त करने और मसीह में विश्वास करने वाले डाकू को कहा, ''आज ही तू मेरे साथ स्वर्ग में होगा।'' फिर लाजरस के दृष्टान्त में मसीह ने स्वीकारा कि भिखमंगा लाजरस स्वर्ग में गया और धनवान् व्यक्ति जिसके द्वार पर भिखमंगा लाजरस रहता था, वह धनवान् नरक में डाला गया। मसीह ने अपने विषय में बार-बार शिष्यों को बताया था कि मारे जाने पर वह तीसरे दिन मृतकों में से उठेगा। मसीह ने यह भी बताया कि स्वर्ग में विवाह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नहीं होते। स्वर्गिक जीवन स्वर्गदूतों के समान पवित्रता का जीवन होता है। अत:, ईसाई लोग भी न्यायदिवस और पुनरुत्थान को मानते हैं। चूँकि संत पॉल ईसाई धर्म के सबसे बड़े और विद्वान् प्रचारक थे और चूँकि उन्हीं के लेखों का सर्वप्रथम प्रचार हुआ, इसलिये ईसाई लोग भी संत के ही मत को स्वीकार करते हैं।

यहूदी शुद्ध आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते थे। उनके लिये प्रत्येक व्यक्ति देहात्मा है। इसलिए ईसाईयों के लिये भी ईसा देहधारी रूप में स्वर्ग चले गये। अत:, न्यायदिवस के अवसर पर देह के साथ मानव की आत्माओं का पुनरुत्थान होगा, ऐसा मसीहियों का विश्वास है। अमरता के विषय के सन्दर्भ में संत पॉल ने अपने मत का विस्तापूर्वक उल्लेख किया है। संत पॉल के अनुसार, ''न्यायदिवस के अवसर पर तुरही फूँकी जायगी और क्षणभर में सभी मृतक अपनी देह के साथ जी उठेंगे। परन्तु पुनरुत्थान के समय जो देह प्राप्त होगी वह स्वर्गिक और अमर होगी और सांसारिक मरणशील देह की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और मजबूत होगी।'' संत पॉल का कहना है कि मसीह मरे हुओं में से जी उठा है। क्योंकि वह उन्हें, मसीह के शिष्यों इत्यादि को स्पष्टतया दिखाई दिया है। अत: वह मृतकों में से जी उठा है और इसी प्रकार सभी मृतक भी पुनरुत्थान दिवस में फिर जी उठेंगे। संत पॉल के अनुसार, मृतकों में से फिर जी उठना मसीहियों के लिये उनका विश्वास-वचन है। यदि मृतक फिर से जी उठेंगे तो मसीही विश्वास मात्र भ्रम ही होगा। पर संत पॉल का कहना है कि सच्ची बात यही है कि मसीह मृतकों में से जी उठा है और इसलिये मसीहियों का यह विश्वास व्यर्थ नहीं है। अत:, मसीहियों की पुनरुत्थान की आशा किसी युक्ति पर आधृत नहीं है, बल्कि यह उनका विश्वास-वचन मात्र है।

2.9 अशुभ-विचार

ईसाई धर्म एकेश्वरवादी है और वही संसार की समस्त प्रक्रियाओं एवं घटनाओं के लिये उत्तरदायी कहा जाता है। क्या ऐसा संभव है कि किसी राज्य में कोई दुर्घटना घटे जो ईश्वर का कार्य न हो? मसीह ने कहा कि एक गोरैया भी बिना ईश्वर की अनुमति से नहीं मर सकती है। अब यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और परम दयालु है तो विश्व में अशुभ क्यों? यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो भी वह विश्व की बुराइयों को क्यों दूर नहीं करना चाहता? तो क्या वह सत्य एवं शुभ संकल्पी नहीं, फिर यदि वह शुभ संकल्पी हो और बुराई को नहीं हटा सकता है, तो क्या वह सर्वशक्तिमान नहीं? एकेश्वरवादी ईसाई के लिये इस उभयतोपाश से बच निकलना कठिन प्रतीत होता है। ईसाई धर्म में इस समस्या को विशेष स्थान दिया गया है। वास्तव में इस समस्या के समाधान कर लेने पर ईसाई विश्वास-वचन निखरित होता है।

अय्यूब को शारीरिक और सामाजिक कष्टों को अकारण झेलना पड़ा। उसके युग के यहूदियों की यही धारणा थी कि धर्मी को कष्ट नहीं हो सकता। पर अय्यूब के जीवन से स्पष्ट होता है कि धर्मी को भी दु:ख झेलना पड़ता है। क्यों? क्योंकि मानव ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का पूर्ण अनुभव कर उसकी शरण में जाय। अय्यूब की अनुभूति है-

''क्या मरणशील मानव ईश्वर की तुलना में अधिक धर्मी हो सकता है? क्या मानव अपने सृष्टिकर्ता की तुलना में अधिक शुद्ध ठहर सकता है?'' भला इसका उत्तर कौन दे सकता है कि अमुक क्यों सुख से रहते हैं और अपेक्षाकृत धर्मी दु:ख अधिक क्यों भोगते हैं? प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह अपने को जाँचे और ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास करके प्रत्येक दशा में अपने को ईश्वर को अर्पित कर दे। अय्यूब को धन-जन सबका बल था। पर सब कुछ छिन जाने पर भी उसने कहा, ''ईश्वर ने दिया, ईश्वर ने ले लिया। उसकी स्तुति हो।''

जो बात प्राकृतिक अशुभ के संबंध में कही जा सकती है वह मानव के पाप के विषय में सत्य नहीं कही जायगी। ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में बनाया है और उसे बुरे-भले, दोनों विकल्पों में से किसी एक विकल्प को अपनाने का इच्छा-स्वातंत्र्य दिया है। बिना इच्छा-स्वातंत्र्य तथा अच्छे-बुरे के ज्ञान के मानव को ईश्वरीय छवि नहीं कहा जा सकता है। पर इच्छा-स्वातंत्र्य के साथ मानव को बुराई को भी चुनने की छूट ईश्वर को अनुमत करना है। अत:, बुरी बातों को सोचना-करना, झूठ-बोलना, अकृतज्ञ होना, ईश्वर से विमुख रहना इत्यादि वे नैतिक बुराइयाँ हैं जिनके लिये स्वयं मानव उत्तरदायी कहा जायगा। इस संदर्भ में ईसाई धर्म में मूल पाप Orignial sin की धारणा भी स्वीकारी गयी है।

मौलिक अथवा आद्य पाप से अभिप्राय यह नहीं हो सकता है कि आदि पिता आदम-द्वारा पाप करने का फल समस्त मानव जाति को भोगना पड़ रहा है। बहुत पहले ही यह स्पष्ट कर दिया जो व्यक्ति जैसा करेगा उसका यह फल पायेगा। अत: 'आदि-पाप' की धारणा से अभिप्राय है कि मानव के अंदर पापवृत्ति इतनी गहरी और व्यापक है कि मानव स्वयं अपने ही प्रयास से अपने पापों को दूर कर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पवित्रात्मा नहीं हो सकता है। फिर इस आदि-पाप की धारणा का तात्पर्य है कि मानव ने अपने पापाचरण के द्वारा समाज-देश तथा धर्म-व्यवस्था तक को भी इतना भ्रष्ट कर दिया है कि उसकी ईश्वर-छवि विकृत हो गयी है। इसी आदि-पाप के संदर्भ में ईसाइयों की अशुभ समस्या का विचार आँका जा सकता है।

सर्वप्रथम दु:ख-कष्ट को ताड़ना के रूप में लिया गया है ताकि मानव को स्मरण पड़े कि उसे ईश्वर की छवि के रूप में बनाया गया है। दु:ख से मानव का शिक्षण भी होता है नये नियम में भी बताया गया है कि जिस प्रकार बाप बेटे को दंड देकर उसको अनुशासित बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर-पिता भी मनुष्यों को दंड-विधान के द्वारा अनुशसित करता है।

द्वितीय, यहूदियों के बीच में प्रथा थी कि वे पशुओं की बलि ईश्वर को चढ़ाते थे ताकि बलि का पशु उनके पापों को ढो ले और उन्हें पापों से विमुक्त करे। फिर यहूदी लोग प्राय: अपनी जाति को पवित्र रखने और अपने एकेश्वरवाद में विकास को दृढ़ रखने के लिये अन्य जातियों के द्वारा तथा अपनी ही जाति के लोगों के द्वारा बलिदान-स्वरूप शहीद भी होते आये थे। अत:, यहूदी परम्परा को अपनाते हुए ईसाई लोग भी दु:ख को ईश्वर के प्रति विमोचक तथा निवेदक मानते थे। इस्रायलियों को ईश्वर के कोप से बचाने के लिये मूसा नबी ने ईश्वर से प्रार्थना की :- ''हे परमेश्वर! इन इस्रायलियों को तू अपने कोप का भाजन न कर वरन् इन्हें बचा ले और इनके बदले मेरे ही नाम को अनंत जीवन प्राप्त करने वालों की तालिका से काट दे।''

इस प्रकार के अशुभ को प्रतिनिधिमूलक (Vicarious) और निवेदक (Intercessory) कहते हैं। जिस प्रकार बलि का पशु पापवहन कर यजमान को उसके पापों से उसे मुक्त कर देता है, उसी प्रकार यशायह पैगम्बर ने बताया था कि 'मसीह' भी अपनी बलि देकर समस्त मानव-जाति को उनके आदि-पाप से उन्हें विमुक्त कर देगा। ईसाई के लिये दु:ख वास्तव में अशुभ नहीं है।

1. अशुभ इसलिये है कि इसके द्वारा ईश्वर की महिमा प्रगट हो।
2. अशुभ के द्वारा मानव का विशुद्धीकरण होता है, उदाहरणार्थ इब्राहिम पैगम्बर, यूसुफ और अय्यूब की जीवनी से यह सिद्ध होता है। कष्ट-भोग के द्वारा विश्ववासियों का विश्वास दृढ़ होता है और तपाये हुए सोने के समान विमल हो जाता है।
3. यातनाओं के द्वारा मानव, जैसा मसीह के जीवन में देखा जाता है, पूर्णता की ओर प्रगति करता है।
4. यातना सहना ईसाई के लिये सौभाग्य की बात है कि यीशु ख्रीश्ट और स्वर्गिक राज्य निमित्त वह दु:ख भोगे। ईसा मसीह के नाम के कारण यातनाओं के भोगने पर विश्वासी ख्रीष्टीय क्रूश-मृत्यु का सहभागी होता और ख्रीष्टीय परिवार का सदस्य बनता है। मसीह ने कहा कि यदि कोई उसका अनुयायी बनना चाहता है तो अपनेपन (अहंभाव) को नकारे अपना क्रूश उठाये और तब उसके पीछे हो ले।

इसलिये ईसाई धर्म में अशुभ की समस्या का समाधान धार्मिक रीति से ही किया गया है जिसे ईसाई-मुक्ति के स्वरूप में स्पष्ट दिखाया जा सकता है।

2.10 नीति-विचार

जिस प्रकार यहूदी-ईश्वर-विचार को संशोधित कर मसीह ने ईश्वर को क्षमाशील, उद्धारक और पापमोचक प्रेम बताया, उसी प्रकार मसीह ने ईसाई धर्म में उच्चतम नैतिक आदेशों की शिक्षा बतायी थी। इस संदर्भ में मसीह को ऐसा प्रतीत हुआ कि वे मूसाई नीति-विचार से बहुत आगे बढ़े गये हैं। अपने नीति-वचन के पूर्व के बार-बार दुहरा-कर कहते थे, पहले बताया गया था कि व्यभिचार न करो, पर मैं कहता हूँ कि जिसने किसी दूसरी स्त्री की ओर दुर्वासना से दृष्टि फेरी है उसने उसके साथ व्यभिचार कर लिया है। व्यभिचार करना बड़ा पाप है जिसका प्रायश्चित करना आवश्यक है। इसलिये तेरी दाहिनी आँख यदि बुराई कराये, तो अच्छा है कि तू अपनी उस आँख को निकाल दे ताकि तू काना होकर स्वर्गिक राज्य में प्रवेश करे, न कि दोनों आँखों के साथ नरक में डाला जाय। यही बात तेरे दाहिने हाथ के विषय भी कही जा सकती है।'' मसीह ने कहा कि पहले कहा गया था, अर्थात् मूसा-द्वारा प्रदत्त दस आज्ञाओं में कि तू हिंसा न करना, पर तुमसे मैं कहता हूँ कि तू अपने भाई के विरुद्ध क्रोध न करना क्योंकि ऐसा करने से तू नरक का अधिकारी होगा। पहले कहा गया था कि अपनी स्त्री को त्यागपत्र के साथ त्यागना चाहिये, पर ईसा ने कहा कि जो अपनी स्त्री को अकारण ही त्यागता है तो वह उससे व्यभिचार करवाता है और जो ऐसी स्त्री से विवाह करता है वह उससे व्यभिचार करता है।

शपथ खाने के विषय में भी ईसा ने कहा है कि ''तू कभी शपथ न खाना, न स्वर्ग की (क्योंकि वह ईश्वर का वासस्थान है) और न पृथ्वी की (क्योंकि यह ईश्वर का पादस्थल है)। सभी बातें सरल रहनी चाहिये और साफ-साफ, चाहे 'हाँ', या 'नहीं' कहना चाहिये।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपने नीतिवचन में मसीह ने कहा कि यदि अपने मित्र ही को तुम प्यार करते हो तो यह एक स्वाभाविक बात है। पर तू अपने शत्रु को भी प्यार कर, क्योंकि ईश्वर भी धर्मी और अधर्मी, दोनों के लिये एक समान वर्षा, धूप, हवा इत्यादि की व्यवस्था करता है। स्वयं मसीह ने अपने सताने वालों के लिये सबसे पहले क्रूशीय मौत के समय ईश्वर से प्रार्थना की, ''हे ईश्वर-पिता, तू इन्हें क्षमा कर क्योंकि अज्ञानवश वे यह सब कांड मेरे विरुद्ध रच रहे हैं।''

संसार विरक्ति की भी शिक्षा नये नियम में देखी जाती है। स्वयं ईसा ने कहा- ''अपने माता-पिता को छोड़कर मेरे पीछे हो ले।'' फिर उसने कहा कि सबसे पहले स्वर्गिक राज्य की खोज करो तो अन्न-जल-वस्त्र इत्यादि सभी ईश्वर-पिता तुम्हें देगा। यद्यपि ईसा ने यह नहीं कहा कि परिश्रम करके धन न इकट्ठा करो, इसलिये उसने बताया कि कहा कि संसार में धन इकट्ठा करना व्यर्थ है। धन के प्रलोमन से ईश्वर के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है।

संत पॉल ने भी बताया है कि शरीर से बुरी इच्छायें उत्पन्न होती हैं। इसलिये शारीरिक वासनाओं पर विजय प्राप्त करना चाहिये ताकि आध्यात्मिक जीवन संभव हो सके। यह विजय मसीह के द्वारा पवित्र आत्मा के दान से ही संभव हो सकती है। परंतु संसार-विरक्ति का संदेश बहुत फैल नहीं पाया क्योंकि चर्च-व्यवस्था ऐसी बनायी गयी थी जिसमें सभी सूत्रबद्ध किये गये थे ताकि प्रत्येक चर्च और ईसाई संघ एक दूसरे की सुधि लें।

पूर्व नैतिक नियमों को ईसा ने स्वीकार किया, इसमें कोई सन्देह नहीं, लेकिन इन सभी का विश्लेषण उन्होंने अपने ढंग से किया। उन्होंने सर्व साधारण को सूचित करते हुए कहा कि यद्यपि पहले से ऐसा कहा गया है कि किसी की हत्या न करो अन्यथा जो किसी की हत्या करेगा वह निर्णयात्मक दोष का भागी होगा। लेकिन मैं कहता हूँ कि जो बिना किसी कारण ही अपने भाई से नाराज हो जाता है वह निर्णयात्मक दोष का भागी बन जाता है। अतएव यदि तुम किसी वेदी पर कुछ चढ़ाने जा रहे हो यानी कोई पूजा-पाठ करने जा रहे हो और इस बात से तुम्हारा भाई सहमत नहीं है तो पहले अपने भाई की सहमति ले लो फिर पूजा-पाठ प्रारम्भ करो। कारण, ऐसा न करने से आपस का प्रेम भंग हो सकता है, जिसके परिणाम स्वरूप अनेक परेशानियाँ आ सकती है। उन्होंने कहा कि 'जैसे को तैसा' का सिद्धान्त बिल्कुल गलत है। आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत निकाल लेने से समस्या का वास्तविक समाधान नहीं मिल सकता। ऐसा करने से शान्ति मिल जाए यह भी नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी भी दुर्व्यवहार का प्रतिकार न करो। यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर तमाचा मार देता है तो दूसरा भी गाल उसके सामने कर दो। यदि कोई तुम्हारा कोट लेना चाहता है तो तुम अपना अंगरखा भी दे दो। यदि कोई तुम्हें अपने साथ एक मील चलने को बाध्य करता है तो उसके साथ दो मील तक जाओ। जो कुछ भी तुमसे कोई मांगता है उसकास स्वामित्व तुम उसे दे दो पुनः आपस के प्रेम को प्रकाशित करते हुए उन्होंने कहा है कि पुराने सिद्धान्त पर ध्यान मत दो, जो कहता है- ''पड़ोसी को प्यार करो और शत्रु से घृणा करो। बल्कि शत्रु को प्यार करो, जो तुम्हें शाप दे उसे वरदान दो, जो तुम्हारा बुरा करे उसका भला करो, और जो तुम से ईर्ष्या करता है, तुम पर किसी प्रकार का अभियोग लाता है, उसके लिए दुआ करो। तभी तुम अपने उस पिता (ईश्वर) की सच्ची सन्तान बन पाओगे, जो स्वर्ग में रहता है और सूर्य को समान रूप से बुरी या मील प्रकृति वालों को धूप प्रदान करने को और बादल को समान रूप से न्यायी या अन्यायी को जल देने को प्रेरित करता है।''

इस प्रकार ईसाई-परम्परा में जन-जीवन के प्रेम को ईश्वर प्रेम का रूप दिया गया है, जो अनियंत्रित है जिसमें न कोई गाँठ है, और न कोई सीमा ही है। सचमुख प्रेम ही अहिंसा है या अहिंसा ही प्रेम है। प्रेम के बिना अहिंसा और अहिंसा के बिना प्रेम की कल्पना की ही नहीं जा सकती। प्रेम भी वहीं होता है जहाँ प्रतिकार या द्वेष की भावना का लोप होता है। इसीलिए ईसाई-परम्परा में माना गया है कि जहाँ पर विनम्रता एवं विश्व-बन्धुत्व के भाव पाए जाते हैं वहीं पर ईश्वरीय राज्य होता है। ईश्वर की सेवा का अर्थ होता है पूरे मानव समाज के ईश्वर की सेवा, मात्र किसी एक धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की ही नहीं। ईश्वरीय राज्य पर तो गरीबों एवं अवहेलितों का अधिकार होता है। धनी वर्ग से इस ईश्वरीय राज्य के सम्बन्ध को दिखाते हुए ईसा ने कहा है कि एक ऊँट का सूई के छिद्र में प्रवेश करना संभव मान लिया जा सकता है लेकिन एक धनी व्यक्ति का ईश्वरीय-राज्य में स्थान पाना बिल्कुल संभव नहीं है। इन बातों से ईसा मसीह ने अहिंसा के आर्थिक एवं सामाजिक रूप पर प्रकाश डाला है जिसके सन्दर्भ में ईसा ने कहा-''तू तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नष्ट किये जाएंगे।'' अन्यत्र यह भी बतलाता है- ''तुम अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो। अपने ही शत्रु से प्रेम करो, जो तुमसे वैर करें, उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हें शाप दें, उन्हें आशीर्वाद हो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए प्रार्थना करो।'' ईसा का यह सन्देश अहिंसा का कितना बड़ा उदाहरण है। ''यदि तू प्रार्थना के लिए धर्म मन्दिर (चर्च) में जा रहा है, उस समय तुझे याद आ जाए कि अमुक व्यक्ति से खटपट या अनबन है

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तो वापिस लौट जा और विरोधी से अपने अपराध की क्षमायाचना कर। अपने अपराधों की क्षमायाचना किये बिना तुझे प्रार्थना करने का अधिकार नहीं है।'' अपने शत्रु पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारों में परिवर्तन आ जावे। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा करते हुए यह बतलाया गया है कि- अपने मन में किसी के भी प्रति वैर या दुर्भाव मत रखो। बन्धुत्व भाव को विकसित करने के लिए कहा है- बन्धुत्व का प्रेम जाति और धर्म की सीमाओं के ऊपर है। अपने पड़ोसी से प्यार करो तथा उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे। उनसे ईर्ष्या न करो। उनसे घृणा करना ईश्वर से घृणा करने के समान है। अपने साथियों की सेवा करना यह एक प्रकार का सुकर्म है, सुकृति है।

ईसाई धर्म में हृदय की पवित्रता को बहुत महत्त्व दिया गया है। हृदय को पवित्रता ही स्वर्ग का द्वार है। यह ईसाई धर्म का मूल मंत्र है। ईश्वर एवं मानव के सम्बन्ध में ही नैतिकता नि:सृत होती है। ईसाई धर्म में प्रतिपादित कर्म हैं- अपने आराध्य को अपना अतिशय प्रेम देना- यही ईसाई धर्म का पहला आदेश भी है। इसी से ईसाई धर्म का दूसरा आदेश मानवतावाद निकलता है। मानव प्रेम, त्याग, स्नेह, दया आदि ईसाई मत में अनिवार्य अंग है। अत: ईसाई धर्म के अनुसार नैतिक निर्णय का विषय बाह्य विषय न होकर आन्तरिक प्रेरणा ही है। ईसाई धर्म के अनुसार हृदय से नि:सृत प्रेरणा शुभ है। नैतिकता, आन्तरिक जीवन की पवित्रता पर आधारित ईसाई धर्म में विवेक या बुद्धि को महत्त्व न देकर हृदय को दिया गया है। ईसाई धर्म का विश्वास है कि मनुष्य का मुख्य ध्येय है ईश्वर को प्रसन्न करना, तथा अपने आप को उससे संयुक्त करना, और वह पड़ोसी से प्यार किए बिना असम्भव है। जब व्यक्ति पड़ोसी की पूर्णता के लिए प्रयत्न करता है, सेवा के लिए भार उठाता है तब वह ईश्वर के प्रति अपने प्रेम को व्यक्त कर रहा होता है, उससे जुड़ने की सतत चेष्टा कर रहा होता है। ईश्वर स्वयं जब प्रेम स्वरूप है, जब वह मनुष्यों के पाप को प्रेम वश क्षमा कर देता है तब मनुष्य को प्रेमपूर्ण क्यों नहीं होना चाहिए? ईश्वर को मनुष्य के प्रति प्रेम में पूर्ण होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसने अपने एक मात्र पुत्र को मनुष्यों की भलाई के लिए पृथ्वी पर भेज दिया। फिर, मनुष्य को अपने सभी आराध्य को अनुसरण करके प्रत्येक प्राणी-पड़ोसी से प्रेम पूर्ण व्यवहार करना चाहिए, यही मोक्ष की सीढ़ी है। मनुष्य के हृदय पक्ष को स्वीकार करके, श्रद्धा को मोक्ष का अनिवार्य लक्षण मानकर तथा मनुष्य को प्रेम को सीढ़ी बताकर तथा सभी मनुष्यों को ईश्वर की सन्तान मानकर ईसाई धर्म ने अहिंसा की प्रतिष्ठा स्थापित की।

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया। वस्तुत: प्रेम ही ईश्वर है, वहीं अहिंसा है। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नहीं है, उसका ज्ञान शुष्क ज्ञान है। इस तरह ईसाई धर्म में अहिंसा की भावनाएँ मानव सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई है। ईसाई परम्परा में जन-जीवन के प्रेम को ईश्वर प्रेम का रूप दिया गया है, जो अनियंत्रित है, जिसमें न कोई गांठ है, और न कोई सीमा ही है। वास्तव में प्रेम ही अहिंसा है और अहिंसा ही प्रेम है। प्रेम के बिना अहिंसा की और अहिंसा के बिना प्रेम की कल्पना ही नहीं की जा सकती। प्रेम भी वहीं होता है जहां प्रतिकार या द्वेष की भावना का लोप होता है। इसलिए ईसाई परम्परा में माना गया है कि जहां पर विनम्रता एवं विश्वबन्धुत्व के भाव पाये जाते हैं, वहीं पर ईश्वरीय राज होता है। ईश्वर की सेवा का अर्थ होता है कि पूरे मानव समाज के लिए ईश्वर को सेवा, मात्र किसी एक धर्म द्वारा प्रतिपादित ईश्वर की ही नहीं। ईश्वरीय राज्य पर तो गरीबों एवं अवहेलितो का अधिकार होता है।

धर्म के मूल मंत्र हैं- ईश्वर के प्रति नि:स्वार्थ प्रेम और उसकी इच्छा के प्रति आत्म-समपर्ण। इसी में विश्वास, क्षमा, दान आदि सद्‌गुण निकलते हैं। ईश्वरीय प्रेम के बिना मानव कल्याण संभव नहीं दान को भी इस परम्परा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि आध्यात्मिक प्यार दान का ही साररूप है। यानी दान के द्वारा ही आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया जा सकता है। जिस प्रकार जहाँ आध्यात्मिक या दैवी ज्ञान एवं प्यार होता है वहाँ ईश्वर होता है, ठीक उसी तरह वास्तविक आस्था एवं दान में भी ईश्वर का वास होता है। या यों कहा जाए कि सच्ची आस्था एवं सही दान ही ईश्वर है तो कोई अनुचित न होगा। ईश्वर, आस्था एवं दान को अलग नहीं किया जा सकता। कारण, ईश्वर से अलग होने के बाद या तो इन दोनों का अस्तित्व ही नहीं रह जाता और यदि रहता भी है तो अपूर्ण या असफल रूप में। यदि कोई ईश्वर को जानने का दावा करता है और वह दान के महत्त्व को नहीं जानता है इसका मतलब है कि वह ईश्वर को अधूरा ही जानता है। वह ईश्वर को ओठों से ही जानता है दिल से नहीं, अर्थात् उसे केवल किताबी ज्ञान की प्राप्ति हो सकी है हार्दिक ज्ञान की नहीं। क्योंकि दान ही तो उस आस्था का सार है, जिसके द्वारा ईश्वर को जाना जा सकता है। इस प्रकार ईसाई परम्परा अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष की अपेक्षा प्रेम, दान आदि विधेयात्मक पक्ष पर अधिक बल देती है।

2.11 जीसस के उपदेश

जीसस के उपदेश सीधे-सादे थे तथा मानव जाति के कल्याण एवं प्रेम की भावना से ओत-प्रोत थे। उन्होंने अपने आलोचकों के प्रति भी सहानुभूति दिखाई और धर्म की बहुत सी बातों को नये ढंग से कहा, ''मैं पुराने धर्म को विनिष्ट करने नहीं आया हूँ, अपितु इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्म को पूर्ण बनाने आया हूँ। ईसा के जीवन और उपदेशों को 'न्यू टेस्टामेंट' नामक पुस्तक में वर्णन किया गया है। ईसाइयों की यह धार्मिक पुस्तक 'बाईबिल' के नाम से प्रसिद्ध है। ईसा को मृत्यु के पश्चात् उनके चार शिष्यों-मैथ्यु, मार्क, ल्यूक और जॉन ने ईसा के भाषणों को संगृहीत कर चार 'गोस्पस' लिखें, जिनमें ईसाई धर्म के उपदेशों का उल्लेख है। इस आधार पर ही ईसाई धर्म के निम्नलिखित सिद्धान्त निर्धारित किये गये :

1. ईश्वर एक सर्वोपरि और सर्वत्र है। उसकी उपासना से ही सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है।
2. ईश्वर ही संसार का निर्माता, पालनहार और संहारकर्ता है। हम सब उसकी संतान है। अत: ईश्वर की दृष्टि से तब समान है। सब भाई-भाई हैं। हमें सभी के प्रति एक जैसा व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि ईश्वर बिना किसी भेद-भाव के सबसे प्रेम करता है।
3. प्रत्येक मनुष्य को सेवा, प्यार और अहिंसा से दूसरों के हृदय को जीतना चाहिए और दूसरों को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए। नि:स्वार्थ सेवा से स्वर्ग मिलता है।
4. जीसस ने दीनों, दलितों एवं उपेक्षितों को असीम आशा का संदेश दिया। उसने कहा, ''तुम गरीब धन्य हो, क्योंकि ईश्वरीय राज्य तुम्हारा ही है। जो आज रोते हैं वे ही कल हंसेंगे। जो भूखे हैं, वे ही संतुष्ट होंगे। जो विनम्र हैं, वे ही इस पृथ्वी के स्वामी होंगे।''
5. जीसस ने प्रेम, दया, करुणा तथा हृदय की पवित्रता पर बहुत अधिक बल दिया। उसने कहा कि चरित्र वाले व्यक्तियों को ही ईश्वर के राज्य में स्थान प्राप्त होता है। जीसस ने कहा, ''जिनके हृदय में दया है, वे धन्य हैं, क्योंकि ईश्वर के दरबार में उन्हें ही दया मिलेगी। जिनका हृदय पवित्र हैं, वे धन्य हैं, क्योंकि ईश्वर के साक्षात्कार के वे ही अधिकारी है।''
6. जीसस ने धन इकट्ठा करने की प्रवृत्ति की भी निंदा की। उन्होंने उपदेश दिया कि धन-संचय में विश्वास करने वाले ईश्वर के राज्य में प्रेवश नहीं कर सकते हैं।
7. जीसस ने कहा कि एकान्त में ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए, और दान तथा व्रत करने के बाद उसका प्रचार नहीं करना चाहिए उसने कहा, ''जो लोग अच्छा काम करने के बाद उसका प्रचार करते हैं, वे केवल प्रचार चाहते हैं, ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं चाहते।''
8. जीसस ने शान्ति और क्षमाशीलता पर बहुत अधिक जोर दिया। उसने कहा था, ''प्रतिशोध की भावना निन्दनीय है।'' यदि कोई तुमसे घृणा करें, तो तुम उससे प्रेम करो। यदि कोई तुम्हारे साथ शत्रुता का व्यवहार करें, तो तुम उसका साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करो। शान्ति के प्रेमी धन्य हैं, क्योंकि वे ही ईश्वर की सच्ची संतान है। ''जीसस ने मानव प्रेम को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया था। वे स्वयं मानव प्रेम के प्रतीत थे। उन्होंने कहा था, अपने शत्रुओं से भी प्यार करो, जो तुम्हें अभिशाप दे, उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुमसे घृणा करे, उसकी भलाई करो। जो तुमसे फायदा उठाते हैं तथा तुम पर अत्याचार करते हैं, उनकी भलाई के लिए ईश्वर से प्रार्थना करो, क्योंकि तुम्हारा स्वर्ग में रहने वाला पिता ईश्वर, बुरे और अच्छे सभी पर सूर्य की रश्मियों को बिखेरता है तथा सभी को वर्षा की बूंदों से शीतल करता है।''
9. सहनशीलता-आत्मा ही जीवन के ऊँचे मूल्य है। मनुष्य को त्यागमय जीवन व्यतीत करना चाहिए।
10. मनुष्य को ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयास करते रहना चाहिए।
11. जीसस ने दूसरे लोगों की आलोचना करने की प्रवृत्ति की भी निन्दा की। उन्होंने कहा, ''अगर अपनी निन्दा नहीं चाहते हों, तो किसी परजन के आचरण और कर्म की निंदा मत करो।''
12. ईसा ने आचार सम्बन्धी अन्य शिक्षाएं भी दी थी। उन्होंने कहा थी कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण और चरित्र को सुधारना चाहिए, ताकि ईश्वर का राज्य घोषित कर सके। इसके लिए सदा सत्य बोलना चाहिए।
13. ईसा ने रोम के धर्म में प्रचलित बुराइयों की आलोचना की। ''प्रेम, विश्वास तथा भक्ति में ही ऐसे धर्म तथा गुण हैं, जिन्हें अपनाकर मनुष्य ईश्वर तक पहुंच सकता है।'' उन्होंने कर्मवाद पर बल देते हुए कहा था, ''कर्मठ पुरुष ही अमरत्व प्राप्ति का अधिकारी है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14. जीसस कर्म सिद्धान्त में विश्वास करते थे। उन्होंने कहा था कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी मृत्यु के बाद ईश्वर के सामने अच्छे और बुरे कार्यों का लेखा-जोखा देना पड़ता है। इसीलिए ईसा ने कहा था, ''तुम दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा दूसरों से अपने लिए आशा करते हो।''

ईसा के प्रधान उपदेश शैलोपदेश (पहाड़ पर के उपदेश Sermon on the Mount) के नाम से विख्यात है। शैलोपदेश में ईसाई धर्म के नैतिक विचार का चमत्कारपूर्ण विवेचन है। ईसा ने अपने उपदेशों को जनता के बीच प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया।

2.12 शैलोपदेश (Sermon on Mount)

शैलोपदेश को ईसाई धर्म के अनुयायी अत्यन्त ही श्रद्धा से ग्रहण करते है। शैलोपदेश का आरम्भ इस प्रकार होता है-

1. जिनके अन्दर दीन भाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं क्योंकि ईश्वर का साम्राज्य उन्हें प्राप्त होगा।
   (Blessed are the poor in spirit, for their is the kingdom of God)
2. विनयी पुरुष धन्य है क्योंकि वे पृथ्वी पर विजय प्राप्त कर लेंगे।
   (Blessed are the meek for they shall inherit the earth)
3. दयालु पुरुष धन्य है, क्योंकि वे ही ईश्वर की दया प्राप्त कर सकेंगे।
   (Blessed are the merciful for they shall receive mercy)
4. जिनका अन्त:करण शुद्ध है, वे धन्य हैं क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार उन्हें होगा।
   (Blessed are pure in heart for they shall see God)
5. शान्ति के प्रचारक धन्य है क्योंकि वे भगवान के पुत्र कहें जाएंगे।
   (Blessed are the peace makers for they shall be called children of God.")

उक्त उपदेशों में नैतिक ऐश्वर्य एवं उदारता का भाव प्रस्फुटित होता है। ये उपदेश सरल है, तथा हृदय को प्रभावित करते हैं। इनमें विश्वास और आशा भी सन्निहित है। ईसा ने हत्या, व्यभिचार, हिंसा आदि अधर्मों का निषेध करते समय आन्तरिक पक्ष पर बल दिया। उन्होंने अपराधों के मात्र बाह्य पक्ष को ही दोषी नहीं ठहराया है बल्कि अपराधों के आन्तरिक पक्ष को भी दोषी बतलाया है क्योंकि वे अपराध को जन्म देते हैं। इस प्रकार उन्होंने वैधानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर बल दिया है। उदाहरण स्वरूप ईसा के अनुसार हिंसा से बचने के लिए सिर्फ हिंसा का परित्याग ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि क्रोध आदि प्रवृत्तियों का नियंत्रण भी आवश्यक है। ये प्रवृत्तियां ही हिंसा के लिए बाध्य करती हैं। ईसाई धर्म के नीतिशास्त्र की अनुपम विशेषता क्षमाशीलता पर बल देना कहा जा सकता हैं। शत्रुओं के प्रति प्रतिकार की भावना रखने की अपेक्षा क्षमाशीलता की भावना इसी विश्वास को प्रतिष्ठित करता है। कुछ विचारकों ने क्षमा और अहिंसा का पालन को निर्बलता का परिचायक कहा है। आज के संसार मे जब मानव अपनी शक्ति और प्रभुता के लिए संघर्ष करता है, तब क्षमा अथवा अहिंसा को अव्यावहारिक मानना स्वाभाविक है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि क्षमा निर्बलता का सूचक है। उसके विपरीत क्षमा अथवा अहिंसा सबल व्यक्तियों की शस्त्र है।

2.13 ईसाई धर्म की सामाजिक भूमिका

ईसाई धर्म की सामाजिक भूमिका का उल्लेख करते हुए विचारकों ने लिखा है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने इस देश के आधुनिकीकरण और नव-विकास में बड़ा योग दिया। शिक्षा के, विशेषकर स्त्री-शिक्षा के प्रचार व विस्तार के क्षेत्र में इनका कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पहले ईसाई धर्म के सन्देशों के प्रचारार्थ मुद्रणालय खोले। इससे प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई। इन सबके फलस्वरूप विशेषकर अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप, लोगों के सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगे तथा देश के नवीन जागृति आने लगी। ईसाई धर्म का प्रभाव केवल विकसित भारतीयों के जीवन पर ही नहीं, अपितु जनजातीय जीवन पर भी उल्लेखनीय रूप से पड़ा। यह प्रभाव ईसाई मिशनरियों या पादरियों के क्रियाकलापों के माध्यम से देखने को मिला। इन ईसाई मिशनरियों ने अपने कार्य की सुविधा के लिये जो सड़के आदि बनवाई, उससे बाहरी संस्कृति से सम्पर्क की प्रक्रिया और भी बढ़ गई। इसका फल यह हुआ कि जन-जातियों की ललितकला, धार्मिक विचार व संस्कार आदि धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे। मिशनरियों ने जनजातीय क्षेत्रों में अनेक स्कूल खोले एवं इन स्कूलों में शिक्षा देने के साथ-साथ जनजातीय बच्चों में ईसाई धर्म के उपदेशों का भी खूब प्रचार किया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राय: एक सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक तथा धार्मिक संस्थाऐं जन-कल्याण व जन-सेवा के कार्य करती रही हैं। जन-जातियों की सांस्कृतिक उन्नति के लिये ईसाई धर्म-संस्थाओं ने महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। कुछ तथाकथित 'अछूत' जातियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति में भी सुधार ला दिया। ईसाई धर्म के सम्पर्क में तर्कपूर्ण तथा आलोचनात्मक दृष्टिकोण के विकसित होने के कारण सामाजिक अन्ध-विश्वासों और रूढ़ियों का अन्त होने लगा। भौतिकवाद तथा बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण धार्मिक विधियों तथा कर्मकाण्डों का खण्डन होने लगा। ईसाई धर्म का एक उल्लेखनीय प्रभाव यह रहा कि इसके प्रभाव के कारण कुछ धर्म व समाज सुधारकों ने हिन्दू धर्म के दोषों को दूर करने के उद्देश्य से नये धार्मिक सम्प्रदायों को विकसित किया। राजा राममोहन राय ने बंगाल में जिस ब्रह्म समाज की स्थापना की वह विशेषत: ईसाई धर्म के सिद्धान्तों पर ही आधारित था। ईश्वर एक है तथा सब व्यक्ति समान हैं और आपस में भाई-भाई हैं- ये इस संस्था के प्रमुख सिद्धान्त थे इसने जाति प्रथा और मूर्ति पूजा का विरोध किया तथा सभी धर्मों के सद्गुणों को अपनाने का आदेश दिया। ब्रह्म समाज के ही समान बम्बई में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना सन् 1867 में हुई। ब्रह्म व प्रार्थना समाज के सदस्यों ने स्त्री-शिक्षा, विधवा-पुनर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का खुले आम प्रचार किया। उसी प्रकार ईसाई धर्म के प्रभावों के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भी कुछ प्रमुख सुधारवादी आंदोलनों का जन्म हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा सन् 1875 में 'आर्य समाज' की स्थापना उन्हीं आंदोलनों में से एक था। स्वामी दयानन्द प्राचीन और अर्वाचीन युगों के आदर्शों के बीच एक सेतु की तरह थे। उनका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों को फिर से जाग्रत करना था। परन्तु इन प्रयत्नों के पीछे पाश्चात्य दर्शन, धर्म तथा विचारों का पर्याप्त योगदान रहा है। उसी प्रकार यह ईसाई धर्म व आदर्श का ही प्रभाव था कि स्वामी विवेकानन्द जी ने वेदान्त की एक नवीन और वास्तविक व्याख्या करते हुए धर्म से दूर न जाकर भी धर्म के आधार पर ही भारत को समानता, प्रेम और भ्रातृभाव का एक नया पाठ पढ़ाया। ईसाई धर्म में कहा गया है, ''अपने को पहुचानो और पड़ोसी से प्रेम करो।'' स्वामी विवेकानन्द जी ने इसी को और विस्तृत रूप में इस प्रकार कहा है, ''पुराने धर्म का यह कहना है कि वह नास्तिक है जो ईश्वर पर विश्वास नहीं करता, पर नया धर्म यह कहता है कि वह महानास्तिक है जो अपने-आप पर विश्वास नहीं करता। अत: सर्वप्रथम अपने-आपको पहचानों तो फिर ईश्वर को भी पहचान सकोगे क्योंकि जाग्रत ईश्वर मन्दिर में नहीं, तुम्हारे ही हृदय में रहता है।''

2.14 सारांश

इस प्रकार ईसाई धर्म में शुद्धता को नैतिकता का आवश्यक अंग माना गया है तथा सदाचारपूर्ण एवं पवित्र जीवन पर बल दिया गया है। उसमें गृहस्थ जीवन का आनंद उठाते हुए घृणा, असत्य, प्रतिद्वन्द्विता एवं हिंसा से दूर रहने का उपदेश दिया गया है तथा एकेश्वरवाद, विश्व बन्धुत्व, दया, सेवा, प्यार, सहनशीलता, शान्ति, उदारता, विनम्रता तथा आन्तरिक पवित्रता आदि गुणों पर बल दिया। इस प्रकार तत्कालीन निराशा भरे समाज में ईसा ने प्रेम, करुणा और आशा का संदेश दिया।

2.15 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहु वैकल्पिक प्रश्न

1. जीसस के उपदेशों के कितने स्रोत हैं ?
   (अ) 5 (ब) 7 (स) 6
2. जीसस के प्रतिपालक पिता का क्या नाम था?
   (अ) जोसेफ (ब) डेविड (स) सोलोमन
3. जीसस के उपदेश किस नाम से प्रसिद्ध हैं?
   (अ) शैलोपदेश (ब) दस आदेश (स) पंचशील
4. संत पीटर ने ईसाई जीवन की कितनी सीढ़ियां बताई हैं?
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 6
5. यूनानी अधिकारियों से ईसा को किसने पकड़वाया था।
   (अ) जूतास (ब) पायलेट (स) हैरोय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) लघु निबन्धात्मक प्रश्न

1. ईसामसीह का संक्षिप्त जीवन चरित्र लिखिए।
2. त्रयेक परमेश्वर का क्या अर्थ है?
3. मानव सम्बंधी चिन्तन पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।
4. शैलोपदेश क्या हैं? वर्णन करें।

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. ईसाई धर्म में ईश्वर विचार का अशुभ विचार पर निबंध लिखिए।
2. ईसाई धर्म में वर्णित नीति विचारों का वर्णन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई - 3

इस्लाम धर्म-दर्शन में अहिंसा एवं शान्ति

संरचना

3.0 प्रस्तावना

3.1 उद्देश्य

3.2 परिचय

3.3 हज़रत मौहम्मद का जीवन-चरित्र

3.4 इस्लाम धर्म का प्रसार

3.5 इस्लाम धर्म के सिद्धान्त

3.6 इस्लामी विश्वास वचन

3.7 स्वर्गदूत तथा अन्य आत्माएँ

3.8 ईश्वर-प्रेरित धर्मशास्त्र

3.9 नबी या पैगम्बर

3.10 न्यायदिवस

3.11 पूर्व-नियति

3.12 इस्लाम का कर्मकाण्ड

- 3.12.1 नमाज
- 3.12.2 रमजान और रोजा
- 3.12.3 जकात
- 3.12.4 हज

3.13 जिहाद

3.14 इस्लाम में मानव विचार

- 3.14.1 मानव-स्वतंत्रता
- 3.14.2 इस्लाम में मानव की अंतिम गति

3.15 इस्लाम में जगत विचार

3.16 इस्लामी दर्शन और सूफीमत

- 3.16.1 सूफीमत
- 3.16.2 सूफी का अर्थ
- 3.16.3 मुक्ति-मार्ग
- 3.16.4 जीव
- 3.16.5 आध्यात्मिक विचार
- 3.16.6 सूफीमत के उदय के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3.17 सूफी संत और सम्प्रदाय
3.18 नैतिक एवं अहिंसक विचार एवं व्यवस्था
3.19 खुदा का डर और संयम
3.20 इस्लाम जीवन व्यवस्था एवं सामाजिक उत्तरदायित्व
3.21 सामाजिक भूमिका
3.22 सारांश
3.23 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

गैर भारतीय धर्म दार्शनिक परम्परा में इस्लाम धर्म का महत्पूर्ण स्थान है। इस धर्म ने भाईचार, मातृत्व एवं सामाजिक सुव्यवस्था का बड़ा सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है।

3.1 उद्देश्य

इस पाठ के अन्तर्गत हम इस्लाम धर्म-दर्शन में अहिंसा एवं शांति के संबंध में अध्ययन कर पाएँगे।

3.2 परिचय

यहूदी और ईसाई धर्म के समान इस्लाम भी पैगम्बरी धर्म है। इस्लाम, यहूदी और ईसाई दोनों धर्मों से निकला है, इसलिये दोनों धर्मों के तत्त्व इस्लाम में पाये जाते हैं। परन्तु इस्लाम धर्म की अपनी विशेषतायें हैं जिसके कारण यह विश्व का लोकप्रिय प्रचलित धर्म है। यहूदी और ईसाई, दोनों धर्मों में संन्यास के लिये स्थान है। यहूदियों के बीच इसीन लोग थे और ईसाइयों में अभी भी सन्यास को ग्रहण योग्य समझा जाता है। इसके विपरीत इस्लाम में सन्यास को प्रश्रय नहीं दिया गया है। इस्लाम के अनुसार, गृहस्थ जीवन में रहकर, ईश्वर की आज्ञा पालन करता हुआ और अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया अर्पित कर, प्रत्येक मुसलमान स्वर्ग का अधिकारी हो सकता है। अत:, इस्लाम के अनुसार, प्रत्येक मुसलमान ऐहिक (सांसारिक) और पारलौकिक, दोनों के सुखों को प्राप्त कर सकता है। इसलिये इस्लाम को संसार-पलायनवादी धर्म नहीं कहा जा सकता है।

इस्लाम का केन्द्र स्थान अरब है। इससे पहले वहां पर बहुदेवतावाद एवं घोर मूर्तिपूजन से लेकर दृढ़ अदेवतावाद का प्रसार था। किन्तु मुहम्मद साहब, जिनका जन्म मक्का में अब्दुल्ला और अम्ना के पुत्र के रूप में 22 अप्रैल 571 ई. को हुआ था, ने वहां के जन-जीवन को अपने एक नए धार्मिक-विचार से प्रकाशित किया और उन्हीं की दी गई ज्ञान-ज्योति इस्लाम के नाम से जानी गई। हजरत मुहम्मद की गणना विश्व के महान् पुरुषों में की जाती है। धर्म प्रवर्तक होते हुए भी उन्होंने गृहस्थ के रूप में अपना जीवन व्यतीत किया। इसके अतिरिक्त वे एक राजनेता भी थे। उन्होंने एक ऐसे साम्राज्य की नींव डाली जिसका प्रसार आगे चलकर एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका के अन्य देशों में हुआ। उनके कार्यों के फलस्वरूप एक नई सभ्यता तथा संस्कृति का जन्म हुआ। इस्लाम जिसका शाब्दिक अर्थ अरबी 'सलाका से निकला है, उसके अनगिनत पर्यायवाची अर्थ प्राप्त होते हैं - जैसे शान्ति, समर्पण, शुद्धता एवं वचनबद्धता आदि की शिक्षाओं का संकलन उनके शिष्यों के द्वारा 'हदीस' नामक ग्रंथ में किया गया एवं इस्लाम के सिद्धान्तों का संकलन भी उनके शिष्यों द्वारा 'कुरान' नाम ग्रंथ में किया गया। कुरान शरीफ में इस्लाम धर्म के सिद्धान्त हैं जो मुहम्मद साहब को अल्लाह से प्राप्त हुए थे।

3.3 हजरत मौहम्मद का जीवन चरित्र

इस्लाम धर्म के जन्मदाता हजरत मौहम्मद का जन्म अरब के देश के मक्का नगर में 571 ईस्वी में हुआ। इनके पिता एक साधारण व्यापारी थे। बचपन से ही मौहम्मद एक विचारशील व्यक्ति थे। अल्प आयु में ही वे अचेतन अवस्था में ध्यानावस्थित मुद्रा में अल्लाह का ध्यान करते थे। अचेतन अवस्था समाप्त होने पर वह उपदेश दिया करते थे जिसको ईश्वरीय प्रेरणा कहा गया है, इनके उपदेशों की विशेषता यह थी कि यह समाधि अवस्था में ही उनका उच्चारण करते थे जिनको बाद में इनके शिष्यों ने एकत्रित कर लिया और 'कुरान' का नाम दिया। इसी को इस्लाम धर्म का नाम दिया गया, इनके शिष्यों ने इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रतिपादन मक्का से ही प्रारम्भ किया जिनका अत्यधिक विरोध हुआ और जिनके कारण स्वयं मौहम्मद का जीवन संकट में पड़ गया। 625 ईस्वी में इनको मदीना निवासियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ने निमन्त्रण भेजा और इस प्रकार मौहम्मद मक्का त्याग कर मदीना पहुँच गये। 622 ईस्वी में ही हिजरी सन् प्रारम्भ होता है। मदीना से ही इस्लाम धर्म का प्रचार एवं प्रसार सम्पूर्ण अरब देशों में हुआ। मदीना के पश्चात् मक्का निवासियों ने भी हजरत मौहम्मद के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया। हजरत मौहम्मद की मृत्यु के 100 वर्ष पश्चात् इस्लाम धर्म चारों ओर फैल गया था। स्वयं हजरत मौहम्मद ने 532 ई. तक मदीना को केन्द्रीय रियासत में भली-भांति नींव सुदृढ़ करने के साथ हज्जाज और नजत के कुछ भागों तथा अरब के भी कुछ भागों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। उनकी मृत्यु के पश्चात् बिड़ोथिनी ने विद्रोह कर दिया। परन्तु बहुत शीघ्र ही इस विद्रोह को कुचल दिया गया और उसके पश्चात् जिस तेजी से इस्लाम धर्म का प्रसार हुआ उस पर आसानी से विश्वास भी नहीं होता।

3.4 इस्लाम धर्म का प्रसार

इस्लाम धर्म की प्रथम लहर ने बाईजेनटाइन साम्राज्य से सीरिया छीन लिया जो कि पहले से ही आंतरिक कलह और फारस के आक्रमणों से कमजोर हो चुका था। 625 ईस्वी में यरुसलेम भी इसके आधिपत्य में आ गया। 640 ई. में मिस्र पर आक्रमण किया गया जिसके फलस्वरूप सिकन्दरिया भी 647 ई. में इनके प्रभुत्व में आ गया। उसी समय में इस्लाम मतावलम्बियों ने फारस पर भी अधिकार जमाना प्रारम्भ कर दिया था परन्तु उस पर पूर्ण अधिकार 651 ई. में ही सम्भव हो सका जबकि वहां के अन्तिम ससेनियन राजा की हत्या कर दी गयी।

अरबों का पश्चिमी देशों की ओर प्रगति का क्रमिक इतिहास बहुत कुछ अस्पष्ट है। परन्तु इतना अवश्य सत्य है कि 660 ईस्वी में खलीफा के सिपाही ट्यूनीशिया तक बढ़ गये थे जहां कि उन्होंने कैरवान शहर की स्थापना की। सम्पूर्ण प्रदेश 700 ईस्वी तक ग्रीक (यूनानी) सेनाओं से खाली करा लिया गया और वहां की बर्बर जाति को कुचल दिया गया। इन शहरों के अधिकतर निवासी स्पेन और सिसली को चले गये। यहां की प्राचीन सभ्यता के चिन्हों को शीघ्र ही मिटा दिया गया।

711 ईस्वी के लगभग अरबों का आधिपत्य अफ्रीका में इतना सुदृढ़ हो चुका था कि वहां से वे सरलता से स्पेन तथा पुर्तगाल तक आक्रमण कर सकते थे। फ्रांस के दक्षिणी भाग पर भी इनका अधिकार आधी सदी तक रहा और वे इतने अधिक शक्तिशाली हो गये कि पिरेनीज पर्वत पार कर स्पेन पहुंच गये। परन्तु शीघ्र ही आठवीं शताब्दी में अरबों ने भूमध्य सागर में एक समुद्री बेड़ा बनाने और कुस्तुनतुनिया पर अधिकार स्थापित करने के विचार को कुछ समय के लिये त्याग दिया। आन्तरिक स्थिति में कुछ समस्यायें उत्पन्न होने के कारण मुस्लिम विजयप्रयाणों का दिशानिर्देश का केन्द्र मदीना से हटकर ईराक ले जाया गया जहां से उसे दमिश्क और वहां से फिर वापिस ईराक ले जाया गया जिस समय 762 ई. में बगदाद को नई राजधानी बनाया गया था उस समय साम्राज्य की सांस्कृतिक छटा चरम सीमा को पहुंच चुकी थी, परन्तु उसी के लगभग विकेन्द्रीकरण के तत्व भी परिलक्षित होने लगे थे। 756 ई. में स्पेन ने केन्द्रीय सरकार से अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया था और नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में उत्तरी अफ्रीका में खलीफा के फरमान का कोई महत्त्व नहीं रह गया था। परन्तु इस्लाम के फैलाव के लिये पूर्व में द्वार खुल गये थे यद्यपि यहां तक पहुंचते-पहुंचते तलवार का बल प्राय समाप्त सा हो गया था।

इस्लामी युद्ध का एक उद्देश्य राजनीतिक भी था। जैसे-जैसे इनका अधिकार भारत तथा एशिया के दूसरे भागों में होता गया वहां पर राजनैतिक दबाव के द्वारा इस्लाम का प्रसार किया गया। भारत में अरबों के आक्रमण 7वीं शताब्दी में प्रारम्भ हो गये थे परन्तु वहां उनके राज्य की स्थापना बलूचिस्तान पर अधिकार करने के पश्चात् ही सम्भव हो सकी। 712ई. में सिंध का बहादुर राजा दाहिर युद्ध में हार गया और मारा गया और उसके पश्चात् मुलतान पर भी अरबों का अधिकार हो गया।

3.5 इस्लाम धर्म के सिद्धान्त

कुरान शरीफ के अनुसार इस संसार का जन्मदाता अल्लाह है और विश्व के जितने भी जीव हैं वे सब अल्लाह के बन्दे (दास) हैं। इसी कारण से कुरान में अल्लाह का अथाह महत्त्व बतलाने के साथ-साथ उसके कार्य में अटूट आस्था का होना आवश्यक बतलाया गया है। अल्लाह में आस्था के अतिरिक्त किसी और प्रकार से इस संसार के निर्माणकर्त्ता की उपासना करना वर्जित है। अल्लाह के प्रत्येक बन्दे को कयामत के अन्तिम समय तक अल्लाह के न्याय में विश्वास रखना होता है। इसके साथ ही कुरान में इस बात पर भी बल दिया गया है प्रत्येक व्यक्ति को भले कर्म करने में विश्वास रखना चाहिये। मौहम्मद बल साहब का मानव के लिये मुख्य रूप से यह संदेश है कि बहुईश्वरवाद का विरोध, मूर्तिपूजा का विरोध, नास्तिकों का विरोध और द्वैतवाद का विरोध करना चाहिये। वास्तव में मुस्लिम वह व्यक्ति है जो कि 'नमाज' (प्रार्थना) पढ़ता है, रोजा रखता है, जीवन में एक बार मक्का अवश्य जाता है, दान देता है, अपने वायदे का पूरा है तथा दुविधा के समक्ष शांति से कार्य करता है। कुरान शरीफ के 11वें अध्याय के अनुसार ''अल्लाह जड़ और आत्मा से उच्च है।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कुरान शरीफ के अनुसार ''अल्लाह पर सब कुछ आधारित है, वह न उत्पन्न करता है और न ही उत्पन्न किया जाता है और उसके समान कोई भी नहीं है।'' इस्लाम के सिद्धान्तों को संक्षिप्त रुप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि अल्लाह के सिवा और कोई भी पूजनीय नहीं है तथा मोहम्मद इसके रसूल हैं।

'इस्लाम' से उस धर्म का अभिप्राय है जिसमें व्यक्ति अपने को ईश्वर की इच्छा पर अर्पित कर दे। इस्लाम के स्वीकारने वाले को 'मुसलमान' संज्ञा दी जाता है। मुसलमान वह है जो ईश्वर के एकत्व (तौहीद) में अपने सारे हृदय और मन के साथ विश्वास (ईमान) रखता है और अपने मुंह से तथा कर्मों के द्वारा इस्लाम के विश्वास को व्यक्त करता है। जो भी काम कोई मुसलमान करे, उसे उस काम को प्रारम्भ करने के पहले सच्चे दिल से कहना चाहिये। 'परम करुणामय एवं दयालु परमेश्वर के नाम पर (बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम)।' उस अल्लाह की पूजा आराधना करने के लिये किसी माध्यम (मूर्ति आदि) अथवा पुजारी आदि की आवश्यकता नहीं। कुरान के अनुसार निम्नलिखित पांच मुख्य कार्य का प्रत्येक मुसलमान को पालन करना चाहिये।

1. प्रतिदिन पाँच बार नमाज में कलमा पढ़ना।
2. रजमान के माह में रोजा (व्रत) रखना।
3. प्रत्येक माह दान देना।
4. जीवन में बिना कर्ज लिये एक बार मक्का की हज करना।
5. मुस्लिम समाज की सहायता के लिय ढाई प्रतिशत के हिसाब के जकात (कर का नाम) देना।

हजरत मौहम्मद ने इस्लम के अन्तर्गत छोटे-बड़े, गरीब-अमीर में समानता की शिक्षा दी। समाज में किसी भी प्रकार के भेद-भाव को स्थान नहीं दिया। उन्होंने कुरान शरीफ में निम्नलिखित शिक्षायें दी-

1. अल्लाह एक और अनादि है।
2. इस पृथ्वी पर मनुष्य केवल एक बार जन्म लेता है।
3. मृत्यु के उपरांत जब शव कब्र में रखा जाता है तब दूसरा जीवन प्रारम्भ होता है जिसे 'बरजाख' कहते हैं।
4. कयामत (महाप्रलय) के पश्चात् नवीन जीवन का आरम्भ होता है। कब्र में कोई शरीर नहीं रहता केवल एक हड्डी बचती है जिसे अलअज्ब कहते हैं। कयामन के दिन इस हड्डी (अल-अज्ब) से नव-जीवन उत्पन्न होता है।
5. कुरान में बहिश्त (स्वर्ग) और दोजख (नरक) के विवरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह कल्पना बाईबिल के प्रभाव से इस्लाम में आई।
6. कुरान में जीवन का मुख्य उद्देश्य अल्लाह के साथ मिलना बतलाया गया है।
7. इस्लाम कोई व्यक्तिगत धर्म नहीं है परन्तु इसका क्षेत्र सम्पूर्ण समाज है। इसमें राजनीति, न्याय, शासन प्रबन्ध, विवाह, तलाक, युद्ध और सन्धि आदि सभी के बारे में विस्तृत रूप से समावेश किया गया है।

3.6 इस्लामी विश्वास-वचन

1. ईश्वर, 2. स्वर्गदूत और आत्माओं, 3. पवित्र शास्त्रों, 4. नबियों, 5. पुनरुत्थान-दिवस और 6. ईश्वर द्वारा पूर्वनियति में विश्वास को इस्लामी विश्वास-वचन कहा जा सकता है। इनकी व्याख्या निम्नलिखित रीति से की जा सकती है।

ईश्वर - एक अल्लाह (अल्ला तआला) को छोड़कर किसी अन्य आराध्य देवता को ईश्वर नहीं कहा जा सकता है। इसे एकेश्वरवाद कहा जाता है। इस्लाम में शुद्ध एकेश्वरवाद यहूदी धर्म से लिया गया है और इस एकेश्वरवाद को यहूदी धर्म में ईश्वर-प्रदत्त आज्ञा में प्रथम स्थान दिया गया है। फिर ईसाई धर्म के अनुसार, सभी मानवजातियों में ईश्वर ने नबियों को भेजा है कि वे ईश्वर के एकत्व (तौहीद) को सभी को बतायें। ठीक इसी प्रकार सूरा में बताया गया है कि ईश्वर ने सभी जातियों के बीच अपना नबी भेजा है कि वे सभी को ईश्वर के एकत्व का चेत करायें और उन्हें चेतावनी दें। फिर इस्लाम के अनुसार समस्त मानवजाति एक ही परिवार है, अर्थात् एक ही विश्व-कुटुम्ब है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता, एकत्व और शुभत्व पर बल दिया गया है। ईश्वर का एकत्व कोई दार्शनिक विवेचन नहीं, वरन् यह धार्मिक लगन और धुन का उद्‌गार है। ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का रचयिता और उसका स्वामी कहा गया है क्योंकि सम्पूर्ण विश्व की कोई भी घटना बिना ईश्वर-ज्ञान और अनुमति के सम्भव नहीं हो सकती है। ईश्वर के जिन गुणों का उल्लेख किया गया है उसे संक्षेप में यहां वर्णित किया जा सकता है।

ईश्वर तेरी स्तुति हो, जो सभी वस्तुओं का रचयिता और पालक है, जो ऐश्वर्यपूर्ण सिंहासन का स्वामी है, जो अपने सच्चे बन्दों को सही मार्ग पर चलाता है, जिसने अपने रसूल को चुना, उसको आशीष और शन्ति दी। वह ईश्वर एक है और अकेला है और उसका कोई साथी नहीं, कोई बराबर उसके नहीं और जो अनन्त है, उसका न कोई आदि है और जो शाश्वत और नित्य है। जो अशरीरी है और जिसे न किसी द्रव्य और न किसी गुणों के द्वारा सीमित किया जा सकता है। ईश्वर सभी सत्ताओं से ऊपर और अतीत है, तो भी सभी घटनाओं का द्रष्टा है और प्रत्येक जीव के उसके सभी अंगों की अपेक्षा निकटतम है। वह अभी सृष्ट जीवों से भिन्न और परे है तो भी परलोक में वह अपने सभी विश्वासियों को निस्सन्देह दिखाई देगा। ईश्वर सर्वशक्तिमान है और वह सदा जागता रहता है और जिसमें किसी भी प्रकार का ह्रास नहीं रहता है। अपनी इच्छा के अनुसार उसी ने मानव की रचना की, उसका वह निर्वाह करता है और आयु को प्रदान करता है। अच्छी और बुरी सभी घटनाओं का संचालक है।

स्वर्गदूत तथा अन्य आत्मायें

यहूदी धर्म में भी स्वर्गदूत, शैतान, भूत-प्रेत के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। अत: इस्लाम में भी स्वर्गदूतों के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। ये सूक्ष्मशरीरी बताये गये हैं और ज्योति से इनकी रचना ईश्वर ने की है। इनमें स्त्री-पुरुष का भेद नहीं रहता है और ये न खाते और ने कुछ पीते हैं। ये स्वर्गिक जीव कहे जा सकते हैं। इनका मुख्य गुण है कि वे ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करें और उसकी नित्य स्तुति करें। चार मुख्य स्वर्गदूतों का उल्लेख किया जाता है, अर्थात् जबरैल जो प्रकाशना के स्वर्गदूत हैं जिनके द्वारा ईश्वर का संदेश नबियों को प्राप्त होता है, माइकेल, अस्त्रायफिल जो पुनरुत्थान के दिन तुरही फूंकेगें और अज्रायल जिन्हें यमदूत की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि वे मानव देह से, मृत्युकाल में, आत्मा को अलग करते हैं। इसके अतिरिक्त मुनकर और नकीर, दो स्वर्गदूत हैं जो सभी मानवों के कर्मों का उल्लेख या तालिका रखते हैं।

स्वर्गदूतों के अतिरिक्त, यहूदी और ईसाई धर्मों के समान, शैतान (इबलीस) का भी अस्तित्व स्वीकारा गया है। परंपरा के अनुसार, शैतान भी प्रारंभ में एक बड़ा स्वर्गदूत था। पर जब ईश्वर ने उसे कहा, 'आदम को झुककर उसका आदर करो', तो उसने ऐसा करने से इन्कार किया। इस आशा की अवज्ञा करने के फलस्वरूप उसे शैतान के रूप में स्वर्ग से ढकेल कर पृथ्वी कर गिरा दिया गया। स्वर्गदूतों के अतिरिक्त अच्छे और बुरे जिन के अस्तित्व को भी स्वीकारा गया है। इनकी रचना ईश्वर ने आग से की है।

ईश्वर-प्रेरित धर्मशास्त्र

ईश्वर सभी युगों में अपने विषय में नबियों को भेजकर सच्चे संदेश को देता रहा है। इस संदर्भ में स्वीकारा जाता है कि मूर्तिपूजा के विरुद्ध एकेश्वरवाद की सही शिक्षा नबी इब्राहिम के द्वारा मानवों को दी गयी। फिर नबी मूसा के द्वारा आदेश (निदम) दिया गया, दाऊद नबी के द्वारा भजनसंहिता (ज़बूर) तथा पैराम्बर ईसा के द्वारा इंजील दी गयी है। पर यहूदियों ने ईश्वर के दिये धर्मशास्त्र को विकृत कर दिया और ईसाईयों ने ईसा मसीहा को 'ईश्वर का पुत्र' बनाकर ईश्वर के स्वरूप को ही बिगाड़ दिया है। ईश्वर न शरीरी है और न उसकी शरीरी संतान हो सकती है। इसलिये ईश्वर के संदर्भ में इब्राहिम नबी के द्वारा शुद्ध एकेश्वरवाद की शिक्षा पैगम्बर मुहम्मद के द्वारा अंतिम रूप से दी गयी है। ईश्वर की प्रकाशना शुद्ध रूप से कुरान में दी गयी है।

कुरआन अल्लाह का अन्तिम कलाम (वाणी) है। यह इस्लामी शिक्षाओं और कानून का उद्‌गम स्रोत है। विश्वास व आस्था की बात हो या चरित्र व आचरण की, मानवता का इतिहास हो, या उपासना, ज्ञान और विवेक की बातें हो या अल्लाह से इन्सान के ताल्लुक और इन्सान के इन्सान से ताल्लुक की, कुरआन हर पहलू पर बहस करता है। ऐसी तर्कपूर्ण शिक्षाएँ, जिन पर सामाजिक न्याय, अर्थ-व्यवस्था, राजनीति, विधि-निर्माण, न्याय शास्त्र, कानून और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बधों की इमारतें खड़ी की जा सकती हैं, ये हैं पवित्र कुरआन के कुछ प्रमुख विषय। कुरआन ईश्वर की किताब है। यह किताब अरब के रहने वालों के बीच अवतरित हुई थी, जिनकी भाषा अरबी थी। इस किताब का संदेश पूरी मानव-जाति के लिये है। इस किताब का अंग्रेजी, हिन्दी और विश्व की अन्य भाषाओं में अनुवाद भी किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आमतौर से यह समझा जाता है कि यह मुसलमानों की कोई धार्मिक किताब है, हालांकि बात इतनी ही नहीं है। यह किताब वास्तव में, समस्त मानव जाति के लिये अवतरित हुई है। अरबी भाषा में 'कुरआन' शब्द का अर्थ है, 'बार-बार पढ़ा जाना या बार-बार पढ़ी जाने वाली किताब।' इस्लाम में अनेक लोगों का विश्वास है कि असली कुरान स्वर्ग में रखी हुई है जिसकी प्रतिलिपि इस संसार में पैगम्बर मुहम्मद के द्वारा प्रस्तुत की गयी है। इसका कारण है कि अरबी भाषा में कुरान के पूर्व का कोई साहित्य नहीं देखा गया है, और अरबी में कुरान ही सर्वप्रथम ऐसी पुस्तक है जिसकी अरबी भाषा अनुपम और अपूर्व है। पैगम्बर पढ़े-लिखे नहीं थे, इसलिये कुरान ऐसी पुस्तक को उनकी रचना नहीं बतायी जा सकती है। अत:, इस पवित्र कुरान को ईश्वर-प्रदत्त समझा जाता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि ईश्वर की प्रकाशना कैसे पैगम्बर मुहम्मद को प्राप्त हुई। यह प्रकाशना या बोधि (इल्हाम) तथा साक्षात् अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई और प्राय: अदृश्य वस्तुओं का इन्हें ज्ञान हुआ। इन्हें स्वप्न में भी प्रकाशना प्राप्त हुई, पर ऐसा प्रतीत हुआ कि एक शुभ प्रभात हुआ है। प्राय: समाधि में प्रकाशना हुई, कभी आवाज स्पष्ट सुनी गयी, फिर ऐसे व्यक्ति का भी साक्षात्कार हुआ (जिसे जिवैल कहा जा सकता है) जिसने इन्हें ईश्वर-प्रदत्त प्रकाशना बतायी। पैगम्बरों को दी गयी प्रकाशना को सर्वव्यापक स्वीकार्य समझा जाता है। इल्हाम (बोधि) व्यक्तिगत रूप से अमुक एवं विशिष्ट देश-काल और स्थितियों में संतों को प्राप्त होता रहता है। सभी धर्मों में बात कही गयी है कि स्वप्नों में ईश्वरीय प्रकाशना देखी जाती है।

चूँकि यह किताब मानव-रचित नहीं है, इसलिए इसकी शैली मानव लिखित किताबों से बिल्कुल अलग है। इसके बारे में जानने की एक जरूरी बात यह भी है कि यह किताब हज़रत मुहम्मद तक एक साथ लिखित रूप में नहीं आई, बल्कि अभिभाषण के रूप में अवतरित हुई है और वह भी एक या दो बार में नहीं, बल्कि 23 वर्ष की लम्बी अवधि में थोड़ा-थोड़ा करके। हज़रत मुहम्मद ने लोगों को एक ईश्वर की उपासना पर तैयार करने और एक इस्लामी समाज की स्थापना का जो आन्दोलन छेड़ रखा था, उससे अवतरण का यह सिलसिला जुड़ा हुआ था। कुरआन 23 वर्षों से विभिन्न अवसरों पर अवतरित हुआ, कुछ मक्का में, कुछ मदीना में, कभी युद्ध के मैदान में, कभी नबी के घर में। इसी कारण समय और अवसर के अनुसार सम्बोधन भी बदला है।

पूरा कुरआन तीस हिस्सों में है, इसमें 114 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय को सूर: कहते हैं। इनमें कोई सूर: काफी बड़ी है, जैसे सूर: आले-इम्रान और कोई बहुत छोटी भी है, जैसे सूर: अहद। हर सूर: का एक नाम भी है, परन्तु ये नाम सांकेतिक ही हैं, क्योंकि बड़ी सूर: में बहुत से विषय पर बातें कही गयी हैं। कुरआन के वाक्यों को आयत कहा जाता है।

पवित्र कुरान में 114 अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में छोटी-छोटी इकाईयां हैं जिन्हें आयत (पद) कहते हैं। नवें अध्याय को छोड़कर सभी अध्याय का प्रारंभ बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम (करुणामय दयालु परमेश्वर के नाम में) से होता है। इस पुस्तक को उच्च्कोटिक साहित्य गिना जाता है। वास्तव में यही पवित्र कुरान मुसलमानों की पुनीत निधि है। इसकी प्रकाशना इसीलिये की गयी है कि मानव बुद्धि बिना ईश्वर की सहायता से ईश्वर के विषय में शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ है। यही बात ईश्वर-प्रमाण के संदर्भ में नैयायिकों ने 'पदात्' के अंतर्गत व्यक्त की है। पूर्व में उल्लेख किया गया है कि पवित्र कुरान किसी एक समय में ईश्वर-प्रेरित नहीं हुई। इसलिये ईश्वरीय प्रकाशना तितर-बितर लिखी हुई थी। इसलिये ओमर खलीफां ने इसे व्यवस्थित करवाना प्रारंभ किया। परंतु इसकी पूर्ण व्यवस्था उनके उत्तराधिकारी उस्मान खलीफा (सन् 644-56) के समय में अविकृत रूप से की गयी जो आज भी उसी रूप में पायी जाती है।

कुरआन मानव वाणी नहीं है और कहने का इसका अपना बिल्कुल अलग अन्दाज़ है। जब यह मानव-जाति को अच्छे कर्मों के फायदे बता रहा होता है और जब बुरे कर्मों पर उसे चेतावनी दे रहा होता है, दोनों अवसरों पर उसकी भाषा और सम्बोधन बिल्कुल बदला हुआ होता है। कुरआन ईश्वरीय आदेशों का नवीनतम संस्करण है जिसमें ईश्वर के उन आदेशों को स्पष्ट किया गया है, जो मनुष्य के मार्गदर्शन के लिए जरूरी है। एकेश्वरवाद, ईशदूतवाद और इस सांसारिक जीवन के बाद इन्सान का दोबारा उठाया जाना, अच्छा और बुरा बदला जैसी मौलिक बातों को बार-बार दोहराया गया है, ताकि वे बातें अच्छी तरह मन में बैठ जाएं।

कुरआन जैसे-जैसे अवतरित होता जाता, हज़रत मुहम्मद उसे लिखवाते जाते और खुद भी ज़बानी याद कर लेते तथा साथियों को भी याद कराते। आज हमारे पास जो कुरआन है वह अक्षरश: वही है जो हज़रत मुहम्मद पर अवतरित हुआ था।

पवित्र कुरान एकमात्र ईश्वर-प्रेरित समझा जाता है, पर इससे सभी स्थलों पर मुसलमानों के लिये आदेश नहीं मिलता है। इसलिये इस कमी को पूरा करने के लिये सुन्नाह की मदद ली जाती है। सुन्नाह को हदीस भी कहते हैं। इसमें पैगम्बर मुहम्मद की कथनी, करनी, उनकी आदतों तथा उनके संदर्भ की किंवदन्तियाँ पायी जाती है। इसे परंपरा का विज्ञान भी कहा जा सकता है जिसमें

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्प्रेरणामूलक कथानक तथा अनेक विचार भी पाये जाते हैं। परंपरा को ठोस सत्य, स्वीकार्य तथा क्षीण, तीन रूपों में बांटा गया है। जिस परंपरा को अनेक श्रृंखलाओं के द्वारा पुष्टि हो उसे स्वीकार्य समझा जायेगा। जहां श्रृंखला का तारतम्य टूट जाय उसे क्षीण माना जायेगा। हदीस कार्यक्षेत्र के लिये लाभप्रद समझा गया है, पर इसे व्यापक ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं कहा गया है।

हदीस के बाद इज्मा को भी इस्लामी ज्ञान का श्रोत माना गया है। इसमें अंतर्जातीय देशों के लब्धप्रतिष्ठित विचारकों की मतैक्यता पर बल दिया गया है। अंत में कयास को जो एक प्रकार का साम्यानुमान है, स्थान दिया जाता है। कुछ ऐसे सिद्धान्त अथवा व्यवहार है जिसके संदर्भ में कुछ संदेह हो सकता है। ऐसे स्थलों पर इस्लामी धर्मदर्शन के विद्वानों के मत का संग्रह रहता है।

नबी या पैगम्बर

सेमिटिक लोगों में ऐसे व्यक्ति होते थे जो भविष्य के विषय में पूर्व कथन करते थे, देवताओं की इच्छा को प्रगट करते थे तथा रहस्यपूर्ण उक्तियां भी किया करते थे। अंतिम रूप में इस्त्रायलियों के बीच ऐसे लोगों को 'नबी' कहते थे जिनका मुख्य उद्देश्य था कि एकेश्वरवाद और सामाजिक न्याय का प्रचार करें। इन नबियों में निम्नलिखित लक्षण पाये जाते थे। उनमें संवेगमय उद्‌गार, कविता, ईश्वर तथा नैतिक समस्याओं में तल्लीनता पायी जाती थी। साथ ही साथ ईश्वर की इच्छा को लोगों पर प्रगट करने के लिये उनमें अंतर्बाध्यता भी देखी जाती थी। प्रश्न होता है कि ईश्वर क्यों नबियों को भेजता है?

पहले ही कहा जा सकता है कि इस्लाम के अनुसार ईश्वर प्रत्येक काल और जाति में अपने पैगम्बरों को भेजता रहता है कि वे मानव को एकेश्वरवाद की शिक्षा दें और ऐसा न मानने अर्थात् मूर्तिपूजा से विमुख न होने पर उन्हें नरक इत्यादि का भय बतायें तथा अन्य चेतावनियां दें। लगभग 28 नबियों की चर्चा कुरान में की गयी है जिनके नाम बाइबिल के पुराने और नये नियमों में भी पाये जाते हैं। इनमें छः ऐसे नबी हैं जिन्होंने धर्म, विधि और समाज के विषय में विशेष ज्ञान दिया है। इसके अंतर्गत आदम, नूह, इब्राहिम, मूसा, ईसा और मुहम्मद पैगम्बर ही नहीं, वरन् प्रेरित भी माने जाते हैं। पैगम्बर मुहम्मद अंतिम नबी हैं जिन्होंने ईश्वर-विषयक शिक्षा को अंतिम रूप से बतया है। मूसा और ईसा, दोनों के विषय में कहा गया है कि वे अपने नेत्रों के लिये न्याय-दिवस के अवसर पर उनके पापों की क्षमा के लिये ईश्वर से सिफारिश करेंगे। यही बात पैगम्बर मुहम्मद के विषय में मानी जाती है कि वे अपने अनुयायी मुसलमानों के लिये उनके पापों की क्षमा के लिये मध्यस्थता करेंगे।

न्यायदिवस

कुरान में बार-बार न्यायदिवस की चर्चा की गयी है, जिस दिन सभी लोगों को उनके किये अनुसार जज़ा-सज़ा होगी। ईश्वर के सिंहासन के सामने सभी लोगों का न्याय होगा। ईमानदारों को स्वर्ग प्राप्त होगा जहां उनकी सारी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। जिनके काम बुरे होंगे और जिन्हें अल्लाह और उसके पैगम्बर पर विश्वास न होगा, उन्हें नरक की यातनायें सदा मिलती रहेंगी। यहूदी और ईसाई धर्मों के समान, इस्लाम में भी पुनरुत्थान की बात कही गयी है। अतः, शुद्ध आत्मा अर्थात् बिना देह की आत्मा में विश्वास नहीं किया गया है, वरन् सदेही आत्मा की ही कल्पना की गयी है। यह स्पष्ट नहीं है कि इस्लाम में स्वर्ग-नरक मृत्यु पश्चात् ही, न्याय-दिवस के पूर्व, तुरन्त मिलेगा, या न्याय-दिवस के बाद ही। यदि न्याय-दिवस के बाद ही स्वर्ग-नरक मिलेगा, तो ऐसी दशा में यह स्वीकारा जाता है कि मरने के बाद आत्मा ईश्वर के पास लौट आती है और तब फिर ये आत्मायें केवल पुनरुत्थान के समय देहधारी होंगी। सामान्यतः, ईसाई लोगों के समान मुसलमान भी न्याय-दिवस और पुनरुत्थान में विश्वास रखते हैं।

पूर्व-नियति

ईश्वर सर्वशक्तिमान है और बिना उसकी अनुमति के कोई पत्ता तक भी नहीं हिलता है। अच्छी या बुरी, सभी घटनायें ईश्वर द्वारा नियन्त्रित होती है। प्रत्येक व्यक्ति का जन्म और उसकी मृत्यु का दिन भी अनादिकाल से निश्चित किया हुआ है। यहां तक कि उसे स्वर्ग का नरक मिलेगा, यह भी पूर्वनिश्चित किया हुआ है। तब क्या मानव स्वर्ग-प्राप्ति का प्रयास छोड़ दे, क्योंकि उसकी अन्तिम गति पूर्व निर्धारित है? नहीं। पुरुषार्थ तथा पुरुस्कार का स्थान भी है। इस्लाम के अनुसार ईमान लाना या न लाना मानव की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करता है। पैगम्बर ने बताया है कि विश्वासियों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने ईमान, कर्म इत्यादि में लगे रहे है और वे जो ईश्वर से प्रार्थना में मांगते हैं, उन मांगों की इच्छा करते रहें। अतः, पूर्वनियति को ईश्वर की सर्वशक्तिमता में विश्वास, भरोसा और आत्मसमर्पण का आधार समझना चाहिये। मुसलमान वही है जो अपने को पूर्णतया ईश्वर की इच्छा पर आत्म समर्पित कर देता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस्लाम का कर्मकाण्ड

केवल कुरान-हदीस के कोरे ज्ञान प्राप्त करने से कोई अपने को मुसलमान नहीं कह सकता है, पर जो अपने मन और हृदय से इस्लाम में ईमान रखे, वचनों के द्वारा उसको अंगीकार करे और इस्लाम में बताये गये कर्मों का अनुसरण करें, वही वास्तव में मुसलमान होगा। अत:, इस ईमान और कर्मकांड में पाँच बातों का उल्लेख किया गया है, अर्थात् जो अपने पूरे मन और हृदय से विश्वास करे और स्पष्ट वचन से कहें लॉ इला-ह इल लल्ला, मुहम्मदन रसुलुह (अर्थात् अल्लाह को छोड़ अन्य कोई ईश्वर नहीं और मुहम्मद ही उसके रसूल या पैगम्बर हैं)। फिर दिन में पाँच बार नमाज पढ़े, ज़कात-सदकात दे, रमजान भर रोजा रखे और धन-सामर्थ्य रहने पर हज करें। सम्पूर्ण कर्मकांड में अंतर्निहित लक्ष्य है कि मानव अपने सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के प्रति तथा सृष्ट समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर ऐहिक और पारलौकिक, दोनों के दायित्व को पूरा कर दोनों लोकों के सुख का भोग करें। इसलिये इस जीवन के सभी सुखों का उपभोग कर मानव अपने को ईश्वर को अर्पित कर, ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्तकर, स्वर्ग प्राप्त कर सकता है। अत:, सामाजिक कर्त्तव्यों से विमुख होकर सन्यास लेने की बात इस्लामी जीवन के लिये श्रेयस्कर नहीं कही गयी है। इस भूमिका को ध्यान में रखकर कर्मकांड के अंतर्गत भिन्न-भिन्न इकाईयों की संक्षिप्त व्याख्या की जायेगी।

नमाज

नमाज का मुख्य उद्देश्य है कि नमाजी की दिनभर और प्रतिदिन धर्म एवं न्याय के मार्ग पर चलने के लिये बल मिले बुरे (निषिद्ध) काम करने से बचे एवं अनुबाध्य कर्त्तव्यों को निभाने में उसे उत्प्रेरणा मिले। नमाज पढ़ने से प्रत्येक मुसलमान के जीवन में ईश्वर की महानता और उसकी उपस्थिति उसके जीवन का भाग हो जाता है। नमाज में पूरी तन्मयता के साथ एकाग्रभाव से ईश्वर के शरणागत रहकर नमाजी ईश्वर के सामने सिर झुकाता है। नमाज की स्थिति में नमाजी दुनियावी बातों को भुलाकर ईश्वर की महानता स्वीकारता है। चूंकि ईश्वर पवित्र एवं महान है, इसलिये नमाजी को अपने शरीर एवं मन को भी पवित्र रखना पड़ता है। उसे अपने हाथ-पैर, मुँह, सिर और कान को शुद्ध जल से धोना चाहिये जिसे 'वुजु' कहते हैं। वस्त्र को भी साफ रखना चाहिये। तब ईश्वर का स्मरण कर, ईश्वर-संगोष्ठी के लिये तैयार हो जाना चाहिये और अपने ध्यान को ईश्वर पर रखकर ईश्वर की आज्ञा और प्रार्थना के उत्तर को हृदय से ग्रहण करने के लिये तैयार रहना चाहिये। नमाजी ईश्वर के सामने खड़ा होता है उसी प्रकार जिस प्रकार उसे न्यायदिवस के दिन खड़ा होना होगा। चूंकि इन्सास दुर्बल होता है, इसलिये ईश्वर की परम करुणामय और दयालु समझकर नमाजी ईश्वर के सामने खड़ा होता है और को वह अपना पाठ 'बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम के साथ प्रारम्भ करता है।' फिर ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और अपने को उस दयालु ईश्वर को अर्पित कर अल्लाहो अकबर (ईश्वर महान है) उच्चारित करता है।

चूंकि मुसलमान को ईश्वर को अपने जीवन का अंग बनाना होता है, इसलिये वह प्रात:काल, दिन और रात में पांच बार नमाज पढ़ता है, अर्थात् सूर्योदय के पूर्व, दोपहर, अपराह्न, संध्या और रात होने के पहले (अथवा दिन की समाप्ति के बाद) पांच नमाज पढ़नी पड़ती है। प्रत्येक नमाज के अपने-अपने आसन (रुकूअ) हैं और इन आसनों का अपना-अपना अभिप्राय होता है। इन आसनों को योगासन के समान समझा गया है।

वर्ष में दो बार सामूहिक नमाज की व्यवस्था की गयी है, अर्थात् ईद अल-फित्र और ईद अल-जुहा (जिसे बकरीद भी कहा जाता है) के अवसर पर। सभी लोगों के एक साथ नमाज पढ़ने पर गरीब-अमीर, ऊंच-नीच इत्यादि का भेद-भाव नहीं रहता है और प्रत्येक नमाज मक्का की ओर मुँह फेरकर पढ़ना होता है। इसलिये मुसलमानों में समता और समानता का भाव बराबर बना रहता है। यह सर्वव्यापक भाईचारे का भाव हज-प्रथा में भी अन्तर्निहित है।

नमाज के महत्त्व को निम्नलिखित रूप में बताया गया है। जो व्यक्ति ठीक-ठीक समय पर पांचों नमाज पढ़ेगा, उसे ईश्वर जन्नत (स्वर्गिक-वास) देगा, क्योंकि स्वर्ग-प्राप्ति की कुंजी नमाज है। नमाज पढ़ने पर पापों का प्रक्षालन होता है। पुनरुत्थान होने पर न्यायदिवस के समय पुण्यकर्मों के रहने पर भी, नमाज नहीं पढ़नेवालों को पाप-क्षमा नहीं मिल सकती है और उनकी संभवत: सुनवाई भी न हो। धर्म का आधार नमाज है और नमाज न पढ़ जाने से धर्म का ह्रास हो जाता है। प्रत्येक जुम्मा (शुक्रवार) की नमाज में भी लोगों को सम्मिलित रहना चाहिये।

डॉ. इकबाल ने बताया है कि नमाज के द्वारा मानव का संकीर्ण जीवन अपरिमित ईश्वर के संपर्क में आकर नयी बोधि प्राप्त करता है जिससे उसकी संकीर्णता दूर होती और उसे अपनी गहराई का अनुभव होता है। दूसरे शब्दों में, जीवन की व्यस्तता से हटकर और उसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यांत्रिकता से अवकाश प्राप्त कर व्यक्ति नमाज पढ़ता है जिससे व्यक्ति में नूतन सर्जनात्मक शक्ति का संचार होता है। नमाज का उद्देश्य सामाजिक भी होता है। सामूहिक प्रार्थना करने में सामूहिक चेतना का विकास होता है और सामूहिक चेतना के प्रादुर्भाव रहने पर व्यक्ति की अपनी शक्तियां बढ़ जाती हैं। इसलिये आध्यात्मिक विकास के लिए भी सामूहिक नमाज महत्त्वपूर्ण माना जायेगा। पुनः, जैसा कहा जा चुका है कि नमाज करने की स्थिति में सभी नमाजी एक बराबर हो जाते हैं जिसे उनके बीच भ्रातृसंघ की भावना उत्पन्न होती है।

रमजान और रोजा

उपवास रखना सभी धर्मों में बताया गया है क्योंकि इसके द्वारा शरीर, वासना तथा मन पर नियंत्रण होता है। इस्लाम में भी बताया गया है कि उपवास रखने से पाप कटता है और मन निर्मल होता है। वर्ष के नवें माह को उपवास माह कहा जाता है और इसे रमजान कहते हैं। किरण फूटने के पूर्व से लेकर सूर्यास्त होने के बीच जल, अन्न, धूम्रपान तथा शारीरिक कामवासना से उपवासी को वंचित रहने का आदेश रहता है। बच्चे, गर्भवती औरतें, बीमार, बूढ़े इत्यादि को छोड़कर अन्य सभी मुलसमानों के लिये रोजा (उपवास) रखना आवश्यक कहा गया है।

उपवास रखना उपासना का मुख्य द्वार समझा जाता है। रोजा रखनेवाले को दो आनन्द अवश्य मिलता है। एक तो रोजा खोलते समय जल-अन्न प्राप्त करर लेने पर परम सुख और दूसरे ईश्वर-मिलन का आनन्द। भोजन तथा इन्द्रियभोग से विमुख होकर आत्मसंयम प्राप्त होता है, वासनाओं पर विजय तथा चित्त की विमलता सिद्ध होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति मनसा, वाचा तथा कर्मणा शुद्ध हो जाता है। जो व्यक्ति पूरे एक माह अपने को अपने वश में लेता है, उससे आशा की जाती है, वह शेष पूरे वर्ष इसी प्रकार अपने को अनुशासित कर संयमी बना रहेगा। नमाज पांचों बार पढ़ने के अतिरिक्त रोजा रखनेवालों को दरिद्रों की सुधि लेनी पड़ती है और उन्हें सदकात (दान) देना पड़ता है। रमजान का महीना याद दिलाता है कि ईमान रखने के लिये त्याग की आवश्यकता पड़ती है, अपनी इच्छाओं को मारना पड़ता है, क्योंकि सच्चे मुसलमान को अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, वरन् ईश्वर की इच्छा पर अपनी इच्छा को अर्पित करना होता है। अपने को ईश्वर को पूर्णतया अर्पित करने के लिये रमजान का रोजा रखना एक मुख्य साधन है।

ज़कात

पहले ही कहा जा चुका है कि इस्लाम ईश्वर और समाज, दोनों की सेवा करना सिखाता है। नमाज पढ़ने में मानव अपने ऊपर ईश्वर के अधिकार को स्वीकार करता है पर जकात देने में वह अपने ऊपर गरीबों के अधिकार को स्वीकार करता है। जकात करना उतना ही आवश्यक है जितना नमाज पढ़ना। जकात को दरिद्र सेवा-टैक्स कहा जा सकता है। जितना जकात देना धनी का कर्त्तव्य है, उतना ही दरिद्र का अधिकार होता है कि वह धनी से ज़कात ले।

मूसाई नियम के अनुसार प्रत्येक यहूदी को अपने धन का 10 प्रतिशत ईश्वर को अर्पित करने का आदेश था, और अभी भी कुछ ईसाई मंडलियों के सदस्यों को दहेकी देने की परम्परा है। इसलिये जकात देने की प्रथा यहूदी धर्म से ही प्राप्त हुई थी, पर इसे एक सामाजिक परम्परा बनाने की बात इस्लाम की अपनी देन है। चूंकि अरब के लोग अधिकतर चरवाहे और गड़ेरिये थे, इसलिये प्रारम्भ में ज़कात उगाहने का हिसाब भी ऊँट, भेंड़ इत्यादि के रूप में था। प्रायः ढ़ाई या पाँच प्रतिशत जकह समझा जाता है। इसके अतिरिक्त, विशेषकर रमजान के दिनों में सदकात भी देना पुण्य समझा जाता है। अतः, ज़कात अनुबाध्य तथा सदकात ऐच्छिक दान समझा जा सकता है।

हज

प्रायः यहूदी यरुशलेम की ओर मुंह करके प्रार्थना किया करते थे और यही बात पैगम्बर के साथ भी थी। पर जब पैगम्बर ने ईसा को भी नबी मानना शुरु कर दिया, तब यहूदियों ने इसका विरोध किया। उस समय से काबा की ओर मुँह फेरकर प्रार्थना करने की प्रथा बन गयी। काबा-दर्शन की प्रथा का मुख्य कारण है कि पैगम्बर मुहम्मद के अनुसार, शुद्ध एकेश्वरवाद का संदेश सर्वप्रथम नबी इब्राहिम को ही दिया गया था जिसे यहूदी और ईसाई, दोनों धर्मों ने अशुद्ध रूप में विकृत कर दिया है। अतः, इब्राहिम पैगम्बर के शुद्ध एकेश्वरवाद को पुनर्जीवित करने के लिये काबा को प्रधानता दी। अब हज की प्रथा इसी नबी इब्राहिम के स्मरण में मनायी जाती है। नबी इब्राहिम अपने माँ-बाप को छोड़कर शुद्ध एकेश्वरवादी रहे और आजीवन संपूर्ण परिवार के साथ ईश्वर पर अपने को अर्पित कर विश्वासी बने रहे, यहां तक कि वे ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए अपने एकलौते पुत्र इजहाक को भी बलि चढ़ाने के लिए तैयार हो गये थे। अतः, इसी पैगम्बर इब्राहिम के प्रति सर्वस्व त्याग के साथ विश्वास और निष्ठा के संस्मरण हेतु हज की प्रथा चली आ रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवन में एक बार भी हज करना सभी के लिये बाध्य नहीं समझा गया है। पर यदि व्यक्ति सभी ऋणों से मुक्त हो, धन की दृष्टि से समर्थ हो तो स्वस्थ रहने पर उसे एक बार हज कर लेना चाहिये। हज करने के पूर्व, पापों को स्वीकार कर उनकी क्षमा उसे ईश्वर से मांगनी चाहिये। नमाज पढ़कर और 'बिस्मिल्ला हिर्रहमा निर्रहीम' उच्चारण कर उसे यात्रा प्रारम्भ करनी चाहिये। हज करने की अनेक प्रक्रियायें बतायी गयी हैं, पर काबा के चारों ओर सात बार घूमना आवश्यक कार्यक्रम बताया गया है। हज करते समय सभी बुरी आदतों से हाजी को अपने को मुक्त करना पड़ता है। हाजी को अपना श्रृंगार करना, विषय-वासना में लिप्त होना, विवाह की बात सोचना इत्यादि निषिद्ध है। वस्त्र पहनने का भी अपना विधान है। हज के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के समस्त मुसलमान जातियों का सम्मेलन होता है जिसके द्वारा रंगभेद, अमीर-गरीब इत्यादि सभी भेदों से ऊपर उठकर विश्व-सौहार्द्र के सिद्धान्त का पालन किया जाता है। शुद्ध इस्लाम में जाति अथवा वर्णभेद नहीं स्वीकारा जाता है। यहूदियों के समान मुसलमानों में भी धर्म को ही राष्ट्रीयता का आधार माना जाता है।

जिहाद

जिहाद शब्द का अर्थ है 'संघर्ष'। संघर्ष के तीन क्षेत्र हैं :-

1. दिखाई देने वाले शत्रु के स्वरूप संघर्ष।
2. अप्रत्यक्ष शत्रु के विरूद्ध संघर्ष।
3. निम्न इन्द्रियों (भीतरी विकारों) से संघर्ष।

परन्तु धीरे-धीरे जिहाद ने स्वरूप को बदल दिया गया तथा पृथ्वी को दो भागों में बांट दिया-

दारुल इस्लाम अर्थात् शांति का देश जहां मुस्लिम जनता स्वतन्त्र और प्रसन्न रूप से शासन करती है।

दारुल हरब अर्थात् युद्धस्थल, जिसका तात्पर्य था कि ऐसे देश जिन से युद्ध करने से सवाब हासिल होता है। इस प्रकार से काफिरों (इस्लाम इतर धर्मावलम्बी) से युद्ध करना एक धार्मिक कृत्य बन गया। इसका फल यह हुआ कि दूसरे धर्मावलम्बियों के विरुद्ध जो आक्रमण किये गए उनको 'जिहाद' का नाम दिया गया।

इस्लाम में मानव-विचार

डॉ. इकबाल ने मानव को सर्जनात्मक स्वतंत्र जीव माना है और इसी रूप में उन्होंने कुरान की विभिन्न उक्तियों का उल्लेख किया है। डॉ. इकबाल के अनुसार ईश्वर स्वयं अपरिमित क्षमताओं का प्रकाशन करता रहता है और वह चाहता है कि मानव भी अपनी स्वतंत्र इच्छा के साथ भलाई चुने और इस प्रकार ईश्वर के साथ वह ईश्वर का सहकर्मी बने और दिनोंदिन वह ईश्वर के प्रति बढ़ता चला जाय। इस सन्दर्भ में डॉ. इकबाल को प्रसिद्ध उक्ति है कि 'मानव अतिमानवता को भी छू सकता है।'

खुदी को कर बुलंद इतना कि हर तकदीर से पहले,
खुदा बंदे से खुद पूछे, बता तेरी रजा क्या है?

इन पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. इकबाल के अनुसार ईश्वर ने मानव की रचना इसलिये की कि वह ईश्वर के साथ विश्व का सह-रचयिता हो।

कुरान के अनसार ईश्वर ने सूक्ष्म मिट्टी से मानव की रचना की, उसे जीवाणु के रूप में सुरक्षित स्थल दिया, तब उससे थक्का रक्त हुआ जिससे मांस हुआ, तब मांस से हड्डी बनी इत्यादि। तब मानव को एक दूसरे ही रूप में सृजा गया। यहां तक कि ईश्वर ने मानव को स्वर्गदूतों से भी बढ़कर बनाया क्योंकि ईश्वर ने स्वर्गदूतों से कहा कि तुम आदम के सामने झुको। मानव के अन्दर विचारने की शक्ति थी और इस कारण उसे स्वर्गदूतों से भी श्रेष्ठ समझा गया। कुरान के अनुसार तीन बातें मानव के संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। सर्वप्रथम, ईश्वर ने मानव को चुना है। 'बाद में ईश्वर ने आदम को अपने लिये चुना, उसकी ओर उन्मुख हुआ और उसकी अगुवाई की।'

द्वितीय, खामियों के रहते हुए भी मावन को इस भूतल पर ईश्वर ने अपना प्रतिनिधि बनाया, तृतीय, ईश्वर ने मानव को स्वतन्त्र व्यक्तित्व का न्यायी बनाया। मानव शरीर और आत्मा के योग से बना है और मरने के समय आत्मा फिर ईश्वर के पास लौट जाती है। पर एक और मत भी बताया गया है कि मृत्यु और पुनरुत्थात के बीच बर्जख एक स्थिति है जिसमें मृत व्यक्ति अनुलंब में रहता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानव-स्वतंत्रता

इस्लाम में पूर्वनियतिवाद और मावन स्वतंत्रता दोनों की बात कही गयी है। जब ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की बात कही जाती है तब कहा जाता है कि संसार का संचालन संपूर्णतया ईश्वर द्वारा नियंत्रित होता है। फिर ईश्वर की करुणा और दया का जब आस्वादन भक्त को होता है तब वह समझता है कि ईश्वर ही उसका एकमात्र मुक्तिदाता है और उसने कुछ भी ईश्वर द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में नहीं किया है। अत:, पूर्वनियति का पाठ ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता के भाव और भक्त की अपनी शरणागति के प्रति उद्‌गार मात्र है। कुरान में सूरा 17 और 18 में मानव की स्वतंत्रता की बात भी स्पष्ट कही गयी है। सूरा 18 में बताया गया है कि ईश्वर की प्रकाशना लोगों की चेतावनी के लिये की गयी है और मानव को स्वतंत्रता है कि वह चाहे तो उसे स्वीकार करे और नहीं चाहे तो उसे अस्वीकार करे। इसमें यह भी बात बताया गया है कि ईश्वर किसी का भी बुरा नहीं करता है। सूरा 17:7 में बताया गया है कि जो ईश्वर की सहायता मांगतें हैं, ईश्वर उनकी सहायता करता है, परन्तु जो भूल (पाप) करते हैं वे स्वयं उसका फल भोगेंगे। इसके अतिरिक्त उल्लेख आया है कि जो भविष्य का अनंत जीवन प्राप्त करने का प्रयास करता है, उसे निश्चय ही ईश्वर उसका फल देगा।

जब इस्लामी विचारकों में भाग्यवाद और मावन-इच्छा स्वातंत्र्य के संदर्भ में चिंतन प्रारम्भ हुआ तो अनेक विचारकों ने मानव-इच्छा-स्वातंत्र्य के सिद्धान्त की पुष्टि की। उनके विचार-विमर्श में यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर परम दयालु और करुणामय है और इसलिये वह किसी भी मानव को नारकीय यातना के लिए पैदा नहीं कर सकता है। कुरान में स्पष्ट है कि ईश्वर किसी का भी बुरा नहीं चाहता है। अत: भाग्यभरोसावाद नहीं स्वीकारा जा सकता है।

डॉ. इकबाल ने स्वीकारा है कि ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है और जब ईश्वर ने मानव को पूर्ण स्वतंत्रता देकर सृजा तो बुरा करने का विकल्प भी इसमें निहित ही था। कुरान के अनुसार जब ईश्वर मानव को स्वतन्त्र इच्छा देकर रहने लगा तब स्वर्गदूतों ने कहा 'तू इन्हें स्वतंत्र इच्छा देकर बुराई करने के लिय क्यों रच रहा है जब हम सब तेरी केवल स्तुति किया करते आये हैं?' परन्तु ईश्वर ने कहा कि मैं मानव को स्वर्ग और पृथ्वी के रहस्य को जानने के लिये बना रहा हूं अर्थात् जब मानव को सच्चा ज्ञान हो जायेगा तब वह सत्यसंकल्पी जीव होकर ईश्वर की स्तुति और उसकी महिमा करेगा। पहले ही कहा जा चुका है कि पूर्ण ज्ञानी होकर अपनी स्वतंत्र इच्छा को ईश्वर की इच्छा के अनुसार काम करनेवाले जीव की रचना होना यही इस सृष्टि का चरम उद्देश्य है। इसलिए इस चरम उद्देश्य की पूर्ति के लिये ईश्वर को बुरे काम की अनुमति देनी पड़ी। स्वयं ईश्वर को अपनी इच्छा से ही अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करना पड़ा ताकि इच्छा-स्वातन्त्र्य के साथ सत्यसंकल्पी जीव का उन्मज्जन हो सकें। डॉ. इकबाल भाग्यभरोसावाद को नहीं स्वीकारते हैं, पर वे मानव के प्रति उस सिद्धान्त को स्वीकारते हैं जिसके अनुसार मानव को इच्छा-स्वातंत्र्य दिया गया है कि वह स्वर्ग और पृथ्वी के रहस्य को जानकर ईश्वर की इच्छा के अनुसार सत्यसंकल्पी जीव बने।

इस्लाम में मानव की अंतिम गति

इस्लाम के अनुसार इस सृष्टि और विशेषकर मानव के जीवन का अंतिम दृश्य पुनरुत्थान और न्याय दिवस ही है। मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है कि न्याय-दिवस के अवसर पर अपने ईमान और ईश्वर की आज्ञा के अनुसार सही कर्मकांड के आधार पर उसे स्वर्ग-सुख लाभ हो। पर जो ईश्वर और उसके पैगम्बर मुहम्मद पर ईमान न लाये उसे नरक का दंड भी दिया जाये। अत: स्वर्ग-नरक मानव जीवन की अंतिम गति है। ईश्वर ने इस जगत् और मानव की इसलिये रचना की कि वह अपने श्रेष्ठ रूप को प्राप्त हो। पर यदि वह अपने इस रूप को नहीं प्राप्त करेगा तो उसकी अंतिम गति अधम से अधम होगी, अर्थात् उसे नारकीय यातना भोगनी पड़ेगी। जो विश्वासी ईश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने की इच्छा से प्रयास करता जायेगा, निस्संदेह ईश्वर उसकी आकांक्षाओं को पूरा करेगा। डॉ. इकबाल ने मानव गति के संदर्भ में तीन बातें बतायी हैं। सर्वप्रथम, मानव जीवन का प्रारंभ किसी न किसी काल में होता है और इसके पूर्व कोई अस्तित्व नहीं स्वीकारा गया है। दूसरे शब्दों में, मानव या उसकी आत्मा को अमर और नित्य नहीं स्वीकारा गया है।

द्वितीय, मानव मर जाने के बाद फिर इस भूतल पर जन्म नहीं लेता है। कुरान में बार-बार पुनर्जन्म के विरुद्ध बात बतायी गयी है। पर पुनरुत्थान और न्यायदिवस तक व्यक्ति को बर्जख में (निलंब रूप में) रहना पड़ता है जिस स्थिति से उन्हीं पुनरुत्थान के समय तुरही फूंकी जाने के बाद पुनर्जीवित किया जायेगा। उस समय किस शरीर के साथ पुनर्जीवन प्राप्त होगा, इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि इस विषय पर अज्ञात रहने की बात स्वीकारी गयी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अंतिम बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने किये हुए काम के अनुसार स्वर्ग या नरक मिलेगा। जिन्हें स्वर्गिक जीवन प्राप्त होगा वे ईश्वर का दर्शन करेंगे और स्वर्गिक आनंद का भोग करेंगे। पर ईश्वर में कहीं भी विलीन होने की बात मानव के लिये नहीं कही गयी। डॉ. इकबाल के अनुसार व्यक्तिगत अमरता पर अभी मानव का अधिकार नहीं है, पर उन्हें अपनी अमरता प्राप्त करने के लिये अथक प्रयास करना पड़ता है।

उनके अनुसरा मरणांतर जीवन के विकास-क्रम में ये मानव की विभिन्न स्थितियां है। नरक वास्तव में नित्य निवास और यातना का स्थान नहीं, पर मानव को सुधारने का विधि मात्र है।

इस्लाम में जगत्-विचार

कुरान प्रकाशना की पुस्तक है और इसका उद्देश्य धार्मिक विचार और अनुष्ठान से है। इसमें न तो क्रमबद्धता है और न क्रमबद्ध दार्शनिक विचार। कुरान के अनुसार, ईश्वर ने कहा कि सृष्टि हो जा और सृष्टि हो गयी। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत् की सृष्टि की है। सूरा के अनुसार ईश्वर ने जगत् की सृष्टि लीला हेतु नहीं की है। उसने स्वर्ग, पृथ्वी और इनके बीच की सारी वस्तुओं की इसलिये रचा है कि उनका अध्ययन करने में सत्यता का ज्ञान मानव को हो। यह किस प्रकार की सत्यता है?

पहली बात है कि सृष्टि में जीवन और मृत्यु दोनों ईश्वर के सामर्थ्य को दिखाता है। ईश्वर ने मानव को धूल से बनाकर उसमें जीवन देकर प्रजनन और प्रजनन और प्रगुणित होने की शक्ति उसमें भर दी। उसी प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी की अनेक भाषाओं और वस्तुओं के द्वारा ईश्वर ने रात और दिन, वर्षा इत्यादि का ऐसा विधान किया है कि मानव उनकी गतिविधियों को जानकर प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करें और उस ज्ञान से लाभ उठाकर अपना जीवन यापन करें। पुनः, ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की है ताकि मानव को फल और अन्न प्राप्त हो। उसने रात बनायी ताकि मानव विश्राम करे, सूर्य-चांद बनाया ताकि मानव प्रकृति की गतिविधि सीखें, तारे गणों को बनाया ताकि रात में भी मानव सही मार्ग पर चले।

डॉ. इकबाल ने बताया है कि प्रकृति के विधान में विशेषतया स्वतंत्र इच्छा का अभाव है, पर ईश्वर ने प्रकृति को विकासशील बनाया है। प्रकृति में श्रृंखलाबद्धता तथा क्रमबद्धता पायी जाती है। परंतु स्वर्ग, पृथ्वी और प्रकृति की सभी घटनाएं ईश्वर-परिचायक और मानव-केन्द्रित हैं।

इस्लामी दर्शन और सूफीमत

इस्लाम का दर्शन बहुत गंभीर और स्वतंत्र है। इस्लाम में ईश्वर और कुरान का स्वरूप तथा ईश्वर के साथ मानव संबंध के तीन बिन्दुओं को मुख्य माना जायेगा। इस्लाम में ईश्वर के एकत्व को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है। दार्शनिकों का मानना है कि यदि ईश्वर शुद्ध रूप में एक हो तो उसमें उसकी नित्यता को छोड़कर कोई अन्य गुण नहीं पाये जा सकते हैं। करुणा और दया से ये मानव गुण हैं, जो ईश्वर में आरोपित नहीं किये जा सकते हैं। कुरान में स्पष्ट है कि् सवर्ग में ईमानदारों को ईश्वर दिखाई देंगे।

सूफीमत

रहस्यवाद किसी धर्मविशेष की एकाधिकारिक संपत्ति नहीं है। किसी भी धर्म की अनुभूति जब पराकाष्ठा को पहुंचती है तो वह रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है। इसलिये उपनिषद्, गीता, भक्ति-दर्शन के अतिरिक्त बौद्ध, ईसाई आदि में भी रहस्यवाद का पूरा विकास पाया जाता है। पर इस्लामी रहस्यवाद जिसे सूफीमत कहा जाता है, इसलिये ध्यान योग्य है कि इसके बिना इस्लाम की पूरी विशिष्टता तथा उसकी धार्मिक अनुभूति को जानना कठिन है। सूफीमत इस्लामी दर्शन के साथ इस्लाम का लोकप्रिय रूप है। इस्लामी सूफी ऐसे संत हैं जो ईश्वर की समीपता और उसके साथ सायुज्य प्राप्त कर अनेक अद्भुत कार्यों के लिए सुप्रसिद्ध हैं। यह बात ठीक उसी प्रकार देखी जाती है जो भारतीय ध्यानी और योगियों में भी पायी जाती है। भारतीय ध्यानियों में भी ऋद्धि-सिद्धि पायी जाती है। सृफियों में भी बोधि, अन्तिम सत्ता के साक्षात्कार तथा उसका गूढ़ ज्ञान देखा जाता है।

मुहम्मद साहब ने जिस इस्लाम को जन्म लिया, उसमें ईश्वर की कल्पना एक स्वेच्छाचारी शक्ति के रूप में की थी जिसके सामने तर्क, बुद्धि, न्याय का कोई मूल्य नहीं था। दूसरे शब्दों में इस्लाम ने ईश्वर के उन गुणों को उजागर किया जिनसे प्रेम की तुलना मे भय की अभिव्यक्ति अधिक होती थी। अल्लाह शब्का अर्थ है शक्ति सम्पन्न। इस्लाम ईश्वर के सामने आँखें मूंदकर पूर्णतः समर्थन पर सर्वाधिक महत्त्व देता था। किन्तु प्रेम मानव स्वभाव की मूलभूत विशेषता है अतः इस्लाम के अन्तर्गत एक ऐसी विचारधारा का विकास हुआ जिसने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईश्वर के प्रति दास्य भाव के स्थान पर प्रेम केा प्रतिस्थापित किया। इसे सूफी विचारधारा कहा जाता है सूफी लोग ईश्वर को निराकार भी मानते हैं और साकार भी। वे ईश्वर को आत्मा तथा मानव जीवन को उस आत्मा का आवरण मानते हैं। सूफी लोग आत्मा को प्रेमी और परमात्मा को प्रेमिका मानते हैं वे ईश्वर को एक साकार परम सुन्दर नारी के रूप में देखते हैं और स्वयं उस पर आसक्त होना चाहते हैं। इस सम्प्रदाय की साधिकाएं जिनमें राबिया का नाम विशेषत: प्रख्यात है, ईश्वर को अपना पति मानती हैं। भारत में सूफियों के चार सम्प्राय प्रचलित हैं- प्रथम सुहरावर्दिया जिसके प्रवर्तक संत जियाउद्दीन थे। द्वितीय चिश्तिया जिसके प्रणेता हजरत अदन अब्दुल्ला चिश्ती थे। तृतीय कादिरिया जिसके प्रवर्तक शेख अब्दुल्ला कादिर जिलानी थे। चतुर्थ नक्शवंदिया, जिसे ख्वाजा बहाऊद्दीन नक्शबन्द ने जन्म दिया।

सूफी का अर्थ

कुरान में अल्लाह और उसके बन्दों का सम्बन्ध मालिक और गुलाम जैसा बतलाया गया है, इस कारण से धीरे-धीरे तर्क के बढ़ने पर अल्लाह और उसके बन्दों के सम्बन्ध केा लेकर खोज होनी प्रारम्भ हुई। इस प्रकार के विचारकों ने एक नवीन सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसे सूफी मत के नाम से पुकारा जाता है।

सूफी मत मुस्लिम रहस्यवाद का पर्यायवाची शब्द है। वास्तव में सूफी मत के उद्‌गम के बारे में विद्वानों द्वारा विभिन्न मत प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार यह 'सफा' से लिया गया है। जो व्यक्ति पवित्र और धार्मिक थे उनको भी सूफी नाम से सम्बोधित किया जाता था। कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार वे पवित्र परन्तु निराश्रित व्यक्ति जिन्होंने अपना समय पूजा और मनन में 'सुफ्फ' पर बैठकर व्यतीत किया वे आगे चलकर सूफी कहलाये। यह 'सुफ्फ' (बैठने का स्थान) मदीना की मस्जिद में मौहम्मद द्वारा निर्मित कराया गया था। कुछ विद्वानों का विचार है कि यह शब्द ग्रीक भाषा के 'सोफिया', (ज्ञान) शब्द से बना है।

सूफी शब्द की निम्नलिखित मुख्य परिभाषायें दी गई हैं- ''तसव्वुफ ईश्वर द्वारा पुरुष में व्यक्तित्व की समाप्ति और ईश्वरत्व की उदबुद्धि का नाम है।'' - जुनैद

''सूफी होने का तात्पर्य है कि निरन्तर शान्ति से रहता हुआ मनुष्य ईश्वर में लीन रहे।'' - ''गलाजी''

सूफी का अन्य अर्थ यह भी मानते हैं कि सूफी वह है जो सूफ (अर्थात् ऊनी वस्त्र) पहने। प्राय: ईसाई मठवासी संन्यासी ऊनी कपड़े पहना करते थे। ऊनी वस्त्र धारण करने का जो भी तात्पर्य हो, अंत में सूफी उस मुसलमान संन्यासी को कहा जाता है जो ईश्वर के साथ सायुज्य कर इस्लामी पूर्णता को प्राप्त करता है। चूंकि मुसलमानों के लिये पैगम्बर मुहम्मद ही आदर्श ईश्वर भक्त थे, इसलिये प्राय: सूफी अपने को ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्तकर पैगम्बर के समान संत बनने का दावा करते थे। इसलिये सूफी कुरान की आयतों से और पैगम्बर की उस जीवनी से जो हदीस में बतायी गयी थी, अपना पाठ लेते थे। अल-बुखारी और मुस्लिम समुदाय ने बड़े परिश्रम के फलस्वरूप हदीस की रचना की थी और सूफी लोग इस हदीस को अपने मतानुसार काम में लाते रहे हैं। पर यह निश्चित है कि स्वयं पैगम्बर मुहम्मद ध्यानी थे और हीरा पर्वत की खोह में ईश्वर पर ध्यान करते थे और इसी ध्यान मुद्रा में सन् 610 में उन्हें अपने को पैगम्बर बनने का अनुभव हुआ। कुरान में सूर: में इस्रा (रात्रि-यात्रा) और मिराज (स्वर्गारोहण) की चर्चा की गयी है जिसे सूफियों ने समझा है कि यही नश्वर देह लेकर पैगम्बर स्वर्ग में पहुँचे थे और इसलिये उन्होंने इस आदर्श को अपनाकर उस रहस्यानुभूति को अपना लक्ष्य बनाया जिसके अनुसार वे भी इसी जीवन में ईश्वर तक पहुँच सकें।

सूफी लोगों में समाधि की उन्मत्त दशा में ईश्वर के साथ ऐक्य का अनुभव होता था जिसे आधार मानकर एकवाद और सर्वेश्वरवाद भी अपनाया गया था। पर इस्लाम में शुद्ध एकेश्वरवाद पाया जाता है और इसलिये प्रमख सूफी अल जुनैद (मृत्यु सन् 910), अल हल्लाज (मृत्यु सन् 922), अल-गजाली (सन् 1059-1111) तथा इब्न अरबी (सन् 1165-1240) ने व्यक्तित्व की पूर्णता और उसका संरक्षण ईश्वर के अंतर्गत स्वीकारा है।

सूफीमत यहूदी तथा ईसाई रहस्यवाद से प्रभावित हुआ था। यहूदी-ईसाई धर्मों के निम्नलिखित तत्त्व सूफी मत में देखे जाते हैं।

1. ईश्वर ने मानव को अपनी छवि में रचा। कुरान में भी बताया गया है कि ईश्वर ने मानव को अपनी सृष्टि में ईश्वर का प्रतिनिधि बनाया है।
2. ईसा वह ईश्वर का वचन है जिसके द्वारा सृष्टि रची गयी।
3. ईश्वर प्रेम है और यही बात कुरान में भी है।
4. मसीह ने कहा, 'जिसने मुझे देखा है, उसने ईश्वर को भी देखा है' अर्थात् ईसा अगोचर ईश्वर की साकार छवि है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अल हल्लाज ने कहा,

''जो मुझे देखता है, वह उसे (अर्थात् ईश्वर को) देखता है,

वह जो उसे देखता है, वह हम दोनों को देखता है।''

ईसाई धर्म में चर्चित त्र्येक ईश्वर की झलक भी सूफी मत में दिखाई देती है, अर्थात् सारतत्त्व रूप में ईश्वर एक है, पर सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि में व्यक्त होकर वह त्र्येक ईश्वर है।

'अगर कहो कि ईश्वर एक है (तत्त्वरूप में), तब ठीक है, यदि कहो दो है, तो भी ठीक है, और यदि कहो कि नहीं, तीन है तो भी ठीक है।'

अत: यहूदी एवं ईसाई से सूफीमत अवश्य प्रभावित हुआ था। पर इसमें सन्देह नहीं कि कुरान की लेखनी और पैगम्बर मुहम्मद की जीवनी के अंतर्गत कुछ ऐसे विषय हैं जिनसे सूफीमत को बल मिला और अंत में वह स्वतंत्र रूप में एक विशाल धर्म-दर्शन का रूप बना।

सूफीमत और ब्रह्मज्ञान के बीच मौलिक अन्तर यह है कि इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है। पर ब्रह्म निराकार परम सत् है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी एकवादी तथा सर्वेश्वरवादी हो सकते हैं। शुद्ध इस्लाम में विश्वास रखने वाले युक्तिसंगत रीति से एकवादी तथा सर्वेश्वरवादी नहीं हो सकते, और न ईश्वर-विलयन की बात भी कर सकते हैं। इसलिये शुद्ध ध्यान अथवा समाधि की अवस्था का वे सहारा नहीं ले सकते हैं। इसलिए सूफी अपने व्यक्तित्व को ईश्वर के अनुग्रह से ईश्वर की पूर्णता में समाकर अपने को सीमित रूप में ही पूर्ण होने का प्रयास करते हैं। ईश्वरीय प्रेम और ईश्वर की समीपता, इन दोनों का उल्लेख कुरान में किया गया है। सूर: में बताया गया है कि ईश्वर सबके सन्निकट है और उससे कोई भी भेद छिपा नहीं हैं, ईश्वर सभी जगहों में है, चाहे हम किसी भी दिशा में अपने मुँह को क्यों नहीं फेरें। इसी प्रकार बताया गया है कि ईश्वर न्यायप्रिय लोगों से प्रेम रखता है। जो उससे मुहब्बत रखते हैं, वह उनसे भी मुहब्बत रखता है। हदीस के अनुसार, पैगम्बर ने बताया है कि ईश्वर स्वर्ग और पृथ्वी में नहीं अट सकता, पर विश्वासी दास के हृदय मे वह समाता है। यही बात गीता में भी बतायी गयी है कि ईश्वर बिना अपने भक्त के नहीं रह सकता है।

कुरान में शुद्ध संन्यास की बात नहीं कही गयी है और इसलिये अनेक सूफी अपनी पत्नी के साथ रहते थे। पर ईसाई एकान्तवासी और मठवासी सन्यासी का प्रभाव सूफियों पर पड़ा था और ये संन्यासी दरिद्रता की शपथ लेते थे। यह बात सूफियों ने अपनाया। कुरान में भी बताया गया है कि धनवानों की अपेक्षा दरिद्र स्वर्ग में पहले प्रवेश करेंगे। पर सूफी दरिद्रता-शपथ को स्वयं पैगम्बर और उनके अनुयायियों के जीवन से जोड़ने लगे। अल-हसन सूफी ने लिखा है कि पहले के सभी नबी जैसे मूसा, दाऊद और ईसा, सबों ने गरीबी अपनायी और उसने यह भी लिखा कि पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने भी दरिद्रता को अपनाया। इसलिए हल-हसन के लिए दरिद्रता धर्म का है। वास्तव में पहले तीन-चार खलीफों ने जीवन में दरिद्रता को अपनाया, यद्यपि उनका बहुत बड़ा साम्राज्य फैल गया था। यही बात पैगम्बर के साथ भी थी जबकि उन्हें अंतिम वर्षों में बहुत धन हो गया था तो भी वे बड़ी सादगी और गरीबी के साथ जीवन व्यतीत करते थे। कुरान में यह बात बतायी गयी है कि ईश्वर की प्रकाशनना में से किसी एक शब्द को भी नहीं हटाया जा सकता है। इसलिए सूफी हाफिज हुआ करते थे और अपने मत को सिद्ध करने के लिए यथा-तथा कुरान की आयत को उद्धृत किया करते थे। पर साथ ही साथ जितनी बात ईश्वर के माहात्म्य के लिए कही गयी उसे याद रखने के लिए ईश्वर का नाम वे जपते थे। ईश्वर-सायुज्य की कथा सूफियों में विभिन्न रूप से बतायी गयी है, अबू यजीद ने अपने रहस्यवादी अनुभव को व्यक्त करते हुए कहा है।

'हे प्रभु! मैं अपने व्यक्तित्व को छोड़ नहीं सकता हूं और बिना अपने व्यक्तित्व को छोड़े हुए तुझे प्राप्त नहीं कर सकता हूं।' इस पर ईश्वर ने उसे बताया, 'अबू यजीद! बिना अपने व्यक्तित्व को त्यागे हुए तेरी मुक्ति नहीं हो सकती। तू मेरे प्यारे पैगम्बर की चरण धूल से अपनी आँखों से मलकर उसका अनुसरण कर।'

फिर अबू यजीद (मृ. सन् 875) ने ईश्वर से कहा, ''तू मुझे अपने एकत्व और व्यक्तित्व से ऐसा मंडित कर दे कि जो मुझे देखे वह तेरी समस्त सृष्टि व तेरे एकत्व को देखे और कहें मैंने तुझे (ईश्वर को) देखा है, तब तू वह (अर्थात् अबू यजीद) होगा और तब मैं वहां न हूँगा।''

यहां ईश्वर में लय (फना) और फिर उसमें स्थिर रहना (बका), ये दोनों बातें इस प्रकार कही गई हैं कि सूफी का व्यक्तित्व ईश्वर में संरक्षित रह जाता है। वास्तव में इस्लाम का ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है और इस्लाम के अनुसार ईश्वर ने मानव को बनाकर उसे नाश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

नहीं करना चाहा है। इसलिए जो ईश्वर को मानते हैं और उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, उन्हें वह स्वर्गिक वास का आनन्द देकर सर्वदा के लिए संरक्षित रखेगा। इसी तौहीद (एकत्व) की बात अल-जुनैद ने (मृ. सन् 910) कही है। अल-जुनैद ने इस प्रकार अपने सूफीमत में परिणत किया है कि मानव के दो रूप होते हैं, अर्थात् मानव का पूर्वसृष्ट रूप और सृष्ट रूप। दोनों ईश्वर के नित्य, तात्विक स्वरूप में रहते हैं। मानव पूर्वसृष्ट में भी ईश्वर का आत्मिक ज्ञान रखता है, पर इस स्थिति में उसका अपना व्यक्तित्व नहीं रहता है। अल-जुनैद के अनुसार, ईश्वर ने अपनी इच्छा मात्र से मानव के पृथक् व्यक्तित्व की रचना की और अपनी सत्ता को मानव में डालकर उसे फिर उसके अस्तित्व के पूर्व के एकत्व को प्राप्त कर लेने के लिए अनुप्रेरित करता है, जब सूफी ईश्वर से मुहब्बत करने लगता है तब वह ईश्वर का ही कान होकर उसकी आवाज सुनता है। यह मानव की अपनी आवाज नहीं होती, पर ईश्वर की ही आवाज होती है। यह है ईश्वर के एकत्व की प्राप्ति। इस स्थिति में सूफी का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता (फना) और फिर वह ईश्वर में स्थिर (बका) हो जाता है। सूफीमत की अंतिम स्थिति में मानव नहीं, वरन् ईश्वर ही साकार हो जाता है।

अल-जुनैद ने ईश्वर के साथ सायुज्य प्राप्तकर मानव द्वारा ईश्वर-प्राप्ति की बात कही थी, पर अल-हल्लाज रहस्यानुभूति के आधिक्य में आकर मानव को ईश्वर का अवतार, अर्थात् ईश्वर का देहधारी रूप मानने लगे। फिर वे सूफी संत को पैगम्बर से भी ऊँची श्रेणी का समझने लगा। उन्होंने कहा 'मैं हक्क हूं' (अनल हक्क)। 'हक्क' से अभिप्राय सत्य, उचित और परम सत् का होता है। इसलिये परम्परावादियों ने उनकी इस उक्ति के कारण उन्हें कुफ्र (ईश्वर-निंदा) का दोषी समझकर क्रूश पर चढ़ा दिया जब आपको क्रूश पर चढ़ाया गया तो आप ठीक ईसा के समान ही ईश्वर से प्रार्थना करने लगे।

'हे प्रभु! ये तेरे दास तेरे ही धर्म के कारण और तुझे प्रसन्न करने के लिये यहां एकत्रित हुए हैं। इन पर तू दया कर। यदि तू इन्हें उन गुह्य बातों को प्रकाशित करता जिन्हें तूने मुझे बताया है, और यदि तू मुझसे उन बातों को छिपाकर रखता जिन्हें तूने इन लोगों से छिपा कर रखा है, तो मुझे यह यातना नहीं सहनी पड़ती। जो तू करता है उस सब के लिये तेरी महिमा और तेरी सारी मर्जी के लिये तेरी स्तुति हो।'

परन्तु न तो हल्लाज ने अपने को ईश्वर के बराबर समझा और न उसके साथ आत्मसात् करने की बात कही। ईश्वर की शक्ति द्वारा ईश्वर की शरणागति में अपनी पूर्णता की बात आपने की थी। हल्लाज के समान सन् 1191 में अबु इल फुतूह को भी ईश्वर के साथ अपने को आत्मसात् करने से अपराध में प्राण-दण्ड दिया गया था। अल-हल्लाज के उदाहरण को देखकर जब भी किसी सूफी को ईश्वरत्व की अनुभूति होती थी तो वह मौन हो जाता था ताकि ऐसा न हो कि लोग उसकी उक्ति को ईश्वर निंदा समझें। फिर बाद के सूफी पैगम्बर मुहम्मद को ही आदर्श मानव मानकर उनकी ही स्तुति करने लगे। तब भी यह बात स्पष्ट है कि अतिधार्मिक होते हुए भी सूफियों को शास्त्र-सम्मत नहीं माना जाता था और उन्हें सशंकित दृष्टि से देखा जाता था। इस सन्दर्भ में संभवत इस्लाम के ये सबसे बड़े विद्वान् शिक्षक अल-गजाली (सन् 1059-1111) का मत उल्लेखनीय है। गजाली ऐसे रहस्यवादी विद्वान् थे जिन्होंने रहस्यवाद को समादृत और शास्त्रसम्मत बनाने का प्रयास किया है। इन्हें इस्लाम-सिद्ध पुरुष (हुज्जत-अल-इस्लाम) कहा जाता है। आपका जन्म खोरासान में सन् 1059 में हुआ। आप सन् 1091 में बगदाद में प्रधान अध्यापक गिने जाने लगे। परन्तु बौद्धिक ज्ञान और इस्लामी विधि के अध्ययन से आपको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। सन् 1095 में आपने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया। तब आप सूफी मत की ओर उन्मुख हुए। आप जानते थे कि बिना सूफी मत के अध्ययन और उसके अभ्यास से उन्हें पूरी सफलता नहीं मिलेगी। वे जानते थे कि बिना शारीरिक वासनाओं और चेष्टाओं को छोड़े हुए, ईश्वर के नाम का बिना स्मरण किये हुए उन्हें पूरी सफलता नहीं मिलेगी। सूफी मत का ज्ञान प्राप्त करके आपने अपने को संत्रस्त व्यक्ति के ऐसा ईश्वर के शरणागत कर दिया। मृत्यु-पर्यन्त (सन् 1111) अल-गज़ाती सूफी की सादगी में रहे। आपने सूफी साधना को इस्लामी मतानुसार चार भागों में बाँटा है।

उपासना - इसे इन्होंने ज्ञान-मीमांसा तथा धर्मदर्शन, शास्त्रीय अनुष्ठान तथा आराधना के अन्तर्गत 9 अंगों में वर्णित किया है।

व्यक्तिगत व्यवहार - इसे इन्होंने धार्मिक विधि और रहस्यवादी प्रशिक्षण के अन्तर्गत 11 अंगों में विभाजित किया है।

घातक पाप - इन्होंने मनोविज्ञान और आध्यात्मिक अभ्यास के अन्तर्गत यहां 10 बातों का उल्लेख किया है।

मुक्ति-मार्ग - तौबा अर्थात् संन्यास, ईश्वर को धन्यवाद देना, ईश्वर का भय (खौफ) और आशा, दरिद्रता और आत्म-त्याग, ईश्वर की एकता में विश्वास और उस पर भरोसा, ईश्वर की प्रीति और उस पर भरोसा एवं संतोष, ईश्वर के प्रति दृढ संकल्प एवं निष्कपटता, ईश्वर पर ध्यान तथा मृत्यु-स्मरण की चर्चा की गयी है। अल-गलाजी की रचना के द्वारा सूफीमत को इस्लाम में स्वीकृत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थान प्राप्त हो गया है। सूफी-परम्परा विश्वधर्म के लिए बहुत बड़ी देन है। इसके धर्मदार्शनिक पक्ष को इब्न अरबी ने (सन् 1965-1240) प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है जिसे यहां अतिसंक्षेप में लिखा जा सकता है।

1. ईश्वर निरपेक्ष सत्ता है और सम्पूर्ण अस्तित्व का एकमात्र आधार है। उसमें सत् और अस्तित्व दोनों अवियोज्य रीति से पाये जाते हैं।
2. सम्पूर्ण ब्रह्मांड, वास्तविक और सम्भव दोनों रूपों में ईश्वर की अपेक्षा सापेक्ष है। यह नित्य और कालिक वास्तविक और सूक्ष्म, दोनों रूपों में पाया जाता है और दोनों रूपों में ईश्वर में निहित रहकर उसके परिज्ञान में रहता है।
3. ईश्वर अतीत और अंतर्व्याप्त दोनों है। अतीत रूप में ईश्वर को हक्क और अन्तर्व्याप्त रूप में ईश्वर अपनी सृष्टि में रहता है। वास्तव में ईश्वर की 'अन्तर्व्याप्ति' से यहां ईश्वर का सर्वविद्यमान् रहना अधिक कुरान के साथ संगत कहा जायेगा। सृष्टि से परे और पृथक् ईश्वर की सत्ता स्वीकारी जाती है।
4. ईश्वर की इच्छा के अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड का संचालन होता है।
5. ब्रह्मांड-सृष्टि के पूर्व ईश्वर प्रच्छन्न तथा सूक्ष्म रूप में था।
6. 'ईश्वर-सायुज्य' से ईश्वर के साथ एक हो जाना नहीं माना जा सकता है। पर रहस्यवादी ईश्वर के साथ, उसमें वास्तविक रूप में रहता है, इसे स्वीकारा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, रहस्यवादी ईश्वर के अनुग्रह से उसके व्यापक अस्तित्व में अपनी पूर्णता प्राप्तकर सदा के लिये विद्यमान् रहता है।
7. विश्व की पालक, बौद्धिक एवं सर्जनात्मक शक्ति को मुहम्मद-तत्त्व कहा जा सकता है जो सत्ताओं का परम सत् है। यह रूप पूर्ण मानव (कामिल इन्सान) में संपूर्णतया व्यक्त होता है।
8. सभी नबी शब्दरूप ईश्वर के वचन हैं, पर नबी मुहम्मद परम अथवा सर्वोच्च वचन अर्थात् प्रकाशना है, क्योंकि पैगम्बर मुहम्मद को अंतिम प्रकाशना की छाप या मुहर कहा गया है।
9. पूर्ण मानव (कामिल इन्सान) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लघु रूप है।

सूफी मत को जिस इब्न अरबी तथा अल-जुनैद ने व्यक्त किया है वह भारतीय परम्परा के रामानुज के विशिष्टाद्वैत से बहुत मिलता है। क्योंकि रामानुज के अनुसार भी जीव ब्रह्म के पृथक् पर अवियोज्य अंग है जो ईश्वर में संरक्षित रहकर उस पर सर्वदा निर्भर रहते हैं। रामानुज के अनुसार सच्चा भक्त वही है जो ईश्वर की शरणागति प्राप्त कर उसकी आज्ञाओं का दास-भाव से पालन करता है। सूफी मत में भी मुमुक्षु रहकर, दरिद्रता, शारीरिक तप, वासनाओं के दमन, पापों के पश्चाताप इत्यादि के आधार पर मानव अपनी परम गति को प्राप्त कर सकता है।

सूफी मत की विचारधारा में मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं -

जीव - सृफियों ने 'अन-अल-हक' का सिद्धान्त माना अर्थात् 'मैं हक हूं' या 'मैं ईश्वर हूँ'। यह हिन्दू धर्म के 'अहम् ब्रह्मास्मि' का अनुवाद था। इस प्रकार जीव 'हक' हो गया। वह सत्य, नित्य और एक मान लिया गया। अल्लाह और बन्दे में कोई अन्तर नहीं था। कुरान के अनुसार तो अल्लाह और इस्लाम के अनुयायियों का सम्बन्ध मालिक और गुलाम जैसा है। इस प्रकार से व्यक्ति वह फलक है जिसमें ईश्वर अपना स्वरूप देखा है। इस प्रकार सूफियों ने अद्वैतवाद का आश्रय लिया। हल्लाज के अनुसार जीव हमेशा के लिये ब्रह्म नहीं बन सकता। उसकी सत्ता बनी रह सकती है पर उसकी पूरी तरह से समाप्ति नहीं होती। इस प्रकार से एक ही शरीर में दो प्राण हैं जो परस्पर प्रेम में बंधे हुए हैं।

आध्यात्मिक विचार - सूफी साधना का आधार है 'अल्लाह'। सूफियों के आध्यात्म में ईश्वर का स्थान सबसे ऊपर है। लेकिन उन्होंने ईश्वर के जलाल (अलौकिक शक्ति) के स्थान पर रहम अर्थात् उदार रूप पर अधिक बल दिया है। अल्लाह हमारे हृदय में है, वह अन्तर्यामी है, अपने हृदय को शीशे की तरह स्वच्छ रखकर उसका प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है।

सृष्टि - सृफियों के अनुसार सृष्टि की रचना 'रुह' के कारण होती है। यही वह शक्ति है जो कि व्यक्ति को ईश्वर की झलक दिखाती है। जीव क्योंकि अल्लाह का प्रतिबिम्ब है इसलिये प्रकृति के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। प्रकृति द्वारा ईश्वर अपने आत्म-दर्शन की कामना पूरी कर लेता है लेकिन जब मानव प्रकृति में स्वयं को देखता है तब ही भ्रम में पड़ जाता है। परन्तु जब वह प्रकृति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सौन्दर्य को ईश्वर का सौन्दर्य समझता है तभी उसका मोह हट जाता है और वह ईश्वर के साथ एकाकार हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति के सौन्दर्य में एकात्मक भाव की कल्पना करने पर साधक ईश्वर की अनुभूति अथवा 'अन-अल-हक' को प्राप्त हो जाता है।

शैतान - सूफियों के अनुसार व्यक्ति और ईश्वर के मध्य सबसे बड़ी कठिनाई 'शैतान' की है। अल्लाह सबसे ऊपर हैं, वह बड़ा है अत: शैतान उसके विरुद्ध विद्रोह नहीं कर सकता। ईश्वर ने शैतान को इसलिये बनाया कि वह चाहता था कि कोई शक्ति ऐसी भी हो जो उसके बन्दे को कड़ी आग में तपा सके अर्थात् मनुष्य का कर्म ही मनुष्य को बुरा बनाता है और ईश्वर कर्म के अनुसार ही फल देता है। इस प्रकार जलाल और रहमान रूप में ईश्वर की कल्पना की गई। मनुष्य के हृदय में बुरे कार्यों के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिये शैतान और कर्म की स्थापना की गई।

अन-अल-हक - सूफियों की साधना यही है कि वह 'अन-अल-हक' की स्थिति का अनुभव कर सके। दिन रात उस महामिलन की व्याकुलता का अनुभव करना आवश्यक है जो अन्त में जीव और ब्रह्म को एक कर देगी। अत: अन्त:करण (रूह) को सदैव पवित्र रखना चाहिए। शैतान (इबलीस) पर विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। परन्तु ईश्वर की कृपा से मनुष्य इस पर विजय प्राप्त कर सकता है। साधना के लिये निम्न सीढ़ियां आवश्यक हैं-

1. तौबा, 2. जुहद, 3. सब्र, 4. शुक्र, 5. रजा, 6. खौफ, 7. तवक्कुल, 8. रिजा, 9. फख्र, 10. वश। सर्वप्रथम उन बातों का त्याग या तौबा जो ईश्वर के पद में बाधक है, इन बातों के लिए लड़ना पड़ता है। अपने इस प्रयत्न में सफल होने पर सब्र करना पड़ता है, शैतान सैदव उसे भुलावा देने को तैयार रहता है अत: ईश्वर का शुक्र मानना पड़ेगा। उसके आदर्श पर चलना (रिजाक), उससे भयभीत रहना (खौफ), जीविका के लिये इधर-उधर न भटकना (तवक्कुल), ईश्वर का ध्यान रखना (रिजा) तथा इसके बाद ईश्वर के प्रति प्रेम (मौहब्बत) का जन्म होता है। इसके बाद साधक सालिक बन जाता है और इस समय गुरु की आवश्यकता होती है जो कि सूफीमत के सात महल - 1. तौबा, 2. वश, 3. जुहद, 4. फख्र, 5. सब्र, 6. तवक्कुल, 7. रिजा के बारे में ज्ञान देता है। पीर या शेख जिन्हें गुरु कहा जाता है उनकी महत्ता के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता है कि जिसका कोई गुरु नहीं है उसका गुरु शैतान होता है। इस प्रकार गुरु-शिष्य सम्बन्ध ही सूफियों की साधना का आधार है क्योंकि गुरु ही उसे ईश्वर में विलीन होने की स्थिति की ओर ले जाता है। उनके विचार से श्रद्धा, भक्ति और ध्यान के माध्यम से ईश्वर से व्यक्तिगत सम्पर्क किया जा सकता है। सालिक से मारीफ का जन्म होता है। मारीफ के उत्पन्न होने पर जीव परमात्मा का चिन्तन विरह रूपी साधना द्वारा करता है और हकीकत की यात्रा पार करके अन्त में वस्ल या महामिलन प्राप्त करता है। अब मनुष्य के अपने अहम की समाप्ति हो जाती है और जीव 'फना' के मार्ग पर पहुंच जाता है। इस अवस्था में वह भूल जाता है कि वह ईश्वर से भिन्न है और संसार के सब धन्धों से ऊपर उठकर 'अन-अल-हक' कहने लगता है।

सूफी साधना में जप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह जप अपनी वाहिनी तथा मत दोनों ही से हो सकता है। इसे धिक्र कहते हैं। धिक्र के लिये संगीत आवश्यक है। इस्लाम संगीत का विरोध करता है परन्तु सूफी संगीत द्वारा धार्मिक वातावरण का निर्माण करते हैं जिससे ईश्वर की साधना हो सके। उनकी मान्यता है कि संगीत के द्वारा मन को केन्द्रित करके उसे ईश्वर प्रेम में लगाया जा सकता है। सूफियों में गुरु का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। संक्षेप में सूफी मत का सार है- सौन्दर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति। सूफी लोगों का कहना है कि सारी सृष्टि में ईश्वर दिखायी देता है। इसी प्रेम की प्राप्ति के लिऐ सूफी विचारधारा 'इश्के मजाजी' की छूट देती है क्योंकि इश्के-मजाजी के माध्यम से ही 'इश्के हकीकी' प्राप्त किया जा सकता है। सूफी लोगों की मान्यता है कि दुनिया में जो कुछ है वह इश्क का जलवा है, आग इश्क की गर्मी है, पानी इश्क की रफ्तार है, हवा इश्क की बैचेनी है, खाक इश्क का कयाम है, मौत इश्क की बेहोशी है, जिन्दगी इश्क की होशियारी है, रात इश्क की नींद है, दिन इश्क का जागना है, नेकी इश्क की कुरबत है, गुनाह इश्क की दूरी है- अर्थात् सारी सृष्टि में अल्लाह ही की झांकी दिखाई देती है जिसे प्रेम, इश्क या मुहब्बत से प्राप्त किया जा सकता है। इनके अनुसार पार्थिव प्रेम यदि आसक्ति रहित है तो सदैव दिव्य प्रेम का उपकरण सिद्ध होता है। असीम प्रेम और अर्न्तात्मा के प्रकाश से साधक अनन्त ब्रह्म में एकाकार हो सकता है। कठोर तप, साधना, उपवास आदि से भी ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है। इस प्रकार सूफी विचारधारा समन्वयवाद को भी प्रेरित करती है। उनके विचार से अन्तिम सत्य का स्वरूप सौन्दर्य का रूप है। इस सौन्दर्य को पहचानने की शक्ति अथवा इस पर न्यौछावर होने की योग्यता प्रेम है। प्रेम ही जीव को उस शक्ति से विरह की अनुभूति कराता है और प्रेम ही उस सत्ता से एकाकार हो जाने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार व्यक्ति शुद्ध हृदय और प्रेम के द्वारा ईश्वर से मिलन पा सकता है। इस प्रकार ईश्वर के प्रति सर्वस्त्र अर्पित करके उसी में विलीन हो जाना इसकी अन्तिम परिणति है। सूफियों के मतानुसार केवल नि:स्वार्थ और आध्यात्मिक रूप से पूर्ण व्यक्ति ही ''ईश्वरीय सारतत्त्व'' को प्रतिबिम्बित कर सकते हैं और वह केवल प्रेम के द्वारा सम्भव था जो अनिवार्यत: ईश्वर से उसका सामीप्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थापित करेगा। सूफीमत का सारतत्त्व था– परमानन्द की अवस्था में ईश्वरीय चेतना का गहन अनुभव। सूफी लोग सभी धर्मों के प्रति सम्मान एवं सहिष्णुता की भावना रखते हैं। यही कारण है कि ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, निजामुद्दीन औलिया, शेख सलीम चिश्ती, जायसी, कुतुबन आदि सूफी महात्माओं को हिन्दू और मुसलमान दोनों का सम्मान प्राप्त हो रहा है।

सूफीमत के उदय के कारण

सूफी मत में गजाली, इब्ने सीना और दूसरे दार्शनिकों ने प्रेम की दशा का वर्णन किया है। जीवन को विरह की अनुभूति प्रेम के ही कारण होती है। प्रेम से ही प्रेरणा पाकर जीवन उस सत्ता में फिर से मिल जाने का प्रयास करता है जिस सत्ता से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इस्लाम में बन्दे को अल्लाह का गुलाम बतलाया गया है। इस गुलामी के भाव के स्थान पर सूफियों ने प्रेम को स्थापित किया और इसके आ जाने के साथ ही इस्लाम में रहस्यवाद का समावेश बढ़ने लगा। 9वीं शताब्दी के अन्त तक मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो चुका था। साम्राज्य स्थापना के लिये अब उनमें वैसा जोश नहीं रह गया था। अब्बासी खलीफाओं का पतन हो चुका था। इसका प्रभाव धर्म पर भी पड़ा। दूसरा कारण यह था कि इस समय तक इस्लाम यूनान, फारस, ईरान तथा भारत के सम्पर्क में आ गया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन देशों के धार्मिक सिद्धान्तों का प्रभाव मुसलमानों पर भी पड़ा। इतिहासकारों के अनुसार सूफी मत के उत्थान के पांच कारण थे– 1. कुरान और मौहम्मद साहब, 2. ईसाई मत, 3. अभिनव यूनानी दर्शन 4. हिन्दुत्व और बौद्ध मत, 5. ईरान का जरथस्त्र मत।

सूफी संत और सम्प्रदाय

मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना के पश्चात् सूफी मत में भी विभिन्न सम्प्रदायों का उदय हुआ। इन सम्प्रदायों के अनुयायी भारतवर्ष के विभिन्न भागों में फैल गये। इनमें मुख्य रूप से चिश्ती, सुहरावर्दी, नक्शबन्दी और कादिरी थे।

चिश्ती सम्प्रदाय – चिश्ती सम्प्रदाय की नींव 966 ई. में ख्वाजा अब्दुल चिश्ती ने डाली थी। भारतवर्ष में ख्वाजा मुईउद्दीन चिश्ती ने 12वीं शताब्दी में चिश्ती सम्प्रदाय को स्थापित किया था। वहां पर इस सम्प्रदाय की सफलता का विशेष कारण यह था कि भारतीय चिश्ती सम्प्रदाय के नेता अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे। ख्वाजा मुईउद्दीन युवावस्था में ही इस्लामी देशों का भ्रमण कर चुके थे और आध्यात्मिक गुरु की खोज में वह दरवेश (घूमने फिरने वाले साधु) के समान 1190 में भारतवर्ष पहुंचे। यहां पर उन्हें उसमान हारुनी नामक गुरु प्राप्त हुए। यह चिश्ती सम्प्रदाय का प्रमुख संत था। कुछ समय देहली में रहने के पश्चात् ख्वाजा मुईउद्दीन अजमेर पहुँचे। उस समय पृथ्वीराज चौहान राज्य करता था। यहां के धार्मिक नेताओं ने अजमेर के राजा से ख्वाजा को देश से निकालने की प्रार्थना की क्योंकि निम्न वर्गीय लोगों पर उनका प्रभाव बहुत शीघ्र होने लगा था। राजा ने रामदेव को यह कार्य सौंपा परन्तु रामदेव स्वयं उनसे इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उनका शिष्य बन गया और अपना सम्पूर्ण जीवन असहाय और दुखी लोगों की सहायता में बिताया। सन् 1234 ई. में ख्वाजा मुईउद्दीन की मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् उनके अनेकों शिष्यों ने उनके आध्यात्मिक विचारों को जीवित रखा।

ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी मुईउद्दीन चिश्ती के मुख्य उत्तराधिकारी थे। इनके लिये कहा जाता है कि ये अति आनन्द की अवस्था में मृत्यु को प्राप्त हुए। काकी के मुख्य शिष्य बाबा फरीद (ख्वाजा फरीउद्दीन मन्सूदगंज सकर) थे। बाबा फरीद ने अपने शिष्यों में से मुख्य शेख निजामुद्दीन औलिया को सूफीमत का मुख्य उद्देश्य हृदय की एकाग्रता बतलाया जो कि जीवन के ऐश्वर्य और आरामों से दूर रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। बाबा फरीद ने स्वयं कठोर आत्मसंयम का जीवन व्यतीत किया। सन् 1265 में इनकी मृत्यु हो गई।

शेख निजामुउद्दीन औलिया चिश्ती सम्प्रदाय के महत्त्वपूर्ण पोषक हुए हैं। इनका जन्म 1236 ई. में बदायूं में हुआ था। ये देहली में 1258 में आये और यहां 6 वर्ष तक आध्यात्मिक चिन्तन किया। शेख के जीवन में देहली में सात सुलतान सिंहासनारूढ़ हुए पर वह एक बार भी किसी के दरबार में नहीं गये। गयासुद्दीन तुगलक उन्हें दार्शनिक विवाद में 53 धर्मवेत्ताओं के सामने लाने में सफल हुए जिन्होंने कि शेख के सिद्धान्त को स्वीकार किया। शेख की आध्यात्मिक शक्ति इतनी अधिक थी कि भारतवर्ष के दूरस्थ प्रदेशें में भी उनकी प्रसिद्धि हो गई। उन्होंने अपने शिष्यों को शरीयत के अनुसार जीवन नियमित करने का आदेश दिया। उन्होंने मुख्य रूप से प्रेम पर अधिक बल दिया जिससे ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। ईश्वरीय प्रेम मानवता के प्रेम की ओर ले जाने वाला एक मार्ग है जिसको प्राप्त किये बिना उद्देश्य अधूरा रह जाता है। शेख ने स्वयं यह कहा कि कयामत के दिन प्रेम के अलावा किसी बात को महत्त्व नहीं दिया जायेगा। असहायों की सेवा और दुखियों की सहायता मानव प्रेम का आधार है। वे संसार में रहकर ही ईश्वर प्राप्ति की साधना पर बल देते रहे। उन्होंने एक स्थान पर यह लिखा कि ईश्वर उन्हीं को प्यार करता है जो मनुष्यों की भलाई के लिये ईश्वर को प्रेम करते हैं और दूसरे वे जो ईश्वर प्राप्ति के लिये मानवमात्र से प्रेम करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शेख निजामुद्दीन औलिया का 'महबूब-ए-इलाही' का प्रेम का सन्देश देश के कोने-कोने में फैल गया। शेख सिराजुद्दीन ने इस सन्देश को बंगाल तक पहुँचाया, इसने प्रसन्न होकर शेख निजामुद्दीन को आइने हिन्द की उपाधि दी और उसे बंगाल का आध्यात्मिक गुरु मान लिया। इसके पश्चात् शेख अलाउद्दीन अलओहक और तत्पश्चात् नूर कतबी अलम बंगार के गुरु हुये। गुजरात के शेख सैयद हुसैन, शेख हिसमुद्दीन और शाह बरकल्लाह ने इस मत का प्रचार किया। शेख औलिया के प्रमुख शिष्य नासिरउद्दीन चिराग देहलवी हुये और उसके शिष्य गेसुदराज हुये। ख्वाजा को संगीत से बहुत प्रेम था और इसलिये दक्षिण में संगीत के उत्सव मनाये जाने लगे।

बाबा फरीद के बाद से ही चिश्ती सम्प्रदाय दो भागों ममें बंट गया था- 1. निजामिया, 2. साबिरिया। साबिरिया सम्प्रदाय के संस्थापक मकदूम-अलाउद्दीन अली अहमद साबिरी थे। ये शेख निजामुद्दीन औलिया के समाकालीन थे। अकबर के समय यह चिश्ती सम्प्रदाय पुनः प्रसिद्ध हुआ। शेख सलीम चिश्ती उसी समय हुये थे। अकबर को पुत्र प्राप्ति के लिये उसने प्रार्थना की और उनके पुत्र जहांगीर का जन्म हुआ। इस समय के दूसरे चिश्ती शेख अब्दुल अजीज चिश्ती थे। उनकी मृत्यु के पश्चात् शेख कुतबीबालम ने उनके कार्य को आगे बढ़ाया। 18वीं सदी में शेख कली मुल्ला और उनके शिष्य शेख निजामुद्दीन चिश्ती मुख्य सूफी संत थे। इनके पुत्र शेख फखरूद्दीन अकबर शाह के गुरु हुये। इनका आध्यात्मिक उत्तराधिकारी मौलाना नियाजअहमद था।

सुहरावर्दी सम्प्रदाय - भारतवर्ष में सुहरावर्दी सम्प्रदाय के संस्थापन शेख शोहाबुद्दीन सुहरावर्दी थे। इन्होंने अपनी पुस्तक 'अवारिफ-उल-मारीफ' में सुहरावर्दी सिद्धान्तों की पूर्ण रूप से व्याख्या की। इन्होंने ईश्वर के जलाल तथा कमाल रूप पर अधिक जोर दिया। शेख हमीदुद्दीन तथा बहीउद्दीन जकरिया इनके दो प्रमुख शिष्य थे। शेख जकरिया का उत्तराधिकारी शेख सदरुद्दीन और इनके उत्तराधिकारी सैयद जलालुद्दीन बुखारी को खलीफा पद मिले। फिरोज तुगलक के समय में शेख सर्फुद्दीन (1380 ई.) को खलीफा माना गया। सुहरावर्दी सम्प्रदाय की एक शाखा फिरदौसिया थी। इस सम्प्रदाय के कार्य बिहार तक ही सीमित रहे। शेफ सर्फुद्दीन ने अपने मकतूबों में इस्लामी तौहीद के सिद्धान्त की रहस्यवादी व्याख्या की। इन्होंने मानवमात्र की सेवा पर बहुत बल दिया। एक शासक का कार्य अपनी जनता को भोजन कराना, नग्न व्यक्तियों को कपड़े देना, गरीबों को उनकी आवश्यकतानुसार वस्तुयें प्रदान करना और बिना घर वालों को मकान देना है।

नक्शबन्दी सम्प्रदाय - यह सम्प्रदाय 17वीं शताब्दी के अन्त में भारतवर्ष में ख्वाजा बकीबिल्ला द्वारा स्थापित किया गया, इन्होंने शरीयत के अनुसार चलने पर जोर दिया। इनके मुख्य शिष्य शेख अहमद सरहिंदी थे। इन्होंने 'बहादत-उल-वजूद Unity of Being के सिद्धान्त का विरोध किया और मुस्लिम रहस्यवाद का समर्थन किया। इनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। इन्होंने यह शिक्षा दी कि ईश्वर जिसने यह संसार बनाया है जीव के समान नहीं हो सकता है। इनका कहना था कि भगवान और मनुष्य का सम्बन्ध स्वामी और सेवक अथवा आराधक और आराध्य का सम्बन्ध है, प्रेमी और प्रेमिका का सम्बन्ध नहीं है। देवी सत्ता को समझने का आधार शरीयत है। इन सबसे लगता है कि इन्होंने इस्लाम और सूफी धर्म का समन्वय करना चाहा, इसीलिये ये सुधारक कहलाये। शेख शाहवलीउल्लाह ने सरहिन्द द्वारा उठाये गये प्रश्न को पुनः उठाया और यह घोषित किया कि बहादत-उल-वजूद और विशिष्टाद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं है। ये इन दोनों सिद्धान्तों के न्याय कर्ता कहलाते हैं। इन्होंने यह भी कहा कि सूफी मत गहरे धार्मिक अनुभवों पर आधारित है जिनको तर्क से नहीं समझा जा सकता वरन् सदबुद्धि के सहारे ही समझा जा सकता है। ख्वाजा मीरदर्द इस सम्प्रदाय के महान रहस्यवादी थे। इन्होंने ''बहादतउलवजूद'' के सिद्धान्त की आलोचना की। इन्होंने अपना सिद्धान्त ''इलमे इलाही मौहम्मदी'' कहा। इन्होंने अपने आप को ईश्वर का गुलाम और प्रेमी दोनों कहा है। ये कहते थे कि न तो मैं सूफी और न मुल्ला हूं, (Knowledge of God based on the teaching ofMohammad) मैं तो मौहम्मद का भक्त हूं। रहस्यवादी दर्शन को इनकी मुख्य देन प्रेम और सिद्धान्तवादिता में समन्वय है।

कादिरी सम्प्रदाय - इस सम्प्रदाय के संस्थापक बगदाद के शेख अब्दुल जिलानी थे। भारतवर्ष में शाह नियामतउल्ला और मखदूम-मौहम्मद जिलानी ने इसका समारम्भ किया। उसके पश्चात् उनके पुत्रों ने इस कार्य को आगे बढ़ाया। दाराशिकोह इस सम्प्रदाय का महान भक्त था। इस पर लाहौर के मियां मीर का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा था।

सूफी सन्तों के विषय में वह विवरण यूसुफ हुसैन के इन शब्दों में समाप्त किया जा सकता है, ''देहली सल्तनत के विघटन तथा देश के विभिन्न भागों में विवधि राजवंशें की स्थापना के पश्चात् मुस्लिम जगत के आध्यात्मिक तथा नैतिक रूप से सुदृढ़ होने का श्रेय इन्हीं संतों को प्राप्त है। इन सूफी रहस्यवादियों तथा हिन्दू भक्तों के कारण शासकों तथा शासितों के मध्य खाई को किसी सीमा तक पाटा जा सकता था।''

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Lalitpur

नैतिक एवं अहिंसक विचार एवं व्यवस्था

वास्तव में इस्लामी विश्वास–वचन तथा कर्मकांड इसके बाहरी रूप हैं। इसका आन्तरिक रूप सूफीमत है। अत:, जनसाधारण का नीति–विचार भी सामाजिक व्यवहार के नियमों में पाया जाता है, पर इसका आन्तरिक रूप सूफी विधि में ही देखा जाता है। ज्ञातव्य है कि इस्लाम में ऐहिक जीवन पर उतना ही बल दिया गया है जितना पारलौकिक स्वर्गप्राप्ति पर। इसलिये इस्लामी नीति–विचार में सामाजिक आचार पर भी पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यहूदी धर्म में भी भक्ष्य और अभक्ष्य अनुष्ठानों की चर्चा की गयी है और इन्हें इस्लाम में संपूर्णतया अपना लिया गया है। यथा :

फटे खुरवाले तथा जुगाली करने वाले पशु भक्ष्य हैं।

पंखवाले तथा छिलके वाले (चोंयटा) जलचर भक्ष्य हैं।

मरे पशु, खून, शूकर तथा मूर्तियों पर चढ़ायी गयी बलि आदि के पशु अभक्ष्य हैं।

चोरी किया हुआ अन्न तथा पशु अभक्ष्य हैं।

मदिरा–पान भी निषिद्ध ही है।

विवाह का आदेश है, पर व्यभिचार को पाप समझा गया है। स्त्री को तलाक दिया जा सकता है, पर जब तक वह फिर किसी दूसरे पुरुष से विवाह नहीं कर ले और निर्धारित अवधि बीतने पर दूसरा पति भी उसे तलाक न दे, तो पहला पति फिर उससे विवाह नहीं कर सकता है। पर दूसरे पति द्वारा तलाक देने पर स्त्री पहले पति के साथ पुन: अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकती है। स्त्री–पुरुष को एक–दूसरे का वस्त्र कहा गया है क्योंकि वे एक–दूसरे के दोषों को ढांकते हैं। स्त्रियों को माँ बाप की संपत्ति का अधिकारिणी माना गया।

जब नरक–यातना की बात याद की जाती है तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि कुरान में कठोर दंड की व्यवस्था बतायी गयी है। चोरी के अपराध में हाथ काट डालने का आदेश है। फिर प्राणों के बदले प्राण, आंख के बदले आंख इत्यादि के घोर दंड का प्रावधान भी बनाया गया है। व्यभिचार के लिये सौ कोड़ों का विधान है।

जहां तक सूफी मत की बात है उसमें आत्मविकास का पाठ दिया हुआ है। इसमें बहुत ऊँचे आन्तरिक आचार की बात कही गयी है। वासनाओं का उन्मूलन, संन्यास, शारीरिक यातना तथा तप की व्यवस्था बतायी गयी है। कहा गया है कि सच्चा जेहाद तो अपनी शारीरिक तृष्णाओं अथवा वासनाओं के विरूद्ध करना चाहिये।

इस्लाम ने मानवता को कुछ सार्वभौम मौलिक अधिकार दिये हैं, जो कुल मिलाकर हर परिस्थिति में जानने–समझने और अपनाने के हैं। इन अधिकारों को पाने के लिए इस्लाम ने न सिर्फ कानूनी जमानतें दी हैं बल्कि एक बहुत ही प्रभावी नैतिक व्यवस्था भी दी है। व्यक्ति का समाज के हित में जो चीजें है, वही इस्लाम में नैतिक भलाई या नेकी कहलाती हैं और जो, नुकसानदेह हों, वहीं नैतिक बुराई या बदी कहलाती हैं। इस्लाम ने ईश्वर से प्रेम, साथ ही इन्सान से प्रेम पर इतना बल दिया है कि यह स्पष्ट रूप से औपचारिकता से परे चीज दिखायी देती है। कुरआन में उल्लेख है कि 'नेकी यह नहीं है कि तुमने अपने चेहरे पूरब की ओर कर लिये या पच्छिम की ओर, बल्कि नेकी यह है कि आदमी अल्लाह को, आख़िरत के दिन को, फरिश्तों को, अल्लाह की उतारी हुई किताबों और उसके पैगम्बरों को दिल से माने और अल्लाह की मुहब्बत में अपना मनपसन्द माल रिश्तेदारों और यतीमों पर, मिस्कीनों और मुसाफिरों पर, मदद के लिए हाथ फैलाने वालों पर और गुलामों की रिहाई पर खर्च करे, नमाज़ कायम करे और तंगी और मुसीबत के वक्त में और सत्य – असत्य की लड़ाई में सब्र करें।

इन आयतों में हमें नेक ओर तक़वा (ईश–भय, संयम:) वाले की सुन्दर पहचान बताई गई है। उसे अल्लाह के नियमों और आदेशों के पालन में अपने को लगा देना चाहिए, साथ ही उसकी नज़र खुदा से ताल्लुक जोड़ने और उसके बन्दों के प्रेम–भाव दर्शाने पर लगी रहनी चाहिए।

इससे हमें चार बातें मिलती हैं–

1. हमारी आस्था और हमारा विश्वास सच्चा और निष्ठापूर्ण हो और इसकी झलक हमारे कामों में आनी चाहिए।
2. हम इस पर तैयार रहें कि हम अपने ही जैसे इन्सानों पर दया करें और उनके काम आएं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. तंगी और मुसीबत के वक्त और सत्य-असत्य की लड़ाई दोनों में नेकी पर चलना हो।

4. हमारी निजी व व्यक्तिगत आत्मा पर कैसी भी परिस्थिति आये, उसमें, वह सुदृढ़ और अडिग बनी रहे।

यह है वह कसौटी, जिस पर किसी भी आचार-संहिता को कसा जा सकता है, और देखा जा सकता है कि यह अच्छी है या बुरी। यह कसौटी हमें ऐसा आधार जुटा देती है, जिसके चारों ओर पूरा नैतिक आचरण घूमता है। कोई नैतिक सीख देने से पहले इस्लाम मनुष्य के मन में यह बात बिठा देता है कि उसके तमाम कर्मों को खुदा देख रहा है, चाहे वह जब किया जाए और जिस जगह किया जाए। वह पूरी दुनिया से अपने को छिपा सकता है, लेकिन उससे कुछ भी नहीं छिप सकता। यह किसी की भी आंखों में धूल झोंक सकता है? लेकिन खुदा से नहीं बच सकता।

अल्लाह की प्रसन्नता की प्राप्ति को इन्सानी जिन्दगी का उद्देश्य बताकर, इस तरह इस्लाम ने नैतिकता की सम्भव उच्चतम कसौटी जुटा दी है। इन्सानियत के नैतिक विकास के लिए उसने अनगिनत रास्ते बता दिये हैं। खुदा की भेजी हुई वह्य को ज्ञान का आरम्भिक साधन बताकर इसने नैतिक मानदण्डों को स्थायित्व प्रदान किया है, जिससे ऊंचाई पर आसानी से पहुंचा जा सकता है। इसने खुदा से जुड़ने और उसकी नाराज़गी से बचने के आधार पर जो चरित्र विकसित किया है, वह नैतिक नियमों का बिना किसी दबाव के पालन कराता है इससे हर व्यक्ति में ऐसी ऊर्जा भर उठती है कि जिससे उस में नैतिकता के प्रति निष्ठा पैदा हो जाती है। जब नैतिकता मन का झुकाव और आत्मा की आवाज बन जाये, तो यही इन्सान का उत्कर्ष है।

इस्लाम हर जाने-पहचाने नैतिक मूल्य को महत्व देता है, उनमें सन्तुलन और समानुपात कायम करता है, उन्हें उनका सही स्थान और सही पद देता है और जीवन के तमाम पहलुओं में उनके व्यवहार को निश्चित करता है। यह इन्सान के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के दायरे को, चाहे उसके घरेलू मामले हों या सामाजिक, उसकी राजनीतिक गतिविधियां हों या आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक क्षेत्रों में उसकी सरगर्मियां फैलाता है। इसमें घर में लेकर बाहर तक की, खाने की मेज से लेकर लड़ाई के मैदान और शांति समझौते तक की, मानो पैदाइश से लेकर मौत तक की पूरी जिन्दगी आ जाती है। संक्षेप में यह कि जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसे इस्लाम के सर्वव्यापी और प्रभावशाली नैतिक मूल्यों से अलग किया जा सके। इसके निकट नैतिकता का बहुत महत्त्व है, इसीलिए वह इन्सान की कामनाओं, इच्छाओं तक को इस से नियंत्रित करना चाहता है।

इस्लाम इन्सान को जिन्दगी गुजारने का एक तरीका देता है, जिसका आधार ही नेकियां हैं और जो बुराइयों से मुक्त है। यह लोगों को नेक बनने पर ही नहीं उभारता, बल्कि नेकियों को कायम करने और उनका हुक्म देते पर भी उभारता है और बुराइयों को खत्म करने की ताकीद करता है। यह लोगों में अच्छाइयों के प्रति इतनी चेतना भर देता है कि वह बुराइयों में दबने न पाए। जो लोग इन जिम्मेदारियों का अदा करने के लिए जमा होते हैं, वही एक गिरोह या समुदाय बनते हैं और उन्हीं का नाम मुस्लिम है। इस गिरोह के गठन का इसके अलावा कोई उद्देश्य नहीं कि यह संगठित होकर भलाई को कायम करे और फैलाये और बुराइयों को कुचले और मिटाये। यहां हम इस्लाम की कुछ नैतिक शिक्षाओं को अंकित कर रहे हैं जो इस्लामी जीवन गुजारने के लिए जरूरी है। इनका ताल्लुक व्यक्तिगत जीवन से भी है और सामाजिक जीवन से भी।

खुदा का डर और संयम

कुरआन इसे एक मुसलमान का सबसे बड़ा गुण करार देता है - ''सच तो यह है कि अल्लाह के नजदीक तुम में सबसे ज्यादा इज्जत वाला वह है, जो तुम्हारे अन्दर सबसे ज्यादा खुदा से डरने वाला और संयमी है।''

''विनम्रता, मृदुता, कामनाओं और भावनाओं को नियंत्रित करना, सत्यता, मेल-मिलाप, सहनशीलता, दृढ़ता और वायदों का पूरा करना आदि ऐसे नैतिक मूल्य है जिनकी कुरआन में बार-बार ताकीद की गयी है।''

''दौड़ कर चलो उस राह पर जो तुम्हारे रब की क्षमा और उस जन्नत की ओर जाती है, जिसका फैलाव जमीन और आसमानों जैसा है वह खुदा का डर रखने वाले संयमियों के लिए तैयार की गई है, जो हर हाल में अपने माल खर्च करते हैं, चाहे बदहाल हों या खुशहाल, जो गुस्से को पी जाते हैं और दूसरों की गलतियों को माफ कर देते हैं। ऐसे नेक लोग अल्लाह को बहुत पसन्द हैं।''

''ऐ मेरे बेटे! नमाज़ क़ायम कर, नेकी का हुक्म दे, बदी से मनाकर और जो मुसीबत भी पड़े उस पर सब्र कर। ये वे बातें हैं, जिनकी बड़ी ताकीद की गई है और लोगों से मुंह फेर कर बात न कर , न ज़मीन में अकड़ कर चल। अल्लाह किसी दंभी और शेखीख़ोर को पसन्द नहीं करता। अपनी चाल को मध्यमार्गी बना और अपनी आवाज़ थोड़ी पस्त रख।''

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक हदीस में, जिसमें सदाचरण का सार पेश कर दिया गया है, हज़रत मौहम्मद ने कहा – ''क्या मैं तुम्हें वह काम न बताऊं, जिसमें अल्लाह अपने बन्दों को ऊंचे दर्जे देता है?'

लोगों ने कहा – 'हाँ, ऐ अल्लाह के रसूल बताइए।

आपने फरमाया – ''जो तुम से जिहालत दिखाये, तुम उसके साथ सहनशीलता का बर्ताव करो,

''जो तुम पर जुल्म करे, उसको माफ कर दो'',

जो तुमको न दे, उसको दो, और

''जो तुम्हारे हक अदा न करे, तुम उसके हक दो। इन सब कामों से आदमी के दर्जे बुलन्द होते हैं।''

उनहोंने कहा –

''अल्लाह की नाफरमानी से बचो, तो सबसे बड़े इबादतगुजार बन जाओगे।''

जितनी रोजी अल्लाह ने तुम्हारे लिए तैयार रखी है, उस पर राजी और मुतमइन रहो (और उसे हासिल करने के लिए बुरे तरीके न अपनाओ) तो तुम सबसे ज्यादा सम्पन्न बन पाओगे।

''अपने पड़ोसी के साथ अच्छा व्यवहार करो, ईमान वाले बन जाओगे।''

''तुम अपने लिए जो कुछ पसन्द करो, वही दूसरों के लिए भी पसन्द करो, तो तुम मुस्लिम होगे।''

इस्लाम मुख्यत: दार्शनिक धर्म न मानकर व्यवस्था मूलक धर्म माना जाता है या ऐसा भी कहा जा सकता है कि इस्लाम स्वयं में एक व्यवस्था की आचार अहिंसा है जो कि नीति शास्त्र पर आधारित है। इस धर्म में बहुदेववाद, आडम्बरों, पुरोहितों और कर्मकाण्डों के लिऐ कोई स्थान नहीं है। यह धर्म बहुत सादा है तथा इसकी उपासना की विधि सरल है। इस धर्म में कोई भी बात ऐसी नहीं हैं, जो मनुष्य की बुद्धि से परे हो। यह धर्म रहस्यवाद तथा जटिलताओं से मुक्त है। इस धर्म में सामाजिक समानता, दया, उदारता और विश्व बन्धुत्व पर बहुत अधिक बल दिया गया है। इसीलिए जनसाधारण ने इस धर्म को अपना लिया। मोहम्मद साहब ने विश्व बन्धुत्व तथा सामाजिक समानता की शिक्षा दी। उनका यह मानना था कि इस्लाम का हर अनुयायी एक समान है और भाई-भाई हैं उनके बीच ऊंच-नीच का कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार मुहम्मद साहब ने समाज में समानता स्थापित करने का प्रयास किया। इसके अतिरिक्त उनका यह भी मानना था कि संसार के सब पुरुष एक समान हैं। वे सब खुदा के पुत्र हैं, इसलिए उनको एक-दूसरे के साथ भाईचारे का व्यवहार करना चाहिए। उन्होंने कहा था कि 'ऐ लोगों मेरी बात सुनो और उसे समझो, समझ लो कि प्रत्येक मुलसमान एक दूसरे का आपस में भाई-भाई है, तुम सब आपस में समान हो। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को अपना नैतिक जीवन उच्च बनाये रखने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने माता-पिता के प्रति श्रद्धा और दु:खी व्यक्तियों के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए। उन्होंने मुसलमानों को झूठ नहीं बोलना, चोरी नहीं करना, छलकपट नहीं करना तथा ईमानदारी से आजीविका कमाने का ओदश दिया। मुहम्मद साहब ने सुरापान को इस्लाम के विरूद्ध बताया और गुलामों के साथ अच्छा व्यवहार करने के संदर्भ में उन्होंने कहा है कि- ''अपने गुलामों को भी वैसा ही खाना दो, जो तुम खाते हो और उन्हें वैसा ही कपड़ा दो जैसा तुम पहनते हो। यदि वे ऐसा अपराध करें, जिसे तुम माफ नहीं कर सकते तो उन्हें बेच दो, यातना मत दो, क्योंकि वे खुदा के नौकर हैं।''

दान देने के सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कुरान में कहा गया है कि दान तो तब सही रूप लेता है जब कोई बिना किसी हिचकिचाहट के या बिना किसी को कोई कष्ट दिए ही किसी को कुछ देता है। यदि दान देने में किसी प्रकार की परेशानी ली गई या महसूस की गई तो उससे कहीं ज्यादा अच्छा है कि किसी से मुधर संभाषण किया जाए तथा उसके प्रति क्षमा भाव रखा जाए, कारण, खुदा स्वयं धन, वैभव का सर्वोच्च अधिष्ठाता होते हुए भी सरल एवं विनम्र है।

कुरान का श्रीगणेश ही खुदा को उदार एवं दयावान कहकर संबोधित कर किया गया है। फिर भी कुरान ऐसा ऐलान करता है यह भ्रामक है इसे पुन: ठीक से लिखा जाए और यदि कोई किसी भी हत्या बिना सही कारण के ही कर देता है तो खुदाई कानून के अनुसार आगे वह भी (जिसकी हत्या होती है यानी हिंसित) हिंसक की हत्या करने का अधिकारी बन जाता है। लेकिन ऐसा वह स्वेच्छा से नहीं कर सकता, उसे खुदाई कानून का सहारा तो लेना ही पड़ेगा।

किन्तु किसी जीव की हत्या करने के लिए उचित कारण क्या हो सकता है? यह एक समस्या-सी उठ खड़ी होती है। इसके संबंध में कुछ जानकारी वहां से हो सकती है जहां पर मौदुदी ने ईश्वर, आत्मा, मनुष्य एवं विभिन्न जीवों के अधिकारों का वर्णन किया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। वे कहते हैं कि खुदा ने आदमी को अन्य सभी जीवों पर अधिकार देकर उसे सम्मानित किया है। आदमी अन्य जीवों को अपने काम में ला सकता है, लेकिन उनका दुरुपयोग नहीं कर सकता। खुदा की ओर से उसे इतनी छूट नहीं मिली है कि वह चाहे जिस कदर भी उन्हें परेशान करें। यदि अन्य जीवों को आदमी अपने काम में लाता है तो उसे कोशिश करनी चाहिए कि उन्हें कम से कम कष्ट हो। उदाहरणस्वरूप आदमी अपने भोजनार्थ पशुओं की हत्या कर सकता है लेकिन खेल के लिए या अन्य किसी प्रसन्नता के लिए वह ऐसा नहीं कर सकता। और इसमें भी हत्या करने के एक विशेष तरीके को अपनाना चाहिए जिसे ज़िबह कहते हैं, क्योंकि इस तरीके से मारने पर जीव को कम कष्ट होता है। लेकिन इसमें पशुओं को कम भोजन देना और उनपर चढ़ना, सामान लादना, पक्षियों को पिंजरे में बन्द करके रखना आदि का विरोध किया गया है। यहां तक कि इस्लाम वृक्षों को भी काटने के लिए नहीं कहता है, क्योंकि वे फल देते हैं। इस्लाम के नैतिक विचार का समावेश कुरान में है। नैतिकता का चरम मापदण्ड कुरान ही है क्योंकि उसमें ईश्वरीय-आदेश सन्निहित हैं। वैसे कर्म जो कुरान के द्वारा स्वीकृत हैं, उचित है और वे जो निषिद्ध हैं, अनुचित हैं। इस प्रकार कुरान के आदेशों पर उचित और अनुचित निर्भर करता है। इस्लाम के अनुसार पाप कुरान में वर्णित नियमों और आदेशों का निषेध तथा सदगुण उनका पालन करना ही है।''

इस्लाम में सिर्फ आदेशों का ही वर्णन नहीं अपितु सदगुण और दुर्गुण का स्पष्ट विवेचन हुआ है। इस धर्म ने ईश्वर में विश्वास करने, धर्म-पथ प्रदर्शकों के विचारों पर आस्था रखने, निर्धनों और दुर्बलों के प्रति दया-भाव करने की सीख दी हैं। इसमें गाली, क्रोध, चुगली, लोभ, खून-खराबा, रिश्वत लेना, झूठा अभियोग, बेईमानी, मदिरापान, ईर्ष्या, चापलूसी, पाखण्ड, असत्य, कृपणता, आत्महत्या, ब्याज लेना, हिंसा, उच्छृंखलता, युद्ध, हानिप्रद कर्म, आदि को हमेशा त्याज्य माना है। इसके विपरीत भाईचारा, दान, स्वच्छता,, ब्रह्मचर्य, क्षमा, मैत्री, कृतज्ञता, विनम्रता, न्याय, दया, श्रम, उदारता, प्रेम, कृपा, संयम, सुशीलता, पड़ोसीपन, हृदय की शुद्धता, सदाचार, धैर्य, सत्य, विश्वास आदि सद्गुणों को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में उन तत्त्वों की अवहेलना की गई है, जिनसे हिंसा भाव की उत्पत्ति या वृद्धि होती है और उन तत्त्वों को अपनाया गया है जिनसे अहिंसा भाव की पुष्टि होती है एवं अहिंसा सिद्धान्त का विकास होता है।

इस्लाम जीवन व्यवस्था एवं सामाजिक उत्तरदायित्व

इस्लाम जीवन के समस्त क्षेत्रों में समस्त लोगों का निश्चित रूप से मार्ग-दर्शन करता है। इस्लाम का यह मार्ग-दर्शन पूर्ण और व्यापक है और जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, नैतिक और आध्यात्मिक, समस्त पक्षों पर हावी है। कुरआन इंसान को याद दिलाता है कि धरती पर उस का जीवन उद्देश्य क्या है और उसके अपने निज, बाल बच्चों, नाते-रिश्तेदारों, उसके अपने समुदाय, साथी और अपने स्रष्टा के प्रति उसके कर्त्तव्य और अधिकार क्या है। इंसान को उद्देश्यपूर्ण जीवन बिताने के लिए अनिवार्य मार्ग दर्शन करके उसे छोड़ दिया गया है कि वह अपने जीवन में इन उच्च विचारों को व्यावहारिक रूप दे सके। इस्लाम की नजर में इंसान एक कुल और अविभाज्य इकाई है, न कि बिखरे और प्रतिकूल अंशों का योग। मानव जीवन के दो भाग लौकिक और धार्मिक ये अलग-अलग भाग नहीं है, बल्कि मानव अस्तित्व और उसके स्वभाव में दोनों एकत्रित हैं।

सामाजिक दायित्व के सन्दर्भ में इस्लाम की शिक्षाएं नम्रता और दूसरों के प्रति संवेदनशीलता पर आधारित है। सामाजिक दायित्व जिनके प्रति निभाना है उनमें सबसे पहले वही आते हैं, जो हमसे ज्यादा करीब है। मां-बाप, पति-पत्नी, बच्चे, फिर दूसरे नातेदार, पड़ौसी, मित्र, जान-पहचान के लोग, यतीम और विधवाएं, समाज के जरूरतमंद, तमाम इन्सान और जानवर। मां-बाप की देखभाल और मान-सम्मान पर इस्लाम ने बहुत बल दिया है -

''मां-बाप के साथ अच्छा व्यवहार करो, अगर तुम्हारे पास इनमें से कोई एक या दोनों बूढ़े होकर रहें, तो उन्हें उफ तक न कहो, न उन्हें झिड़ककर जबाब दो बल्कि उनके सामने झुक कर रहो और दुआ करो कि पालनहार इन पर दया कर, जैसे इन्होंने दया, प्रेम के साथ मुझे बचपन में पाला था और रिश्तेदारों को उनका हक दो और मिस्कीन और मुसाफिर का हक को फिजूलखर्ची न करो।''

मौहम्मद साहब ने कहा है कि ''वह मोमिन नहीं है, जो पेट भर कर खाये, जबकि उसका पड़ोसी भूखा रहे और वह मोमिन नहीं है जिसके पड़ोसी उसके दिये गये कष्टों से सुरक्षित न रहें।''

सच तो यह है कि कुरआन और सुन्नत के मुताबिक एक मुसलमान को अपने मां-बाप, रिश्तेदार और पड़ोसी के प्रति जिम्मेदारियां निभानी हैं, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति, जीव जन्तु, उपयोगी पेड़ों और पौधों आदि के प्रति भी अपनी जिम्मेदारियां निभानी

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है मिसाल के तौर पर चिड़ियों और जानवरों का शिकार मन बहलावे के लिए खेलने की इजाजत नहीं है। इसी तरह उन पेड़ों पौधों को काटना, जो फल दें, वर्जित हैं, जब तक कि इस की कड़ी जरूरत न पड़ जाए।

इस तरह मूल नैतिक गुणों के आधार पर इस्लाम नैतिकता की श्रेष्ठतम व्यवस्था स्थापित करता है। इस्लाम आत्मा को स्वार्थपरयाणता, अहं, क्रूरता अनियमितता और अनुशासनहीनता से शुद्ध करता है। यह इन्सान को खुदा से डरने वाला और अपने आदर्शों को समर्पित होने वाला बना देता है, नैतिक दायित्वों का बोध कराता है। इस तरह नैतिक गुणों को जन्म देकर इस्लाम का चरित्र निर्माण में अपूर्व योगदान होता है।

सामाजिक भूमिका

इस्लाम एक ऐसा धर्म है जिसने अपने सिद्धान्तों एंव मान्यताओं से सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया है। भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन तो इससे बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। इसके प्रमुख योगदान निम्नलिखित रहे हैं-

भ्रातृत्व की स्थापना - इस्लाम ने समानता का भाव देकर विश्व में भ्रातृत्व की स्थापना की। इस्लाम में ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, छोटा-बड़ा कोई नहीं है अपितु सब समान हैं। इसी समानता के भाव की अभिव्यक्ति एवं पोषण के लिए इस्लाम में शुक्रवार को सुन्नत, अर्थात् सामूहिक नमाज का बहुत महत्त्व है क्योंकि इसमें ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सभी एक साथ एक स्थान पर खड़े होकर नमाज पढ़ते हैं। इससे उनमें भ्रातृत्व एवं समानता का भाव विकसित होता है।

सदाचार का सन्देश - इस्लाम मानवता को सदाचार का सन्देश प्रदान करता है। कुरान में क्षमा, सहानुभूति, न्याय, नम्रता, सच्चाई, वाणी-संयम, कृतज्ञता, दयालुता, साहस, धैर्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा, आदि को उचित एवं धर्म माना गया है तथा क्रोध, लोभ, दुर्वचन, मिथ्यावचन, बेईमानी, अभिमान को अधर्म माना गया है। इस प्रकार इस्लाम लोगों को सदाचार का सन्देश देता है एवं सदाचार करने के लिए प्रेरित करता है।

स्त्रियों को प्रतिष्ठा प्रदान करना - इस्लाम में स्त्रियों को उच्च एवं प्रतिष्ठित स्थान प्रदान किया गया है। यद्यपि इस्लाम चार स्त्रियाँ रखने की स्वीकृति देता है किन्तु उसी स्थिति में जब सबके साथ समानता एवं प्रेम का व्यवहार किया जा सके किन्तु चार से अधिक स्त्रियों की अनुमति नहीं देता। स्त्री और पुरुष दोनों के व्यभिचार को अनुचित बताया गया है। इस्लाम स्त्री को माँ के रूप में बहुत सम्मान देता है। इस्लाम का विश्वास है कि जन्नत माँ के कदमों में लोटती है। अल्लाह कहता है कि औरतों की इज्जत करो, वे तुम्हारी माँ है, बेटिया हैं, पत्नियां हैं।

मानव सेवा - इस्लाम में मानवता की सेवा को अत्यधिक महत्व प्रदान किया गया है। इस्लाम स्पष्ट निर्देश देता है कि मनुष्य को अपनी आय का चालीसवाँ भाग मानव सेवा में अनिवार्य रूप से व्यय करना चाहिए। अत्यधिक धन-दौलत जुटाने, कजूंसी करने, सूद देने तथा अनाथों व विधवाओं की सम्पति हड़पना इस्लाम में निषिद्ध कहा गया है तथा गरीबों को खैरात करना अनिवार्य माना गया है। कुरान में लिखा जो नेकी लेकर आए उसके लिए उसका दस गुना है। जो बदी लेकर आए उसको उसी के बराबर बदला दिया जाएगा। इस प्रकार इस्लाम मानव मात्र के प्रति सेवा भाव की उत्पन्न करता है।

निष्कर्षत : वर्तमान युग के इन्सान की एक बड़ी समस्या, जिस का इस समय उसे सामना करना पड़ रहा है, मानव भेद की समस्या है। भौतिक दृष्टि से विकसित राष्ट्र इन्सान को चांद पर भेज सकते हैं पर वे इंसान को इन्सान के प्रति घृणा और युद्ध से रोक नहीं सकते। इस्लाम पिछले चौदह सौ साल से व्यावहारिक रूप से यह दिखा रहा है कि मानव भेद को किस तरह समाप्त किया जा सकता है। हर साल हज के मौके पर नस्लों और जातियों के आपसी भाईचारे में जुड़ जाने के इस्लामी चमत्कार को खुली आंखों से देखा जा सकता है।

परिवार, जो संस्कृति व सभ्यता की आधारभूत इकाई है, उसे तमाम पश्चिमी देशों में बिखरता और टूटता देखा जा सकता है। इस्लाम का परिवार पति-पत्नी, बच्चों और रिश्तेदारों, नातेदारों के अधिकारों में सुन्दरतम सन्तुलन पैदा कर देता है। इस्लाम मनुष्य के निःस्वार्थ-भाव, नम्रता और प्रेम को पारिवारिक व्यवस्था में पालता-पोसता और आगे बढ़ाता है। इन्सान जीवन के अपने दृष्टिकोण के अनुसार जीवन बिताता है। धर्म निरपेक्ष समाज की त्रासदी यह है कि वह जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे से जोड़ नहीं पाता। लौकिक और धार्मिक, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक जीवन के अनेक पहलू एक दूसरे से टकराते हैं। इस्लाम इस टकराव को समाप्त करता है, जीवन के बारे में इस्लामी दृष्टिकोण समरूपता पैदा करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभ्यास हेतु प्रश्न

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. हज़रत मौहम्मद का जन्म कब हुआ था?

   (अ) 571 ई. (ब) 507 ई. (स) 526 ई.

2. इस्लाम में प्रतिदिन कितनी बार नमाज़ पढ़ने का विधान है?

   (अ) 5 (ब) 3 (स) 1

3. कुरआन में कितने अध्याय हैं?

   (अ) 114 (ब) 144 (स) 174

4. जिहाद के अन्तर्गत संघर्ष के कितने क्षेत्र हैं ?

   (अ) 3 (ब) 5 (स) 7

5. चिश्ती सम्प्रदाय की नींव कब पड़ी थी।

   (अ) 966 ई. (ब) 911 ई. (स) 919 ई.

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. हज़रत मौहम्मद के जीवन–वृत्त का संक्षेप में वर्णन करें।
2. नमाज़ एवं ज़कात के महत्व को स्पष्ट करें।
3. सूफीमत की विशेषताओं का वर्णन करें।
4. इस्लाम की नैतिक व्यवस्था क्या है?

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. इस्लाम की सामाजिक व्यवस्था अहिंसा पर आधारित हैं – स्पष्ट करें।
2. सूफी परम्परा ने प्रारम्भ में ही मानवीय तथा ईश्वर प्रेम का पाठ पढ़ाया है? स्पष्ट करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-4 : प्रमुख विचारक

सन्त ऑगस्टाइन, सन्त थामस एक्वीनस एवं लेव टॉलस्टाय

संरचना

4.0 प्रस्तावना

4.1 उद्देश्य

4.2 सन्त ऑगस्टाइन

- 4.2.1 जीवन चरित्र
- 4.2.2 ऑगस्टाइन की रचनाएं
- 4.2.3 ऑगस्टाइन के दार्शनिक विचार
- 4.2.4 मानव विचार
- 4.2.5 ज्ञान का सिद्धान्त
- 4.2.6 ईश्वर की धारणा
- 4.2.7 अशुभ विचार
- 4.2.8 नैतिक दर्शन
- 4.2.9 ऑगस्टाइन के अन्य विचार
- 4.2.10 ऑगस्टाइन के बाद का युग

4.3 सन्त थामस एक्वीनस

- 4.3.1 जीवन परिचय
- 4.3.1 तत्वज्ञान
- 4.3.1 ज्ञान का सिद्धान्त
- 4.3.1 सद्वस्तु की धारणा
- 4.3.1 परम लक्ष्य
- 4.3.1 दृष्ट जगत
- 4.3.1 ईश्वर
- 4.3.1 जीवात्मा का स्वरुप
- 4.3.1 मानव की अन्तिम गति और उसका अन्तिम आनन्द
- 4.3.1 सामान्य विचार
- 4.3.1 एक्वीनस का नैतिक दर्शन
- 4.3.1 सद्गुण
- 4.3.1 राजदर्शन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4 लेव टॉलस्टाय

4.3.1 जीवन परिचय

4.3.1 अहिंसा शान्ति चिन्तन

4.5 सारांश

4.6 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

विश्व के महान् विचारकों में सन्त ऑगस्टाइन, संत थामस एक्वीनस एवं लेव टॉलस्टाय का नाम इतिहास प्रसिद्ध है।

4.1 उद्देश्य

अब तक हमने अहिंसा एवं शान्ति के सन्दर्भ में गैर भारतीय धर्म-दार्शनिक विचारधाराओं का अध्ययन किया। इस इकाई में हम उपरोक्त विचारकों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालेंगे, जिन्होंने अहिंसा, शान्ति एवं नैतिकता के सन्दर्भ में सर्वग्राहन व्याख्याएं प्रस्तुत की। इस इकाई के अन्तर्गत ऑगस्टाइन, एक्वीनस एवं टॉलस्टाय के विचारों का अध्ययन किया जायेगा।

4.2 सन्त ऑगस्टाइन

यूनानी दर्शन में भी धर्म का स्थान आता है पर यह धर्मपोषी नहीं कहा जा सकता है। बहुधा यूनानी विचारकों ने प्रचलित धर्मों की आलोचना की है। और देवताओं के दुराचार की निन्दा भी की गई। इसलिये यूनानी दर्शन में वैज्ञानिक विचारधारा प्रमुख है। इसमें स्वतन्त्र तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा भी है और स्वतन्त्र नैतिकता का भी स्थान है। इसकी तुलना में मध्ययुगीन दर्शन ईसाई धर्म दर्शन कहा जाता है। ईसाई धर्म में इसका अंश यहूदी धर्म से विशेष प्राप्त किया गया है, पर इसका दर्शन यूनानी है। मध्ययुगीन दर्शन को धर्मदर्शन इसलिये कहा गया है कि इसमें यूनानी दर्शन को ईसाई धर्म की संरक्षा और उसे स्पष्ट करने के ही लिये काम में लाया गया है। यहाँ दर्शन स्वतन्त्र नहीं, वरन् धर्म का दास कहा गया है। फेथ, न कि ज्ञानप्राप्ति इसका चरम लक्ष्य है।

Let knowledge grow from more to more. But let faith more and more in us dwell.

दूसरे शब्दों में ज्ञान की वृद्धि इसलिये हो कि इसके द्वारा विश्वास संपुष्ट हो।

मध्ययुगीन दर्शन को अन्धकार का युग भी कहा गया है क्योंकि इसमें स्वतन्त्र विचार को कुचल दिया गया था। लगभग सन् 400 से 1400 तक मध्ययुगीन दर्शन का काल समझा गया है। धर्मयुगी दर्शन प्रभाव बहुत लम्बे समय तक पाश्चात्य विचारकों पर बड़ा है। इनमें से सन्त ऑगस्टाइन अग्रगण्य हैं।

4.2.1 जीवन-चरित्र

संत ऑगस्टाइन का जन्म तगस्ते नामक उत्तर अफ्रीका के नगर में सन् 354 ई. में हुआ। उनकी माँ कोनिका से उन्हें ईसाई धर्म की शिक्षा मिली। उनके पिता का देहान्त 370 ई. में हुआ। उसके पहले अपनी भक्त पत्नी की प्रार्थनाओं के फलस्वरूप उन्होंने ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण की। ऑगस्टाइन ने कारथेज, उत्तर अफ्रीका के प्रधान शहर, में लैटिन भाषा और अलंकारशास्त्र का अध्ययन किया। उस समय और आगे चलकर इटली के मिलान शहर में दो प्रेमिकाओं से उनका सम्बन्ध हुआ।

इस काल में उन्होंने मोनीवाद का परिचय प्राप्त किया, जिसका मुख्य सिद्धान्त भलाई और बुराई का द्वैतवाद है। इस दर्शन का ऑगस्टाइन के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा। वे इस मत के भौतिकवाद से तो सहमत न हुए, लेकिन बुराई की समस्या के विषय में वे जड़ वस्तु और स्थूल शरीर को उसका मूल कारण मानने लगे। अध्ययन समाप्त करने के बाद ऑगस्टाइन पहले रोम में, फिर मिलान में अलंकारवाद पढ़ाते रहे। क्रमशः वे मोनीवाद छोड़कर अकादमीय संदेहवाद (Academic Scepticism) के अनुयायी हो गये। प्लोटिनस का ईनीयड्स (Enneads) नामक ग्रंथ पढ़ने के फलस्वरूप उनका मत परिवर्तित हुआ।

इसके अतिरिक्त ऑगस्टाइन का मत धार्मिक रूप से भी परिवर्तित हुआ। इसके अनेक कारण है: संत अम्ब्रोस मिलान के बिशप के उपदेश सुनना, बाइबिल का उत्तर खण्ड अर्थात् ''नया व्यवस्थान'' (New Testament) पढ़ना, उनके उद्दण्ड पुत्र के लिए संत मोनिकी की निरन्तर प्रार्थनाएं इत्यादि। इन धार्मिक प्रभावों ने उनके हृदय को झकझोरा। अपनी आत्मकथा में संत ऑगस्टाइन बतलाते हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कि बंगान की दीवार के पीछे किसी बच्चे को ''ले लो, पढ़ो'' कहते सुनकर, यों ही बाइबिल ग्रन्थ खोलकर, उसमें संत पॉल की अधर्मियों को चेतावनी पढ़ने लगे।1 उसी क्षण उन्होंने पवित्र जीवन बिताने का निश्चय किया। आत्मकथा में वे ओस्तिया के बन्दरगाह में अपनी माँ के पावन देहान्त का वर्णन करते हैं इसलिए वे अकेले ही अपनी मातृभूमि लौट गये। वहां पहुंचने पर उन्होंने एक आश्रम स्थापित किया। पहले उनका पुरोहिताभिषेक हुआ, फिर वे बिशप के स्तर तक पहुंचे। ऑगस्टाइन हिप्पो शहर के बिशप नियुक्त किये गये। वे इस धर्मप्रदेश की देख-रेख अपनी मृत्यु तक करते रहे। वे उपदेश और लेख दोनों के द्वारा अपने धर्म का प्रचार करने लगे। उनकी मुख्य रचनाऐं अनेक भिन्न-भिन्न अप-सिद्धान्तों के विरूद्ध वाद-विवाद में उत्पन्न हुई थीं। संत ऑगस्टाइन का देहान्त सन् 430 ई. में हुआ जबकि बर्बर लोग हिप्पो शहर का घेरा डाले हुए थे। बीस साल पहले उन्होंने रोम का विनाश देखा था जो उन्हीं बर्बर लोगों ने किया था। रोमन साम्राज्य की अवनति के साथ लेटिन साहित्य के प्रतिष्ठित ग्रन्थकार भी अलग-अलग स्थानों पर चले गये।

सन्त ऑगस्टाइन मध्य युग के सबसे महत्त्वपूर्ण इसाई विचारक माने जाते हैं। उनके दर्शन के तीन प्रमुख उद्देश्य है :

1. यह स्पष्ट करना कि रोमन साम्राज्य का पतन ईसाई धर्म को अपनाने के कारण नहीं हुआ था।
2. इसाई धर्म-संघों को शक्तिशाली बनाना तथा उसका राज्य स्थापित करना।
3. इसाई धर्म के विरूद्ध लगाये गये आरोपों का खण्डन करना।

उनकी सबसे प्रमुख कृति ईश्वरीय नगर (City of God) है। यह ग्रन्थ 22 खण्डों में विभाजित है। प्रथम 10 खण्डों में इसाई धर्म के विरुद्ध की आलोचना से रक्षा की गई है तथा अन्य 12 खण्डों में ईश्वरीय नगर का स्वरूप बतलाया गया है। ईश्वरीय नगर में ऑगस्टाइन ने दो नगरों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ये नगर हैं, सांसारिक एवं आध्यात्मिक या दिव्य नगर। मनुष्य आत्मा और शरीर दोनों का संयोग है। शरीर के कारण वह सांसारिक नगर में निवास करता है तथा अपने लौकिक हितों की रक्षा करता है। परन्तु आत्मा से वह अपने पारलौकिक हितों की रक्षा करता है। इस प्रकार ऑगस्टाइन के अनुसार मनुष्य प्रवृत्ति के कारण ही ईश्वरीय तथा सांसारिक दोनों नगरों का नागरिक है। सांसारिक नगर का सम्बन्ध शरीर से है और इस नगर में शैतान का शासन है। ईश्वरीय नगर का सम्बन्ध आत्मा से है और इसमें क्राइस्ट का शासन है।

सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार इन दोनों नगरों में भेद का ज्ञान मानव के लिए आवश्यक है। मनुष्य में काम, क्रोध, मान, मोह आदि कुत्सित प्रवृत्तियां हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण वह सांसारिक नगर का नागरिक बन जाता है। इस नगर में उसे शान्ति नहीं मिलती, वह स्वर्गीय शान्ति के लिए ईश्वरीय नगर का नागरिक बनना चाहता है। इस नगर में ही उसे सांसारिक बन्धन से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ईश्वरीय नगर के सभी नागरिक देवता हैं। यह नगर शाश्वत है तथा कभी नष्ट नहीं होता। चर्च धरती पर ईश्वरीय नगर का प्रतिनिधित्व करता है। चर्च की आज्ञा ईश्वर की आज्ञा है।

4.2.2 ऑगस्टाइन की रचनाएँ

संत ऑगस्टाइन की सब रचनाएँ "Migne" नामक प्रमाणिक ग्रन्थमाला के सोलह ग्रन्थों में अंकित हैं। इस परिच्छेद में हम केवल उन रचनाओं का विषय सूचित करते हैं जो अहिंसा शास्त्र से सम्बन्धित हैं। संत ऑगस्टाइन के अन्य लेख या तो बाइबिल की व्याख्या करते हैं या धर्मशास्त्र प्रस्तुत करते हैं। फिर भी इस अंतिम श्रेणी की दो रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध है कि हमें उनका भी उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है। सबसे पहले आत्मकथा के प्रकार की दो रचनाओं की चर्चा होगी-

आत्मकथात्मक रचनाएँ -

(अ) Confessions नामक आत्मकथा (13 भागों में, 400 ई.) - रचना के शीर्षक के अनुसार इसका उद्देश्य यह है: परमेश्वर के प्रशंसनीय कार्य स्वीकार-करना। लेखक परमेश्वर की महत्ता और अपनी क्षुद्रता के बीच में भेद दिखाते हैं।

(ब) Retractations (426-27) या ''पुनर्विवेचन''- इसमें लेखक अपनी पूर्व रचनाओं पर पुनर्विचार करते हैं। कभी-कभी वह स्वयं ही अपना पूर्व मत सुधारते हैं या कोई विवादात्मक बातें स्पष्ट करते हैं। यह रचना संत ऑगस्टाइन की रचनाओं के कालचक्र पर अधिक प्रकाश डालती है।

दर्शनशास्त्र

(अ) Contra Academicos अर्थात् ''अकादमिकों के विरूद्ध'' (386)- इसमें वे नव-अकादमी के सन्देहवाद की आलोचना करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) De Ordine (389)- यह लेख बुराई की समस्या के विषय में है। यदि विधाता ने ही सब कुछ बनाया है, तो विश्व में बुराई का मतलब क्या है?

(स) De Immortalitate Animae या आत्मा की अमरता के विषय में (387) - आत्मा की अमरता के लिए संत ऑगस्टाइन यह प्रमाण देते हैं। -सत्य अमर होता है, फिर भी सत्य आत्मा में अपना निवास करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा भी अमर होती है।

(द) De Mgistro अध्यापक के विषय में (389)- अन्य बातों के सिवा लेखक इसमें भाषा का विश्लेषण करते हैं।

धर्मशास्त्र

(अ) De Civitate Dei या परमेश्वर के राज्य के विषय में (22 भाग, 413-26) - इसमें वे ईसाई दृष्टिकोण से रोमन साम्राज्य की अवनति का इतिहास लिखते हैं। दोनों 'राज्य' परमेश्वर और शैतान के हैं। वे किसी निश्चित ऐतिहासिक राज्य से सम्बन्ध नहीं रखते हैं। लेकिन वे सब जगह, हां, मनुष्य के हृदय में भी, पाये जा सकते हैं। अन्त में परमेश्वर ही के राज्य की विजय होगी।

(ब) De Trinitage (15 भाग, 400-16) - यह रचना ईसाई धर्म के गूढ़ रहस्य, अर्थात् त्रिरूप परमेश्वर के विषय में है।

4.2.3 ऑगस्टाइन के दार्शनिक सिद्धान्त

सन्त ऑगस्टाइन धार्मिक दार्शनिक हैं। उन्होंने धर्म और दर्शन दोनों पर पर्याप्त विचार किया है। परन्तु यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि उनका दर्शन धर्म से ओत-प्रोत है। वे मूलत: धार्मिक ही है, अत: सभी धार्मिक सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या ही उनका प्रतिपाद्य विषय है। मूलत: सन्त होने के कारण उनके सभी दार्शनिक विचार ईश्वर केन्द्रित है। धर्म ही दर्शन का मूल है, अत: धर्म से पृथक किसी दार्शनिक सिद्धान्त की व्याख्या तो अपूर्ण है।

सन्त ऑगस्टाइन के सामने समस्या थी कि किस प्रकार चर्च-संप्रत्यय को तत्त्वमीमांसा के साथ संगत रीति से जोड़ा जाय। फिर आपने सुकरात की उक्ति को भी याद किया जिसके अनुसार सद्गुण और मानव आनन्द को बिना ज्ञान के नहीं प्राप्त किया जा सकता है। 'ज्ञान' से अर्थ है- अतिव्यक्तिक, सर्वव्यापक तथा सर्वमान्य ज्ञान। अब कैसे ऐसे निश्चित ज्ञान को प्राप्त किया जाय? निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिये ऑगस्टाइन ने संशय-विधि को अपनाया है, क्योंकि वे चाहते थे कि उस सत्यता को प्राप्त किया जाय जिस पर संशय नहीं किया जाय। उनका सुझाव है कि संशयवादी इसका इन्कार कर सकता है कि संवेदन के अनुसार कोई सत्ता हो सकती है, पर वह अपनी आन्तरिक संवेदना के अस्तित्व को नहीं अस्वीकार कर सकता है, जैसे- भूख-प्यास, दाँत-पेट का दर्द, इत्यादि। तब इस संवेदन पर ध्यान दिया जाए कि इससे क्या-क्या बातें परिलक्षित होती हैं। सबसे पहले तो यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल आन्तरिक संवेदन को स्वीकारा जाय और साथ-साथ यह भी कि संशयी के संशय को भी स्वीकारा जा सकता है। जैसे संशयी संशय करने लगता है, उससे अकाट्य रूप से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि संशय करने के साथ संशयी का अस्तित्व भी ज्ञात हो जाता है, अर्थात् चेतन की निश्चितता है

Since I doubt, I know that I, the doubter am, There the certainty of the conscious being.

कितनी ही भूलें संशयी करें, पर भूल करने वाले के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इस चेतन के विश्लेषण से चेतन के सभी अंशों को भी स्वीकार करना पड़ेगा, केवल यही नहीं कि वह जीवित है, पर यह भी कि वह जानता है, वह याद करता है और वह संकल्प भी करता है। चेतन की ये सभी बातें संशय करने में चली आती है। जैसे, बिना संशयी की सहमति (assent) के संशय भी नहीं सम्भव हो सकता है। पर इन तीनों प्रकार की प्रक्रियाओं से परिलक्षित होता है कि संशयी एक व्यक्तित्वपूर्ण प्राणी है, अर्थात् ऐसी आत्म-चेतना (self-consciousness) जिसमें सभी मानसिक प्रक्रियाएं संश्लेषात्मक एकता (Synethetic unity) में पाई जाती हैं।

इस आत्मचेतना की निश्चितता में ईश्वर का भी अस्तित्व निर्विवाद रूप से ध्वनित होता है। सन्त ऑगस्टाइन पूछते हैं कि क्यों हम सम्वेदना को सामान्यत: स्वीकार करते हैं। इसलिये स्वीकार करते हैं कि इसको स्वीकार करने में अव्यक्त रूप से सत्यता की कसौटी हमारी चेतना में है। जब संशय किया जाता है तब इससे स्पष्ट होता है कि संशयी को उस सत्यता का भान होता है जिसके आधार पर वह वस्तुओं के अस्तित्व का संशय करता है, अर्थात् मानव को सम्वेदन की सत्यता नहीं, वरन् तार्किक नियमों और अशरीरी प्रत्ययों, सौन्दर्य तथा शुभ प्रत्यय का ज्ञान भी आधारभूमि में भी रहता है जिनकी उपस्थिति से संवेदन को इन प्रत्ययों के द्वारा पूर्ण किया जा सकता है। तब इन प्रत्ययों की आधारभूमि में रहने पर क्या ध्वनित होता है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ये वे सत्यतायें हैं जो सभी व्यक्तियों को स्पष्ट हो जाती हैं तब वे इन पर विचार करने लगते हैं। तब इन सर्वव्यापक सत्यताओं को किस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है? सन्त ऑगस्टाइन कहते हैं कि इन सर्वव्यापक और सर्वमान्य सत्यताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि ये ईश्वरीय प्रत्यय और चेतन के आद्यरूप (archetypes) है। इन्हें जानने से अभिप्राय है कि जो तर्कबुद्धि के द्वारा ज्ञात होता है वह एक रूप से ईश्वर में निहित प्रत्ययों का ज्ञान होता है और उन्हें जानने का अभिप्राय है कि मानव उतनी दूर तक ईश्वर को भी जानते हैं, अर्थात् मानव ईश्वर को पूर्णरूप से तो नहीं जान सकता है, पर इतना ही भर जानता है कि ईश्वर है, न कि वह क्या है, ईश्वर का अस्तित्व जानते हैं, पर उसका सारतत्त्व (essence) नहीं।

सन्त ऑगस्टाइन ने प्लोटिनस के निस्सरणवाद (Emanationism) को नहीं स्वीकारा है और इसके स्थान पर ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर को शून्य से सृष्टि करने वाला समझते है (vation out of nothing)। इसलिये सन्त ऑगस्टाइन के लिए अशुभ की समस्या कहीं अधिक कठिन हो जाती है। पर प्लोटिनस के समान सन्त ऑगस्टाइन अशुभ को भावात्मक (positive) सत्ता नहीं मानते है। इसे आप अभावात्मक मानते हैं, अर्थात् शुभ के अभाव को अशुभ कहा जा सकता है। अशुभ निष्क्रिय कारण है और अभावात्मक है।

4.2.3.1 संकल्प की प्रधानता

सन्त ऑगस्टाइन ईश्वर का अस्तित्व न परम सत्यता के आधार पर स्पष्ट करते हैं, पर उनकी सक्रियता और प्रकाशना के आधार पर भी। स्टोइकवादियों ने मानव के सङ्कल्प पर बल दिया था। यह बात सन्त ऑगस्टाइन के चिन्तन में भी पाई जाती है। सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार सङ्कल्प की सहमति सभी ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं और ज्ञान प्राप्ति में पाई जाती है। इनके अनुसार चेतन होने और रहने में भी सङ्कल्प की आवश्यकताओं देखी जाती है। किसी मानसिक स्थिति और क्रिया करने में इच्छात्मक शक्ति का सक्रिय होना आवश्यक है। इसी प्रकार बौद्धिक विचारने, निर्णय करने तथा युक्तिपरक प्रक्रियाओं में बिना सङ्कल्प के कुछ नहीं हो सकता है। सङ्कल्प के द्वारा सभी प्रदत्तों को दिशा देने के लिए उनके बीच संश्लेषण की आवश्यकता पड़ जाती है। यहाँ पर सन्त ऑगस्टाइन के विचार में धर्म-दृष्टि के कारण एक मोड़ चला आता है।

सम्भवत: बाह्य और आन्तरिक बौद्धिक प्रक्रियाओं में सङ्कल्प की आवश्कता पड़ जाय, पर क्या उच्चतर बातों को जानने के लिए केवल मानव के अपने सङ्कल्प से काम चल जायगा? नहीं, वास्तव में प्रत्ययों की बौद्धिक सत्यता के जानने में भी ईश्वर की सक्रियता देखी जाती है, क्योंकि इन्हें मानव सम्वेदन के आधार पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। इस नित्य और शाश्वत सत्यता को जानने के लिए ईश्वर की सर्जनात्मक प्रक्रिया, उनके द्वारा रचित प्रकाशना (revelation) तथा बोधि (illumination) की आवश्यकता पड़ जाती है। इसका कारण है कि नित्य सत्यताओं का ज्ञान ईश्वर की आशिष और उसका वरदान है और यह वरदान केवल ईश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होता है। अनुग्रह वह ईश्वरीय दान है। जिसे मानव अपने ही प्रयास से उसे अपने श्रमफल के स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता है। ईश्वर दयाद्रवित होकर अपने स्वतन्त्र इच्छा के द्वारा यह वरदान देता है कि उसके चुने हुये व्यक्ति स्वर्गिक आनन्द को प्राप्त करें। इसलिए स्वर्गिक आनन्द के लिए नित्य सत्यता की प्राप्ति ईश्वर के अनुग्रह पर निर्भर करती है। अत: मानव ज्ञान भी अन्त में ईश्वर के अनुग्रह, उसकी प्रकाशना पर निर्भर करता है। यहाँ मानव इच्छा-स्वातन्त्र्य का खण्डन हो जाता है और मानव ईश्वर के साथ की कठपुतली हो जाता है। सन्त ऑगस्टाइन का कहना है कि ईश्वर का अनुग्रह उन्हीं भक्तों के ऊपर होता है जो ईश्वरीय अनुग्रह के अधिकारी होते हैं। अधिकारी होने के लिए वह ईश्वर-प्रकाशना में आस्था (Faith) पर निर्भर करता है। सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार आस्था में विचार और सङ्कल्प की सहमति, दोनों एक साथ पाए जाते हैं। इस प्रकार की आस्था न केवल स्वर्गिक तथा ईश्वरीय बातों के लिए आवश्यक है, पर साधारण वस्तुओं के ज्ञान के लिए भी आवश्यक है। बौद्धिक सूझ गरिमा की दृष्टि से श्रेष्ठ है, पर ईश्वरीय प्रकाशना में काल की दृष्टि से आस्था इसकी पूर्व शर्त है। इस संदर्भ में सन्त ऑगस्टाइन के आद्य पाप की अवधारणा को समझना समीचीन प्रतीत होता है।

4.2.3.2 आद्य पाप

अलेक्जैण्ड्रिया के क्लेमेण्ट ने आद्य पाप के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था जिसके अनुसार आदम ने सर्वप्रथम ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर पाप किया। इसके फलस्वरूप आदम की सन्तान अथवा समस्त मानव जाति पाप से ग्रस्त होकर नारकीय दण्ड के योग्य हो गई हैं। इस नरक-यातना से बचने के लिए ईसा के पापमोचक क्रूशीय बलिदान में आस्था रखना आवश्यक है। इसके विरोध में प्लेजिस का मत है कि- प्लेजियस के विरुद्ध सन्त ऑगस्टाइन आद्य पाप में विश्वास रखते थे और आद्य पाप-सिद्धान्त के पक्ष में युक्तियाँ प्रस्तुत की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कैल्विन (सन् 1509-1564) ने आद्य पाप के साथ पूर्वनियतिवाद (pre-destination) को भी जोड़ दिया है। पूर्वनियतिवाद के अनुसार चूँकि सभी मानव नरक में जाने के योग्य हैं, इसलिये केवल ईश्वर के अहेतुक अनुग्रह के कारण ही कुछ व्यक्तियों को सृष्टि के पूर्व से ही चुन लिया गया है कि वे स्वर्गिक राज्य के अधिकारी हों।

अत:, आद्य पाप और पूर्वनियति के अनुसार मानव की स्वतन्त्र इच्छा का सिद्धान्त लुप्त हो जाता है और मानव ईश्वर की एक कठपुतली हो जाता है। यहाँ आश्चर्यजनक बात देखो जाती है। तत्वमीमांसा के अनुसार मानव स्वतन्त्र प्राणी होता है। पर वही स्वतन्त्र प्राणी चर्च-शिक्षा के अनुसार स्वतन्त्र इच्छा को खोकर एक कठपुतली हो जाता है। चर्च की शिक्षा भी कुछ ऐसी थी कि मानव का भविष्य अन्धकारमय हो गया और सम्पूर्ण सृष्टि निराशावाद में डूब गई। यही कारण है कि मध्ययुगीन ईसाई धर्मदर्शन को अन्धकार युग कहा गया है।

4.2.3.3 सृष्टि-सिद्धान्त

सृष्टि-सिद्धान्त में निम्नलिखित तत्त्व होते हैं :

1. किसी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का होना जिसमें विचार और संकल्प का रहना चाहिए।
2. बिना किसी पूर्वस्थापित उपादान के केवल स्वतन्त्र इच्छा मात्र से विश्व को उत्पन्न करना, जैसे बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने कहा 'ज्योति हो जा' और संसार में ज्योति आई।
3. यह सृष्टि बिना किसी पूर्वस्थापित उपादान के उत्पन्न होती है, पर केवल सृष्टिकर्त्ता की मात्र इच्छा से उत्पन्न होती है।

सृष्टि-सिद्धान्त के अनुसार काल और सृष्टि दोनों एक साथ ईश्वर-द्वारा उत्पन्न हुई है। सृष्टि के पूर्व काल था ही नहीं। इसलिये निम्नलिखित प्रश्न करना निरर्थक और निराधार है कि

1. सृष्टि क्यों नहीं सृष्टिकाल के पूर्व या बाद में रची गई, या
2. सृष्टि के पूर्व ईश्वर क्या करता था? इत्यादि। फिर एक अन्य प्रश्न भी किया जाता है।

जब ईश्वर को पूर्वज्ञान था कि मानव पाप करेगा और फिर उसको इसके फलस्वरूप नारकीय दंड मिलेगा, तब ईश्वर ने उसकी (मानव की) क्यों रचना की?

संत ऑगस्टाइन के अनुसार काल और नित्यता (कालातीतता अथवा कालविहीनता) में अन्तर है। काल मानव के ही लिये यथार्थ होता है और काल की अवधारणा के अनुसार घटनाओं में क्रम का अन्तर होता है। ईश्वर की नित्यता में सभी काल, भूत और भविष्य दोनों एक साथ वर्तमान रहते हैं। (The past and future remain in His ever present now) इसलिये ईश्वर के पूर्वज्ञान और भविष्य ज्ञान का अन्तर व्यर्थ है और इसके सन्दर्भ में प्रश्न भी अनर्गल है। तब यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है कि जानबूझकर ईश्वर ने पापी व्यक्तियों की क्यों रचना की।

यह भी प्रश्न, सन्त ऑगस्टाइन के लिये व्यर्थ है क्योंकि ईश्वर अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार सृष्टि करता है और उसकी इच्छा के सन्दर्भ में मानव को आपत्ति करने का कोई अधिकार नहीं है। क्या मिट्टी का बर्तन कुम्हार से प्रश्न कर सकता है कि उसने क्यों कुछ बर्तनों को टेढ़ा-मेढ़ा बनाया है। उसी प्रकार सृजनहार ईश्वर से यह पूछना भी अनर्गल है कि उसने क्यों पापी होने के लिये मानवों की रचना की है।

4.2.3.4 विश्व-विज्ञान

विश्व की उत्पत्ति के विषय में संत ऑगस्टाइन सृष्टिवाद मानते है। संत ऑगस्टाइन उद्‌गम सिद्धान्त के सिद्धान्त इसलिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि इसके अनुसार सृष्टि परमेश्वर का स्वतन्त्र कार्य न होकर ईश्वरीय तत्त्व का स्वाभाविक परिणाम मालूम पड़ती है। इसके विपरीत संत ऑगस्टाइन का मत यह है कि परमेश्वर स्वेच्छानुसार ही अपने को निस्मृत करता है।

कई विचारक इस प्रकार की आपत्ति करते हैं : परमेश्वर अपने तत्त्व से नहीं अपितु निराकार जड़ वस्तु से सृष्टि उत्पन्न करता है। वह जड़ वस्तु स्वयंभू होने के कारण परमेश्वर से स्वतन्त्र है। इसके विरुद्ध संत ऑगस्टाइन कहते हैं कि वह स्वतन्त्र जड़ वस्तु तो पूर्ण रूप से निराकार है, या निराकार होते हुए भी आकार ग्रहण करने योग्य है। यदि वह बिल्कुल निराकार है तो शून्य के बराबर होगी। फिर, यदि वह आकार ग्रहण कर योग्य है, तो वह योग्यता जड़ वस्तु को अपने से नहीं, बल्कि सृष्टिकर्त्ता से ही मिलती है, इसलिए परमेश्वर न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

केवल जड़ वस्तु को आकार देता है, अपितु इसे बनाता भी है। सम्पूर्ण अस्तित्व को उत्पन्न करने के कारण परमेश्वर शून्य से ही उसकी सृष्टि करता है। दूसरे ओर ये सृष्ट वस्तुएं परमेश्वर के तत्त्व से नहीं निकलती हैं।

विश्व की उत्पत्ति के विषय में हमें संत ऑगस्टाइन के विशेष सिद्धान्त पर ध्यान देना है यानि बीजगर्भित भावों के विषय में। ''बीजगर्भित भाव'' लैटिन शब्द (Rationes Seminales) का अनुवाद है। इस बीजों से वस्तुएं विकसित होती है, जैसे पौधे बीजों से फिर भी थे भौतिक बीज नहीं हैं, लेकिन अदृश्य शक्तियों जैसे लगते हैं। इसलिए ये बीज ''भाव'' ही कहलाते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार परमेश्वर आदि में विकसित वस्तुएं नहीं, बल्कि उनके 'बीजगर्भित भावों' को सृष्ट करता है। उन्हीं से क्रमशः सब प्रकार के जीव और निर्जीव विकसित होते हैं।

क्या इससे यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संत ऑगस्टाइन विकासवाद मानते थे? उनके सिद्धान्त का उद्‌गम देखने से हमें इस प्रकार का उत्तर नकार में ही देना पड़ेगा। इस सिद्धान्त के द्वारा वे बाइबिल-ग्रन्थ के दो विरोधात्मक वाक्यों का समन्वय करने की कोशिश करते हैं। उत्पत्ति-ग्रन्थ (Genesis) के अनुसार परमेश्वर ने क्रमशः सब वस्तुओं की सृष्टि की। (Ecclesiastes) नामक ग्रन्थ के अनुसार सब वस्तुओं की सृष्टि एक ही समय पर हुई है। 'बीजगर्भित भाव' सिद्धान्त के अनुसार दोनों वाक्यों का सामंजस्य होता है सब वस्तुओं के बीज साथ-साथ ही उत्पन्न हुए, जबकि उनका विकास क्रमशः हुआ। यह सिद्धान्त दार्शनिक विचार नहीं, बल्कि धर्म ग्रन्थ की समस्या की व्याख्या मात्र है।

4.2.4 मानव-विचार

सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार आत्मा अशरीरी है और इसे भौतिक नहीं समझना चाहिए। चूँकि ईश्वर ने ही आत्मा की सृष्टि की है इसलिये आत्मा को नित्य नहीं समझा जा सकता है और फिर इसे संसार को जन्म लेने के पूर्व इसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं जा सकता है। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है-

1. क्या प्रत्येक व्यक्ति के जन्म के समय ईश्वर उसमें नई आत्मा उत्पन्न करता है, या
2. सर्वप्रथम, ईश्वर ने आदि पुरुष आदम में ही आत्मा की सृष्टि की और यह आत्मा अब माँ-बाप से बच्चों में अन्तरित होती है।

यहाँ सन्त ऑगस्टाइन ने अपने विचार को स्पष्ट नहीं किया है, पर इनके आद्य पाप के सिद्धान्त के अनुसार दूसरा मत ही संगत समझा जायेगा। परन्तु अब ईसाई मत में प्रत्येक जन्म के साथ आत्मा का उत्पन्न होना ही स्वीकारा जाता है। सन्त ऑगस्टाइन त्येक ईश्वर को ध्यान में रखकर बताते हैं कि प्रत्येक मानव में तीन शक्तियाँ हैं, अर्थात् बुद्धि, संकल्प और स्मृति। संवेदन की सामग्री बाह्य जगत् से प्राप्त होती है और ईश्वर-द्वारा दी गई ज्योति के अनुसार बौद्धिक प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त होता है जो पूर्वानुभाविक रूप से मानव में प्रारम्भ से होता है। ज्ञान-वृद्धि ईश्वर-द्वारा नवीन प्रकाशना के द्वारा होती जाती है। मानव के पतन के कारण मानव बुद्धि तमाच्छन्न हो जाती है और इसलिये अवतार की आवश्यकता हुई है। ईश्वर ईसा में अवतरित हुआ है ताकि पापियों के पाप से छुटकारा हो और उसको अन्त में वह ज्योति फिर प्राप्त हो जाय जो आदम में पाप के पूर्व दी गई थी। मानव का अन्तिम निःश्रेयस् यही है कि मोक्ष प्राप्त कर ईश्वरीय सत्यता पर नित्य स्वर्गलोक में ध्यान देता रहे।

4.2.5 ज्ञान का सिद्धान्त

ऑगस्टाइन के दृष्टिकोण में समस्त ईसाई युग की भावना मिलती है। केवल उसी ज्ञान का मूल्य है जो ईश्वर तथा आत्मा से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से धर्मशास्त्र का स्थान प्रथम है। अन्य विज्ञानों- तर्कशास्त्र, तत्त्वज्ञान, नीति-विज्ञान का महत्त्व वहीं तक है जहाँ तक उनसे ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। मनुष्य जिसमें आस्था रखता है उससे अच्छी तरह समझना उसका परम कर्त्तव्य है। इसलिये ऑगस्टाइन ने कहा कि ''समझिये ताकि आप विश्वास कर सकें, विश्वास कीजिये ताकि आप सीख सकें।'' दैवी सत (Being) का प्रेम और उसकी सर्वोच्च महत्ता में विश्वास सन्त आगस्टाइन के दर्शन का मूल सिद्धान्त है। ज्ञानशास्त्र में भी आगस्टाइन ने यह माना है कि ईश्वर का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान, ज्ञान के क्षेत्र में समस्त खोज का एक मात्र लक्ष्य है। दैवी तत्त्व का ज्ञान और उसके त्रिविध स्वरूप (Trinity) का ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान है। यही मानव प्रयास की चरम परिणति है क्योंकि एकमात्र दैवी ज्ञान ही समस्त ज्ञान, यहाँ तक कि व्यावहारिक ज्ञान का भी सार है। व्यावहारिक ज्ञान, जो कि बाह्य वस्तुओं के अनुभव पर आधारित है, वह भी इस दैवी ज्ञान के आधार पर ही पूरी तरह समझा जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आगस्टाइन के अनुसार तर्कशास्त्र, आध्यात्मशास्त्र और नीतिशास्त्र केवल वहीं तक मूल्यवान है जहाँ तक कि ये दैवी ज्ञान की ओर ले जाते हैं अथवा उसमें योगदान देते हैं। सत का ज्ञान आत्मा की अर्न्तवस्तु में अन्तर्मुखी अन्तदृष्टि के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान भी ईश्वर का ज्ञान देता है। दैवी ज्ञान के लिये हम आस्था को नहीं छोड़ सकते और कभी-कभी हमें तर्क का सहारा लिये बिना ही विश्वास करना पड़ता है। परन्तु आगस्टाइन तर्कहीन विश्वासों का उपदेश नहीं देते और न ही वे विवेक के मूल्य को कम करते हैं। सच तो यह कि आगस्टाइन के अनुसार आस्था और विवेक न तो एक दूसरे के बाहर हैं और न परस्पर विरोधी हैं बल्कि पूरक हैं। आगस्टाइन ने कहा है, ''समझने के लिये हमें विश्वास करना चाहिये और विश्वास करने के लिये समझना चाहिये। अर्थात् श्रुति क्या है और क्या नहीं इसकी जाँच करने के लिये हमें आलोचनात्मक होना चाहिये। किन्तु यदि हमारे पास यह विश्वास करने का कोई कारण है कि कोई बात ईश्वर से आई है यह कोई शब्द है तो हमें उसके अधिकार को मानना चाहिये और उसमें आस्था रखनी चाहिये क्योंकि केवल दैवी तत्व ज्ञान ही सत्य की ओर जाने वाला सच्चा, और निश्चित निर्देशक है। प्राकृतिक ज्ञान के अतिरिक्त, ऑगस्टाइन के अनुसार, दैविक अभिव्यक्ति में विश्वास भी ईश्वरीय-ज्ञान का आधार है। विश्वास को समझने के लिए बुद्धि अनिवार्य है। बुद्धि को समझने के लिये आस्था आवश्यक है। सर्वप्रथम बुद्धि को यह समझना चाहिये कि वास्तव में कोई अभिव्यक्ति हुई है अथवा नहीं। यदि ऐसा निश्चय हो जाता है तो विश्वास उसे स्वीकार करेगा और बुद्धि उसकी व्याख्या करेगी। इस प्रकार ऑगस्टाइन के दर्शन में विवेक और आस्था परस्पर पूरक हैं। यदि ईश्वर में आस्था है तो उसे समझाने में आसानी होगी और यदि यह समझ लिया है तो आस्था सुदृढ़ बन जायेगी। अपने ज्ञानशास्त्र में ऑगस्टाइन ने यह माना है कि ईश्वर का ज्ञान और आत्मा का ज्ञान समस्त ज्ञान के क्षेत्र में खोज का एकमात्र लक्ष्य है। ईश्वरीय ज्ञान सर्वोच्च ज्ञान है। यही मानवीय विकास की चरम परिणति है क्योंकि एकमात्र दैविक ज्ञान ही समस्त ज्ञान, यहाँ तक कि व्यावहारिक ज्ञान का भी सार है।

ऑगस्टाइन के अनुसार, समस्त ज्ञान ईश्वर से मूल्य प्राप्त करता है। वह ज्ञान के दो क्षेत्र या स्तर मानता है। एक तो अन्तर्दृष्टि या बुद्धिमता और दूसरा वैज्ञानिक बुद्धि है। अन्तर्दृष्टि ज्ञान विवेक का सर्वोच्च कार्य है और रचनात्मक दैवी तत्व को स्पष्ट करता है। उसके द्वारा हम दैवी तत्व में त्रिविध तत्त्व अर्थात् अस्तित्व, व्यवस्था और गति का ज्ञान प्रदान करते हैं। इसमें आत्मा और उसके त्रिविध स्वरूप को भी जाना जाता है जिसमें अस्तित्व, ज्ञान और संकल्प सम्मिलित हैं। आत्मा का ज्ञान हमें ईश्वर के ज्ञान की ओर ले जाता है। वैज्ञानिक-बुद्धि प्रकृति के तत्त्वों को विश्लेषणात्मक रूप से जानने का लक्ष्य रखती है। लेकिन यह ज्ञान अन्तर्दृष्टि-ज्ञान से गौण है क्योंकि अन्तर्दृष्टि से हमें आत्मा का सन्देहरहित रूप स्पष्ट होता है।

आत्मा के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया जा सकता क्योंकि सन्देह की प्रक्रिया ही आत्मा को स्पष्ट करती है। आत्मा का ज्ञान प्रकृति तथा बाह्य जगत् के ज्ञान की तुलना में कहीं अधिक सुनिश्चित एवं सन्देह-रहित होता है। जब हम आत्मा के ज्ञान में लीन होते हैं तो उससे बहुत से दैवी रचनात्मक तत्वों का ज्ञान भी हमें हो जाता है। वस्तुओं के बारे में सत्य तथा असत्य का निर्णय करते समय हमें बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। इससे यह सारांश निकलता है कि एक वस्तुगत जगत् है जिसके विषय में हम कुछ निर्णय देते हैं। हम सत्य या असत्य का निर्णय नहीं दे सकते जब तक कि उनके अनुरूप वस्तुएँ न हों। इस प्रकार ऑगस्टाइन का यह विश्वास था कि सत्य वस्तुगत है, केवल मानवीय मस्तिष्क की आत्मगत उपज मात्र नहीं है। वह स्वतन्त्र एवं दबाव डालने वाला है चाहें आप उसे देख पावें अथवा नहीं। वह अस्तित्व रखता है और सदैव अस्तित्वमय रहा है। सत्य के इस शाश्वत और अपरिवर्तनीय जगत् का स्रोत ईश्वर है। सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार ज्ञान सिद्धान्त को निम्न सूचीबद्ध किया जा सकता है।

ऐन्द्रिक ज्ञान - ऐन्द्रिक ज्ञान निम्न स्तर का ज्ञान है। ऐन्द्रिक ज्ञान संवेदनात्मक होता है, संवेदनाएँ अर्थ (वस्तु) जन्य होती हैं। हमारी इन्द्रियों का जब अर्थ या वस्तु से सम्पर्क होता है तो संवेदनाएँ उत्पन्न होती है। इसी कारण ऑगस्टाइन इसे संवेदना-सापेक्ष कहते है। इसे ऑगस्टाइन निम्नस्तरीय ज्ञान मानते हैं, क्योंकि यह ज्ञान मनुष्य या पशु को समान प्राप्त होता है। पशु को भी मनुष्य के समान ही संवेदनाएँ होती है। यह ज्ञान इन्द्रिय तथा विषय के सम्पर्क का परिणाम है। यह वस्तु-जगत का ज्ञान भी कहलाता है।

बौद्धिक ज्ञान - बुद्धि या विवेक मानव की विशेषता है। अत: यह ज्ञान पशु जगत् से भिन्न है, क्योंकि पशु को मनुष्य के समान सवेदनाएँ तो प्राप्त होती है, परन्तु उसके पास विवेक नहीं। यह ऐन्द्रिक ज्ञान तथा अन्तर्ज्ञान के बीच की अवस्था है। यह शुद्ध बुद्धि का व्यापार है, सविकल्पक ज्ञान है। हमें जो भी बाह्य जगत से संवेदनाएँ प्राप्त होती है, बुद्धि उन्हें सार्थक बनाती है, संवेदनाओं को स्वरूप प्रदान कर बोधगम्य बनाती है। ऑगस्टाइन इसे भी निम्न ज्ञान मानते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध वस्तु जगत् की संवेदनाओं से है। संवेदना ही इसके उपकरण है, जिसके अभाव में बुद्धि कार्य नहीं कर सकती। परन्तु बुद्धि को कार्य करने की शक्ति आत्मा से प्राप्त होती है। इसीलिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ऑगस्टाइन इसे इन्द्रिय और आत्मा के बीच बौद्धिक या मानसिक ज्ञान मानते हैं। बौद्धिक ज्ञान के सहारे ही हम इन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं पर निर्णय देते हैं। ऑगस्टाइन ऐन्द्रिक तथा बौद्धिक ज्ञान में भेद यों करते हैं- इन्द्रियों से हमें भौतिक वस्तु का ज्ञान प्राप्ति होता है, परन्तु बुद्धि से अभौतिक वस्तु का। उदाहरणार्थ, सुन्दर वस्तु का ज्ञान ऐन्द्रिक है, परन्तु सौन्दर्य का ज्ञान बौद्धिक ज्ञान है। सुन्दर वस्तु अनित्य तथा परिणामी है, परन्तु सौन्दर्य नित्य तथा अपरिणामी है। अत: बौद्धिक ज्ञान नित्य, अपरिणामी सत्यों (Eternal and immutable truths) का ज्ञान है।

अन्तर ज्ञान - यह उच्चतम ज्ञान है। ऑगस्टाइन इसे प्रज्ञा कहते हैं। यह बुद्धि का सर्वोत्तम स्वरूप है। बुद्धि निर्णय करने की शक्ति प्रज्ञा से आती है। ऑगस्टाइन बुद्धि तथा प्रज्ञा में भेद करते हैं। बौद्धिक ज्ञान सविषयक होता है, प्रज्ञा निर्विषयक है। संवेदना बौद्धिक ज्ञान का उपकरण है, परन्तु प्रज्ञा तो स्वत: प्रसूत ज्ञान है। इसी कारण ऑगस्टाइन बुद्धि को व्यावहारिक मानते हैं, क्योंकि व्यवहार-जगत् या वस्तु जगत् का ज्ञान बुद्धि के बिना सम्भव नहीं। परन्तु प्रज्ञा तो बुद्धि का पर्यवसान है। प्रज्ञा ध्यान-परक ज्ञान है। यह सत्य के शाश्वत स्वरूप का ध्यान है। प्रज्ञा बुद्धि का ज्ञान नहीं, वरन् आत्मा का ज्ञान है। नित्य सत्यों का ज्ञान हमें बुद्धि से नहीं, वरन् आत्मा से ही प्राप्त होता है। आत्मा प्रकाश-पुञ्ज है। बुद्धि में विषयों को प्रकाशित करने की शक्ति आत्मा के कारण ही आती है। यह प्रकाश दैवी अतीन्द्रिय है। वस्तुत: इन्द्रिय जगत् के ज्ञान का मूल भी अतीन्द्रिय प्रकाश ही है। बुद्धि इस दैवी प्रकाश के कारण ही सांसारिक विषयों को प्रकाशित करती है। अत: इन्द्रिय से अतीन्द्रिय की ओर जाने के लिए बुद्धि ही साधन है। परन्तु इसका साध्य प्रज्ञा है। यह उच्चतम दैवी प्रकाश है जिससे शाश्वत सत्यों का ज्ञान तथा ईश्वरानुभूति होती है। यह आत्मा में परमात्मा का अंश है। इसी अंश के कारण ही मानव बुद्धि परमपिता परमेश्वर को पहचानती है। इस प्रकार ऑगस्टाइन विवेक या बौद्धिक ज्ञान और प्रज्ञा में भेद करते है तथा दूसरी ओर विवेक को प्रज्ञा का साधन बतलाते है। वस्तुत: इन्द्रिय तथा आत्मा के बीच बुद्धि का स्थान है। बुद्धि निश्चयात्मिका शक्ति है, परन्तु यह शक्ति आत्मा की देन है, क्योंकि आत्मा परमात्मा का अंश होने के कारण प्रकाश-पुञ्ज है। आत्मा बुद्धि को प्रकाशित करती है तथा बुद्धि विषयों को। बुद्धि जब विषयों से हटकर आत्माभिमुख होती है तो शुद्ध विवेक या प्रज्ञा का रूप धारण कर लेती है। प्रज्ञा दैवी ज्ञान है।

संक्षेप में, ऑगस्टाइन का ज्ञान सिद्धान्त इस प्रकार है-

1. समस्त अस्तित्व एवं ज्ञान का स्रोत ईश्वर है और ईश्वर का दैवी रचनात्मक तत्व ही सदैव अभिव्यक्त होता है।
2. अन्तर्दृष्टि अथवा बुद्धिमत्ता द्वारा आत्मा एवं ईश्वर का ज्ञान संभव होता है।
3. सत्य एवं असत्य की दृष्टि से विवेक विभिन्न प्रकार के निर्णय देता है। सत्य का वस्तुगत अस्तित्व भी होता है और वैज्ञानिक बुद्धि द्वारा हमें बाह्य जगत् का ज्ञान होता है।
4. धर्म शास्त्र द्वारा दैवी तत्त्व का सीधा ज्ञान होता है और अन्य विज्ञान दैवी तत्व को जानने के साधन मात्र है।
5. मानवीय जीवन का एक मात्र लक्ष्य दैवी ज्ञान को प्राप्त करना है। समस्त मानव प्रयास इसी ओर होना चाहिये।

4.2.6 ईश्वर की धारणा

ऑगस्टाइन के धर्मशास्त्र में नव्य-प्लेटोवादी ईश्वर-धारणा का अत्यधिक प्रभाव रहा। वह मानता है कि ईश्वर नित्य, अनुभवातीत, सर्वशक्तिमान, पूर्णत: शुभ एवं बुद्धिमान है। वह निरपेक्ष एकता, बुद्धि संकल्प, अर्थात् निरपेक्ष-आत्मा है। ईश्वर पूर्णत: स्वतन्त्र है। उसके निर्णय उसी भांति अपरिवर्तनीय हैं जिस भाँति उसका स्वभाव है। वह पूर्णत: पवित्र है। ईश्वर अशुभ की इच्छा से परे है। ईश्वर में क्रिया एवं संकल्प एक ही हैं। उसका प्रत्येक संकल्प किसी माध्यम के बिना ही सम्पूर्ण हो जाता है। वस्तुओं के समस्त प्रत्यय ईश्वर की बुद्धि में हैं। सृष्टि-रचना के पूर्व ईश्वर का अस्तित्व था। अतएव प्रत्येक वस्तु का मूल कारण ईश्वर ही है। जगत् ईश्वर पर निर्भर है पर ईश्वर किसी भी प्रकार से जगत् पर आश्रित नहीं है।

सन्त आगस्टाइन के अनुसार ईश्वर, शाश्वत, परात्पर (Transcendent), सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञानी, सर्वव्यापक आत्मा है। वह पूर्णतया स्वतन्त्र और परम शुभ है। वह कोई पाप नहीं कर सकता क्योंकि उसका संकल्प सब प्रकार से पवित्र और स्वतन्त्र है। निरपेक्ष और सर्वशक्तिमान होने के कारण कोई भी अन्य शक्ति ईश्वर की क्रिया पर नियन्त्रण नहीं करती। ईश्वर ने शून्य से जगत् की रचना की है। उसने रूप और जड़तत्व दोनों बनायें हैं। यद्यपि जगत ईश्वर से नहीं निकला है और न उससे विकसित है फिर भी वह पर पूर्णतया निर्भर है। अस्तु, उसकी रचना निरन्तर है, उसमें किसी सहारे की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के सहारे के बिना जगत नहीं रह सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आगस्टाइन की ईश्वर की धारणा का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि उन्होंने इस विवाद का सफलतापूर्वक निराकरण किया है कि ईश्वर ने जगत की रचना काल में की है अथवा नहीं। उसके अनुसार जगत की रचना के पूर्व न काल था न देश और इसीलिये यह कहना अनुचित है कि जगत की रचना काल में हुई। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जगत का कोई आरम्भ नहीं था अथवा कि वह शाश्वत है। उसका आरम्भ था परन्तु काल में नहीं था क्योंकि काल का जन्म भी जगत के साथ-साथ हुआ। आगस्टाइन ने काल की समस्या को सुलझाया है। उनके अनुसार काल स्मृति है। भूतकाल की याददाश्त और भविष्य की आशा ही काल है। अस्तु, जगत ईश्वर के संकल्प का परिणाम है और शाश्वत नहीं है। यह सोचना कि जगत शाश्वत है ईश्वर के समान्तर और सह-अस्तित्व में जगत की सत्ता को स्थापित करता है जिसमें द्वैतवाद उत्पन्न होता है। आगस्टाइन इस प्रकार के द्वैतवाद का निराकरण करने के लिये प्रयत्नशील है। संत ऑगस्टाइन परमेश्वर के अस्तित्व के लिए द्विविध प्रमाण देते है :-

1. भीतरी तत्त्व के आधार पर,
2. बाहरी तत्त्व के आधार पर,

भीतरी तत्त्व के आधार पर नित्य सत्य हमारे मन के सापेक्ष नहीं हैं, इसलिए ये उससे उत्पन्न नहीं होते, अत: ये अवश्य ही किसी दूसरे आधार पर स्थित हैं। नित्य सत्यों के ज्ञान का स्रोत परमेश्वर ही है जो स्वयं सत्य कहलाता है। मानव-मन से प्राप्त हुए नित्य सत्य परमेश्वर के निर्विकार तत्त्व को प्रतिबिंबित करते हैं।

बाहरी तत्त्व के आधार पर यह प्रमाण सृष्टि से लिया गया है। सृष्ट वस्तुएँ अपने सृष्टिकर्त्ता की गवाही देती है। लेकिन संत ऑगस्टाइन इस प्रमाण का सविस्तार वर्णन नहीं करते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य नास्तिकों को मात्र सैद्धान्तिक प्रमाणों से कायल करना नहीं है, वरन् वे यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी सृष्ट वस्तु मानव-हृदय को पूर्णत: संतुष्ट नहीं कर सकती है। केवल सृष्टिकर्त्ता ही मानव-आत्मा की जिज्ञासा संतुष्ट कर सकता है। मानव-आत्मा तो स्वभाव से ही अनन्त होती है।

इसलिए परमेश्वर के अस्तित्व के बुद्धिसंगत प्रमाणों को संत ऑगस्टाइन के दृष्टिकोण से देखना चाहिए, अर्थात्, मानव-आत्मा उस तत्त्व की खोज में लगी रहती है जिससे उसे पूर्ण आनन्द, तृप्ति या संतोष मिलेगा। परमेश्वर की विशेषताओं के विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमेश्वर विश्वातीत और विश्वव्यापी दोनों ही है। वह आकाश की तरह सब जगह उपस्थित होकर भी आकाश से सीमित नहीं है। काल के किसी क्षण में अनुपस्थित नहीं है, परन्तु अनन्त-काल द्वारा भी परिमित नहीं है।

सृष्ट वस्तुओं की उत्पत्ति के विषय में संत ऑगस्टाइन किसी प्रकार से सत्कार्यवादी कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके अनुसार सृष्टि के पूर्व ही सृष्ट वस्तुएं परमेश्वर के ज्ञान में थीं। उनके उत्पन्न होने का कारण यह है कि परमेश्वर उनके दर्शन अपने में करता है, अर्थात् सृष्ट वस्तुएं परमेश्वर के ज्ञान से उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं परमेश्वर सृष्टि के तत्त्व से सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करता है।

ईश्वर सिद्धि के प्रमाण

1. नित्य तथा अनिवार्य सत्य का कारण ही ईश्वर सिद्धि होता है। नित्य, सत्य किसी व्यक्ति या किसी देश विशिष्ट का सत्य नहीं, वरन् सार्वभौम सत्य है, जिन्हें सभी देश तथा काल में स्वीकार किया जाता है। प्रश्न यह है कि इन सत्यों का कारण कौन हो सकता है? इन सत्यों का कारण हमारा मन नहीं, क्योंकि हमारा मन तो अनित्य है, परिणामी है। इन नित्य सत्यों का कारण नित्य परमात्मा ही हो सकता है। नित्य सत्य कार्य है तथा परमात्मा इनका कारण। हम कार्य से कारण का अनुमान करते है, अत: नित्य सत्यों से नित्य परमात्मा का ज्ञान होता है। ये नित्य सत्य ही सभी सांसारिक सत्यों के कारण है। परन्तु ये अकारण नहीं। जिस प्रकार अनित्य सत्यों का कारण मानव है, उसी प्रकार नित्य सत्य का कारण ईश्वर ही है।

2. सृष्टि से द्रष्टा का अस्तित्व सिद्ध है। संसार में जो कुछ भी हैं, वह कार्य है इनका कारण एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर के सम्बन्ध में यह कार्य कारण तर्क सर्वमान्य तर्क है जिसके अनुसार कारण तथा जगत् को कार्य माना जाता है। कार्य अकारण नहीं हो सकता, अत: ईश्वर ही इसका कारण है। इस कार्य-कारण तर्क को ऑगस्टाइन दूसरे प्रकार से रखते हैं। उनके अनुसार मानव आत्मा सदा दिव्यानन्द के लिये विह्वल है। ऑगस्टाइन मानव को पदच्युत मानते हैं मानव पहले स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करता था, परन्तु आदम तथा ईव रूप में पाप करने के कारण उस आनन्द से वञ्चित हो गया। वह नैसर्गिक आनन्द की प्राप्ति के लिये सदा प्रयास करता है। सांसारिक विषयों में मानव को वह आनन्द नहीं प्राप्त होता। यह आनन्द के प्रति प्रयास ही सिद्ध करता है कि परमानन्द का धाम परमेश्वर है जिसकी ओर आत्मा अभिमुख है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विश्व सम्मति ऑगस्टाइन का कहना है कि विश्व के सभी व्यक्तियों के मन में ईश्वर की धारणा विद्यमान है। इस विचार का स्रष्टा और कोई नहीं हो सकता। मानव अपूर्ण है, असीम है। सृष्टि का कर्त्ता तो पूर्ण तथा असीम ईश्वर ही हो सकता है। इस तर्क से यह सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर ही विश्व का रचियता है इसे सभी बौद्धिक प्राणी स्वीकार करते हैं। सबों की स्वीकृति से ईश्वर की सत्ता सिद्ध है।

ईश्वरीय नगर एवं शैतानी नगर

यूरोपीय राजशास्त्र के मध्यकालीन युग में ईसाई धर्म पुजारियों के विचारों का विशेष महत्त्व था। चर्च और राज्य के सम्बन्ध में चर्च की सत्ता राज्य से अधिक मानी जाती थी। ईसाई धर्म पुजारियों के अनुसार राजा को सत्ता भी चर्च के ही द्वारा दी गयी थी। चर्च की इतनी व्यापक सत्ता होने के कारण अनेक ईसाई पुजारियों के विचारों का राजनैतिक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव पड़ा। इनमें सन्त आगस्टाइन का नाम उल्लेखनीय है। सन्त आगस्टाइन के राजनैतिक विचार उसके दो प्रसिद्ध ग्रन्थों से मिलते है- द सिटी ऑफ गाड और द कन्फेशसं। पहली पुस्तक में आगस्टाइन ने आदर्शनगर की कल्पना प्रस्तुत की और ईसाई धर्म के विरुद्ध लगाये गये आरोपों का खण्डन किया है। आगस्टाइन ने अपनी इस पुस्तक में यह सिद्ध किया कि साम्राज्यों का उत्थान और पतन दैवी योजना से होता है, उनके पीछे अन्य कारणों की तलाश नहीं की जानी चाहिये। इस पुस्तक के व्यापक प्रभाव के विषय में मरे (Murray) ने लिखा था, ''इस पुस्तक ने पवित्र रोमन साम्राज्य की नींव डाली और राज्य को चर्च के पूर्ण आधीन कर दिया।'' राज्य को चर्च के आधीन मानने का विचार आगस्टाइन को उसके गुरु सन्त अम्ब्रोज से मिला था। सन्त अम्ब्रोज आध्यात्मिक मामलों में राज्य को चर्च के आधीन मानता था जो चर्च के मामलों में राज्य के हस्तक्षेप को अनुचित कहता था। जैसा कि पूर्व में उल्लेख हुआ है, सन्त आगस्टाइन ने भौतिक घटनाओं की दैवी संकल्प से व्याख्या की। उसका कहना था कि संसार में जब कहों जो भी राजनैतिक परिवर्तन होते हैं वे सभी सृष्टा के सनातन प्रयोजन को पूरा करने के लिये होते हैं। उसने मानव इतिहास की धार्मिक व्याख्या उपस्थित की जिसके अनुसार संसार की समस्त राजनैतिक घटनाओं का लक्ष्य ईश्वर के राज्य की स्थापना है। संसार में व्रत और पुण्य की विरोधी शक्तियों में संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में सदैव पुण्य की विजय होती है।

आगस्टाइन मानव प्राणी में दो पहलू मानता है- शरीर और आत्मा। इन दो पहलुओं के मनुष्य दो नगरों अथवा दो राज्यों का सदस्य बन जाता है- शैतान का राज्य और दैविक राज्य। शरीर से मनुष्य पाशविक प्रवृत्ति के कारण शैतान के राज्य का सदस्य है। आत्मा से यह दैवी राज्य का सदस्य बन सकता है। मानव जीवन में इन दोनों पहलुओं और इन दोनों राज्यों के मध्य संघर्ष की अपनी कहानी है। इस संघर्ष में सदैव अन्त में दैवी राज्य की ही विजय होती है। कितना भी शक्तिशाली होने पर भी अन्त में शैतान का राज्य नष्ट हो जाता है। रोम में शैतान का राज्य होने के कारण ही उसका पतन हुआ। शैतान के राज्य के पतन से दैवी राज्य बढ़ता है। इसलिये रोम का पतन दैवी राज्य के विस्तार की ओर एक कदम था।

दैवी राज्य का सदस्य होने के लिये मनुष्य पर ईश्वर की कृपा होनी चाहिये। यह कृपा तभी हो सकती है जबकि वह ईसाई धर्म का पालन करे। इसके लिये चर्च में प्रवेश करना पड़ेगा। ईसाई के धर्म अनुयायियों के अतिरिक्त फरिश्ते और ईश्वर के कृपापात्र मृत व्यक्ति भी दैवी राज्य के सदस्य हो सकते हैं। दैवी राज्य के सदस्य ईसा पर विश्वास रखने वाले होते हैं। इसीलिए सन्त आगस्टाइन ने ईश्वर के नगर की धारणा उपस्थित की जिसमें न्याय और शान्ति का बोलबाला था। इस नगर की सदस्यता संसार के किसी भी देश के उन व्यक्तियों को मिलती है जिन पर ईश्वर की कृपा होती है। यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ईश्वर के नगर से सन्त ऑगस्टाइन का तात्पर्य किसी वास्तविक नगर से नहीं था। जैसे प्लेटो अपनी पुस्तक रिपब्लिक में आदर्श राज्य की कल्पना प्रस्तुत करता है वैसे ही आगस्टाइन ने आदर्शनगर के रूप में दैवी नगर की कल्पना उपस्थित की थी। इस नगर में ईसामसीह का राज्य होता है। इसकी सदस्यता के लिये आत्मा का विकास किया जाना चाहिये। जैसे आत्मा को शरीर पर शासन करना चाहिये वैसे ही धर्म सत्ता को राज सत्ता का पथप्रदर्शन करना चाहिये। वास्तव में राज्य और चर्च के मध्य संघर्ष जीवन के दो दृष्टिकोण में संघर्ष है। राज्य का दृष्टिकोण स्वार्थी और चर्च का दृष्टिकोण ईश्वर भक्तिपूर्ण है। पहले के अनुसार जीवन मानवीय है और दूसरे के अनुसार जीवन दैवी बनता है। आगस्टाइन का कहना था कि मनुष्य को दैवी दृष्टिकोण अर्थात् चर्च के दृष्टिकोण के अनुसार जीवन आयोजित करना चाहिये मध्ययुगीन प्रसिद्ध विचारकों जैसे थामस एक्वीनास, दान्ते, ग्रोशियस आदि के विचारों पर आगस्टाइन के ईश्वर के नगर की धारणा का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। परवर्ती रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट विचारक भी आगस्टाइन के विचारों से प्रभावित हुये हैं।

आद्य पाप के सिद्धान्त के अनुसार आदि पुरुष आदम के पाप के साथ-साथ मानवजाति पाप-ग्रस्त हो गई है और अब बिना ईश्वर के द्वारा निर्धारित उद्धार-मार्ग के व्यक्तियों का मोक्ष नहीं हो सकता है। ईसा मसीह ईश्वर के अवतार के रूप में अवतरित हुए और उन्होंने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्रूश पर पापमोचक बलिदान के रूप में अपने को अर्पित किया है कि जो कोई उस पर विश्वास करे वह नरक में न जाकर अपने पापों से मुक्त हो और स्वर्ग-राज्य का अधिकारी हो। विश्वास करने से अभिप्राय है कि व्यक्ति अपने पापों को मानकर उससे प्रायश्चित करे, पिता-पुत्र-पवित्र आत्मा को अपने को अर्पित कर ईश्वरीय अनुग्रह का प्रार्थी हो। ईश्वर के द्वारा पापों से मुक्त होकर वह व्यक्ति स्वर्गिक राज्य का नागरिक होता है।

इसके विपरीत जिस पर ईश्वर का अनुग्रह नहीं होता है वह लौकिक जीव होकर सांसारिक वस्तुओं की लालसा में फँस जाता है। ऐसे व्यक्तियों को शैतानी साम्राज्य का नागरिक कहा जाता है। अब स्वर्गिक नागरिक और ऐहिक, लौकिक नागरिकों के बीच संघर्ष चल रहा है और ईसा के दूसरे आगमन तक यह संघर्ष जारी रहेगा। द्वितीय आगमन के बाद ईसा अपने चुने हुए लोगों को अपने साथ न्याय दिवस के समय स्वर्ग का अधिकारी बनाएगा और शैतानी राज्य के नागरिकों को नारकीय आवास में डाल दिया जायगा जहाँ उन्हें अनन्त काल तक रोना-पीटना और यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

सन्त ऑगस्टाइन के इस स्वर्गिक नागरिक और शैतानी नागरिक के विचार में मानीवाद की झलक मिलती है जिसका भी उल्लेख अतिसंक्षेप में आवश्यक प्रतीत होता है।

मानीवाद मैनिकिज्म

मानीवाद फारस देश के पारसी धर्म से प्रभावित हुआ था और इसमें भारतीय चिन्तन का भी प्रभाव देखा जाता है। इसके संस्थापक मेन्स (सन् 240-277) कहे जाते हैं। मानीवाद के ये तत्त्व है:

1. दो प्रकार के राज्य पाए जाते हैं, अर्थात् पिता का स्वर्गिक राज्य और अन्धकार का शैतानी राज्य।
2. स्वर्गिक राज्य आध्यात्मिक है और शैतानी राज्य पार्थिक है।
3. चुने हुए लोग अपनी देह से मुक्त होकर स्वर्ग को प्राप्त करेंगे और निम्न स्तर के लोग पशु योनियों में आवागमन के चक्कर में पार्थिक बने रहेंगे।
4. मानीवादियों का यह दावा था कि ईसाइयत का शुद्ध रूप मानीवाद ही है। आप लोग निरामिष रहने की सलाह भी देते थे और संन्यास को भी उचित मानते थे।
5. मानीवाद के अनुसार मोक्ष-बुद्धि के द्वारा सम्भव होता है, न कि आस्था के द्वारा।

4.2.7 अशुभ विचार

सन्त ऑगस्टाइन के दर्शन में अशुभ की समस्या पर एक नये दृष्टिकोण से विचार किया गया है। इसाई धर्म के अनुसार ईश्वर परम शुभ है। सारी सृष्टि ईश्वर की अभिव्यक्ति है अर्थात् शुभ की अभिव्यक्ति है। ईश्वर पर कोई बन्धन नहीं, नियन्त्रण नहीं, वह शुद्ध प्रेम के कारण ही जगत् की सृष्टि करता है। सृष्टि उसके शुद्ध प्रेम की अभिव्यक्ति ही है। प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर परम शुभ है और शुद्ध प्रेम है और सृष्टि ही उसकी अभिव्यक्ति है तो संसार में अशुभ और द्वेष कैसे? तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर ही जगत् का कारण है और वह शुभ है तो अशुभ की उत्पत्ति कैसे? ऑगस्टाइन इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार अशुभ का शुभ से पृथक् अस्तित्व नहीं। अशुभ तो केवल शुभ का अभाव है। अशुभ निष्प्रयोजन नहीं सप्रयोजन है। अशुभ से शुभ का महत्त्व बढ़ता है जैसे अन्धकार से प्रकाश का। इसलिये सन्त ऑगस्टाइन कहते है कि 'अशुभ नहीं है, किन्तु यह शुभ है कि अशुभ है।' तात्पर्य है कि अशुभ का कोई निजी भावात्मक स्वरूप नहीं है, वह तो केवल शुभ का अभाव है जैसे अन्धकार प्रकाश का। परन्तु अशुभ अनावश्यक नहीं, इससे शुभ का महत्त्व बढ़ता है। इस प्रकार ऑगस्टाइन पाप और अशुभ के बारे में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार अशुभ हेय नहीं आदेय है, त्याज्य नहीं ग्राह्य है।

इस प्रकार सन्त ऑगस्टाइन शुभ और अशुभ के द्वैत भाव का निराकरण करते है। ईश्वर परम शुभ है परन्तु इसे इस रूप में वही जान सकता है जिसे उसके प्रति प्रेम हो। प्रेम के कारण ही हम ईश्वर की शक्ति को पहचानते हैं। परन्तु ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम वही कर सकता है जिसे ईश्वर की कृपा प्राप्त हो। इस कृपा को प्राप्त करने का धरती पर एकमात्र माध्यम चर्च है। इस प्रकार अशुभ और पाप की समस्या के माध्यम से ऑगस्टाइन परम शुभ और ईश्वरीय प्रेम पर प्रकाश डालते हैं। स्वयं ऑगस्टाइन के शब्दों में प्रेम के बिना आस्था असम्भव है तथा आस्था के अभाव में आशा निराधार है। आशा के अभाव में प्रेम नहीं तथा प्रेम के अभाव में आशा नहीं और आस्था के अभाव में प्रेम और आशा दोनों नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसी भी विचारक के लिये इस संसार में अशुभ और कष्ट की अवहेलना करना सम्भव नहीं है। इस अशुभ का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये जिससे उसका अस्तित्व है। अनेक ईसाई विचारकों के अनुसार अशुभ शैतान की शक्ति के कारण है। परन्तु आगस्टाइन इससे सहमत नहीं है क्योंकि शैतान की शक्ति को मान्यता देने से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता का निषेध होता है। दूसरों ओर आगस्टाइन के अनुसार जगत में जो कुछ भी है उसका एकमात्र कारण ईश्वर ही है और चूंकि ईश्वर ने जगत की रचना अपने असीम प्रेम से की है और यह प्रेम उसे जगत की रचना करने के लिये बाध्य नहीं बल्कि प्रेरित करता है इसलिये यहाँ जो कुछ है वह उसी के कारण है। चूंकि जगत ईश्वर के संकल्प की एक मुक्त अभिव्यक्ति है इसलिये सभी तथ्य उसी के कारण हैं। अस्तु, अशुभ की समस्या को लेकर आगस्टाइन के सामने दो विकल्प थे, या तो उन्हें अशुभ के लिये ईश्वर के उत्तरदायित्व को मान लेना चाहिये था या फिर अशुभ की सत्ता से इन्कार कर देना चाहिये था। आगस्टाइन ने दूसरे विकल्प को चुना। उनके अनुसार कोई भी चित्र उसकी छाया के अभाव में पूरी तरह सुन्दर नहीं दिखाई पड़ता। यदि अशुभ का निषेध नहीं होगा तो उसका मूल्य समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार तथाकथित अशुभ जगत के सौन्दर्य और शुभत्व के लिये आवश्यक है। इस प्रकार आगस्टाइन ने अशुभ को शुभ की एक अनिवार्य दशा माना है जिसके बिना शुभ का विशिष्ट मूल्य समाप्त हो जाता है परन्तु यद्यपि अशुभ का अस्तित्व है किन्तु उसकी स्थिति वही नहीं है जैसी शुभ की है। जिस प्रकार किसी चित्र में छाया केवल प्रकाश की अनुपस्थिति दिखलाती है उसी प्रकार से अशुभ का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अशुभ शुभ की परछायी है और जैसे वस्तु के बिना परछाई नहीं हो सकती। यद्यपि अशुभ की सत्ता परछाई है और वैसे ही अशुभ ईश्वर के बिना शुभ नहीं हो सकता यद्यपि शुभ की सत्ता अशुभ से स्वतन्त्र है। इसी प्रकार अशुभ शुभ के बिना नहीं हो सकता यद्यपि अशुभ ईश्वर का कोई प्रभाव मात्र नहीं होता। नैतिक अशुभ ईश्वर की रचना जगत के सौंदर्य को कम नहीं करता क्योंकि वह पतित देवदूतों अथवा मनुष्यों के संकल्पों का प्रतिनिधि है। वह एक दोष मात्र है, इससे अधिक उसका अस्तित्व नहीं है। मनुष्य के लिये सबसे बड़ा अशुभ ईश्वर से परान्मुख होना है।

ऑगस्टाइन के दृष्टिकोण में आशावाद की झलक मिलती है। अशुभ की समस्या उन सभी के लिए महत्त्वपूर्ण है जो जगत् की मूल श्रेष्ठता में विश्वास करते हैं। ऑगस्टाइन का मत है कि यदि ईश्वर चाहता तो जगत् की व्यवस्था में अशुभ को नहीं रखता। लेकिन मानव हित की दृष्टि से उसने अशुभ को भी स्थान दिया। अशुभ को मानव कल्याण के साधन के रूप में रखा गया है। ईश्वर ने जगत् के रूप में यह जान लिया कि आदमी अशुभ की ओर मुड़ेगा। इसलिए अशुभ करने वालों के लिये उसने दण्ड भी निर्धारित कर दिया। अशुभ ईश्वर की व्यवस्था का एक अंश है। ईश्वर की निरपेक्ष श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने के लिये, ऑगस्टाइन ने विभिन्न आध्यात्मिक आशावादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किये :-

1. अशुभ की स्थिति सापेक्ष है, अशुभ शुभ की दृष्टि से अनिवार्य है।
2. अशुभ शुभ का अभाव मात्र है।
3. अशुभ का उत्तरदायित्व आदमी के आचरण पर है।
4. ईश्वर अशुभ से परे है, पर सांसारिक व्यवस्था में उसने ही अशुभ का प्रावधान रखा है।

पाप की समस्या

सन्त ऑगस्टाइन के दर्शन में नियतिवाद और स्वतन्त्रता की समस्या पर बहुत विचार किया गया है। वस्तुत: यह दार्शनिक समस्या है, परन्तु ऑगस्टाइन इसका धार्मिक समाधान प्रस्तुत करते हैं। संकल्प स्वातन्त्र्य के साथ पाप की समस्या का गहरा सम्बन्ध है। प्रश्न यह है कि जब पाप और पुण्य दोनों मार्ग मनुष्य के सामने हैं तो वह अपनी इच्छा से पापमार्ग का चयन क्यों करता है तथा फलत: दु:खी क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर ऑगस्टाइन पूर्णत: ईसाई मत के अनुसार देते हैं। ईसाई-धर्म के अनुसार ईश्वर ने विश्व में सर्वप्रथम मानव आदम को भेजा आदम पृथ्वी पर स्वर्गिक आनन्द का अनुभव करते थे। परन्तु उनमें लोभ और वासना का अभ्युदय हुआ और वे स्वर्गिक आनन्द को छोड़कर सांसारिक सुख के पीछे दौड़े, फलत: वे सांसारिक व्यक्ति बन गये। ईश्वर ने आदि मानव के सामने दोनों ही विकल्प रखे थे, परन्तु आदम ने अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति से सांसारिक सुख का ही वरण किया और वे ईश्वर-विमुख हो गये। उन्होंने स्वतन्त्र-इच्छा से पाप-मार्ग का चयन किया और पापी बने। आदम की सन्तान होने के कारण आदमी आज भी पापी है। इस प्रारम्भिक पाप से मुक्ति के लिये ही ईश्वर ने प्रभु ईसा मसीह को पृथ्वी पर भेजा। प्रभु ईसा मसीह ही मानव के त्राता हैं। वे मानव द्वारा किये गए पापों को क्षमा करने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करते हैं। उन्हीं की प्रार्थना से मानव पापों से मुक्त हो पुन: स्वर्गिक आनन्द को प्राप्त कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि पाप तो आदि मानव (आदम) के संकल्प-स्वातन्त्र्य का परिणाम है। परन्तु यहाँ एक आवश्यक प्रश्न यह है कि पाप का स्वरूप क्या है? महात्मा सुकरात ने बतलाया कि हम पाप इसलिए करते हैं कि हमें पुण्य का ज्ञान नहीं। हम सद्गुण का आचरण तभी कर सकते हैं जब हमें सद्गुणों का सम्यक् ज्ञान हो। जिसे नैतिकता का ज्ञान है वह अनैतिक कार्य नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि पाप तो केवल पुण्य का अभाव है। ऑगस्टाइन इससे सहमत नहीं। यदि पाप केवल पुण्य का अभाव है तो यह अभावात्मक है और इसका अपना कोई अस्तित्व नहीं। ऑगस्टाइन के अनुसार पाप असत् नहीं, परन्तु पुण्य के समान यह सत् रूप या भाव-रूप भी नहीं। यदि पाप को भावरूप मान लें तो पुण्य के समान पाप का भी स्रष्टा ईश्वर को स्वीकार करना पड़ेगा। पाप का कारण स्रष्टा नहीं, वरन् सृष्ट इच्छा है। परमात्मा ने मानव को बनाया तथा उसमें इच्छा की भी सृष्टि की। मानव के सामने पुण्य और पाप के विकल्प रख छोड़े मानव ने स्वेच्छा से पाप का चयन किया।

अत: पाप का कारण मानव की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। पाप पुण्य के समान भावभूत परमात्मा की सृष्टि नहीं। पाप अपने आप में केवल ईश्वर विमुख होना है। ईश्वर-विमुख होना तो ईश्वराभिमुख होने का अभाव है। इस अर्थ से पाप अभावात्मक अवश्य है। मानव ईश्वर से विमुख होने के कारण, परमात्मा के पथ से भ्रष्ट होकर पापी है। आदम ने ईश्वर की अवज्ञा की और परिणाम स्वरूप ईश्वर की कृपा से वञ्चित हो गया, स्वर्गिक आनन्द को खो बैठा तथा सम्पूर्ण मानव जाति को भ्रष्ट कर दिया। आदमी आदम की सन्तान है, अत: पाप करना उसके लिये स्वाभाविक है। पाप न करना सम्भव नहीं, क्योंकि आदि पाप आदम के वंशज में विद्यमान है। क्या यह निराशावादी दृष्टिकोण है? क्या पाप नैसर्गिक है? ऑगस्टाइन पाप को मानव प्रकृति का अंग अवश्य मानते हैं परन्तु पाप से मुक्ति भी स्वीकार करते हैं। पाप से मुक्ति या छुटकारा हमें ईश्वर की कृपा से प्राप्त हो सकता है। मानव खोए हुए स्वर्ग को पुन: प्राप्त कर सकता है। अत: ऑगस्टाइन आशावादी हैं। एक आवश्यक प्रश्न यह भी होता है कि पाप यदि पथभ्रष्ट होना ही है तो पाप की आवश्यकता क्या है? ऑगस्टाइन के अनुसार पाप और पुण्य सापेक्ष है। पाप के बिना पुण्य निरर्थक है। पुन: पाप से पुण्य का महत्त्व बढ़ता है, अन्धकार से प्रकाश का महत्त्व और स्पष्ट होता है। अत: ऑगस्टाइन का कहना है कि पाप अच्छा नहीं, लेकिन यह अच्छा है कि पाप ही पुण्य की प्रवृत्ति का जनक है, मानव को ईश्वराभिमुख बनाते है। अत: पाप भी निष्प्रयोजन नहीं सप्रयोजन है। पाप से मुक्ति प्राप्त करने के लिये ही हम ईश्वर की कृपा के भिखारी बनते हैं। अत: पाप ईश्वर के महत्त्व को भी बढ़ाता है। इस प्रकार ऑगस्टाइन के पाप सिद्धान्त में तीन महत्त्वपूर्ण बाते हैं-

1. पाप पुण्य का अभाव है।
2. पाप सप्रयोजन है, पाप पुण्य के महत्त्व को बढ़ाता है।
3. पाप मानव के संकल्प-स्वातन्त्र्य का परिणाम है, अत: पाप के लिये मानव उत्तरदायी है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि मानव स्वभावत: पापी है। मानव का पापी स्वभाव ही पूर्व नियत है। प्रश्न यह है कि मानव पाप-मुक्त हो सकता है या नहीं पुन: स्वतन्त्रता पा सकता है या नहीं? यहाँ ऑगस्टाइन आशावादी हैं। उनके अनुसार ईश्वर स्वभावत: दयालु है। वह मानव-मात्र का कल्याण चाहता है। आद्य पाप से मुक्ति के लिये ही उसने अपने परम-प्रिय इकलौते पुत्र ईसा मसीह को धरती पर भेजा। ईसा मसीह के माध्यम से ही पूजा तथा प्रार्थना के कारण मनुष्य पुन: स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है, ईश्वरीय नगर का निवासी बन सकता है। परन्तु पुन: प्रश्न है कि क्या ईसा मसीह के माध्यम से सभी लोग स्वतन्त्र हो जायेंगे? इस प्रश्न का उत्तर भी ऑगस्टाइन के अनुसार नियतिवादी है। ऑगस्टाइन ने अनुसार ईश्वर ने कुछ लोगों को ईश्वरीय साम्राज्य के लिए चुन लिया है तथा कुछ लोगों को अशुभ साम्राज्य के लिए चुन लिया है। इस चयन में मनुष्य का हाथ नहीं। यहाँ तो नियतिवाद या भाग्यवाद ही प्रधान है। परन्तु जो अशुभ साम्राज्य के लिए गये हैं, उन्हें बिल्कुल निराश होने की आवश्यकता नहीं, उन पर भी ईसा मसीह के माध्यम से ईश्वरीय कृपा की वृद्धि हो सकती है। अत: अन्ततोगत्वा ऑगस्टाइन आशावादी हैं। परन्तु स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का निर्धारण, शुभ और अशुभ साम्राज्य में निवास का प्रश्न दैवाधीन है भाग्याधीन है।

4.2.8 नैतिक दर्शन

अन्य विचारों के समान सन्त ऑगस्टाइन के नैतिक विचार भी ईश्वर केन्द्रित हैं। नैतिक जीवन तो ईश्वराभिमुख जीवन है। परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। परमात्मा की प्रसन्नता से ही हमें परमात्मा की कृपा प्राप्त होती है तथा कृपा से परमात्मा की प्राप्ति होती है। ईश्वर की कृपा से मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है। परमात्मा मनुष्य को क्षमा प्रदान करते हैं। पापों से मुक्त हो मानव दिव्य नगर का निवासी बन कर परमात्मा का साक्षात्कार कर परमानन्द का अनुभव करता है। परन्तु परमात्मा की प्राप्ति के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हमें परमात्मा द्वारा प्रणीत मार्ग का अनुसरण करना, ईश्वर की आज्ञा का पालन करना परमावश्यक है। ईश्वर-मार्ग ही धर्म-मार्ग है। यही उचित मार्ग है, नैतिक मार्ग है। अत: ऑगस्टाइन की नैतिकता का उद्देश्य ईश्वर ही है।

ऑगस्टाइन का नीतिशास्त्र उसके धर्मशास्त्र एवं मनौविज्ञान पर आधारित है। प्रकृति की सृष्टि में आदमी सर्वोच्च प्राणी है। आदमी शरीर और आत्मा का संघात है। शरीर स्वभावत: बुराई नहीं है। आत्मा सरल अभौतिक अथवा आध्यात्मिक द्रव्य है। आत्मा शरीर से बिल्कुल भिन्न है, पर वह शरीर का जीवनाधार है। वह शरीर का मार्गदर्शन करती है। आत्मा शरीर पर कैसे क्रिया करती है यह एक रहस्य है। ऑगस्टाइन आत्मा की पूर्व-स्थिति को स्वीकार नहीं करता। वह आत्मा की उत्पत्ति के विषय में कोई स्पष्ट बात नहीं कहता। यद्यपि आत्मा की उत्पत्ति काल विशेष में हुई, पर वह कभी मरती नहीं है।

सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार मानव में शरीर और आत्मा दोनों हैं। शरीर आत्मा का जेलखाना नहीं है और न ही वह मूल रूप से अशुभ है। इस प्रकार आगस्टाइन अन्य ईसाई विचारकों द्वारा समर्थिक कठोरतावाद के विरुद्ध हैं। वे शरीर को कष्ट देना अनुचित मानते हैं। आत्मा सरल है और जड़ नहीं है तथा इस प्रकार उसकी प्रकृति शरीर की प्रकृति से भिन्न है। आत्मा और शरीर का निर्देशक है और उसके निर्माण के लिये उत्तरदायी है। शरीर और आत्मा परस्पर कैसे अन्तक्रिया करते हैं, ऑगस्टाइन के अनुसार यह एक रहस्य है। इसी प्रकार ऑगस्टाइन आत्मा की उत्पत्ति के प्रश्न को भी सुलझाये बिना छोड़ देते है। यद्यपि उन्होंने शरीर के जन्म से पूर्व आत्मा का अस्तित्व नहीं माना है। उन्होंने आत्मा की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने के लिये निम्नलिखित तीन विकल्प माने हैं-

1. Creationism - ईश्वर प्रत्येक बालक में जन्म के समय एक नई आत्मा की रचना करता है।

2. Tradicianism- आत्मायें माता पिता की आत्माओं से उत्पन्न होती हैं।

3. आत्मा की शाश्वत प्रकृति दिखलाई नहीं जा सकती, वह आस्था की क्रिया है।

मानव आत्मा का सर्वोच्च लक्ष्य धार्मिक है। यह एक ऐसा रहस्यात्मक आदर्श है जिसमें मन और ईश्वर की एकता स्थापित हो जाती है। किन्तु ऐसी एकता इस अपूर्ण संसार में संभव नहीं है। वह रहस्यात्मक आदर्शवादी जीवन में नहीं प्राप्त हो सकता है जिसे ऑगस्टाइन सच्चा जीवन मानता है। यह जगत् ईश्वर प्राप्ति के लिये एक तीर्थ स्थान है। सर्वोच्च लक्ष्य की दृष्टि से यह जगत् वास्तविक जीवन नहीं है केवल मृत्यु के समान है। इस प्रकार ऑगस्टाइन ने प्रारम्भिक ईसाई धर्म के उस दृष्टिकोण की पुष्टि की जिसमें यह कहा गया है कि यह दृश्य जगत् निराशा का प्रतीक है, आशा का जीवन इस जगत् से परे है जो ईश्वर-कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

सन्त ऑगस्टाइन के अनुसार सुख ही मानव के नैतिक कार्यों का एकमात्र लक्ष्य है। उन के अनुसार आनन्द ही नैतिकता का मापदण्ड है, परन्तु यह आनन्द केवल परमात्मा से ही प्राप्त हो सकता है। अत: यह आनन्द आध्यात्मिक है। सभी सांसारिक आनन्द नित्य हैं। इस आनन्द की प्राप्ति हमें आनन्दधाम परमात्मा से ही सकती है। अत: परमात्मा से प्रेम करना ही मानव का यथार्थ धर्म है। मानव अपूर्ण है, ईश्वर पूर्ण है। अपूर्ण का पूर्ण की ओर अभिमुख होना ही उन्नति या उत्कर्ष है। अत: जब अपूर्ण जीव पूर्ण ईश्वर से प्रेम करता है तभी उसे यथार्थ आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार नैतिकता केवल ईश्वर के प्रति प्रेम या भक्ति है। तन, मन, धन से ईश्वर में तन्मय हो जाना ही मानव जीवन की सार्थकता है। ईश्वर के प्रति प्रेम ही यथार्थ आदर्श है। जो कार्य इस आदर्श के अनुकूल है वह नैतिक कार्य है। किन्तु मनुष्य नैतिक नियम का पालन करने में असमर्थ है। मनुष्य को पर के कृपादान की आवश्यकता है कि वह इस गहरे गड्ढ़े को पार करे जो उसे परमेश्वर से अलग करता है। संत ऑगस्टाइन मानते थे कि यद्यपि आदिपाप के फलस्वरूप मनुष्य की इच्छा-शक्ति पूर्ण रूप से नहीं बिगड़ी हो फिर भी मनुष्य अपनी शक्ति ही से भला कार्य करने में असमर्थ है। नैतिक बुराई के कारण के विषय में संत ऑगस्टाइन का मत इस प्रकार है :-मानव इच्छाशक्ति से उत्पन्न होती है। वह न तो परमेश्वर से उद्‌भूत होती है और न किसी बुराई के मूलतत्त्व से। क्योंकि परमेश्वर भला है और मूलतत्त्व के द्वैतवाद की ऑगस्टाइन ने पहले ही मोनीवाद के साथ अस्वीकार कर दिया था। संत ऑगस्टाइन का नीति-शास्त्र प्रेम की नीति कहा जा सकता है, अर्थात् परमेश्वर का प्रेम और पड़ौसी का प्रेम। मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य आनन्द है, वह आनन्द जो परमेश्वर के प्रेममय संयोग से प्रफुल्लित होता है।

ऑगस्टाइन प्रेम को सर्वोत्तम सद्‌गुण मानता है। प्रेम समस्त सद्‌गुणों का मूलाधार है। प्रेम ही ईश्वर तक ले जा सकता है। आत्म-संयम का अर्थ है ईश्वर-प्रेम जो जगत्-प्रेम से भिन्न है। सहनशीलता का अर्थ दु:ख तथा कष्ट को प्रेम द्वारा सहन करना है। न्याय ईश्वर के प्रति सेवा का नाम है। उस मार्ग को स्वीकार करना जिससे ईश्वर-प्राप्ति ही बुद्धिमता है। ईश्वर-प्रेम आत्म-प्रेम तथा अन्यों के प्रति प्रेम का आधार है। प्रेम बिना जीवन में कोई लाभ नहीं मिल सकता। प्रेम बिना आशा नहीं और आशा बिना प्रेम नहीं। किन्तु प्रेम और आशा दोनों ही आस्था के बिना असम्भव हैं। अपने नैतिक-दर्शन में, ऑगस्टाइन ने मानव प्राणियों के समक्ष दो मार्ग प्रस्तुत किये :-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1. सर्वोच्च शुभ (पूर्णता) अनुभवातीत है जिसे शरीर रहते हुए कोई भी ईसाई प्राप्त नहीं कर सकता। शरीर इन्द्रियों के सुखों में लिप्त रहता है। इसलिये वह पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता। यह पूर्णता ईश्वर प्रेम है अर्थात् निरपेक्षत: शुभ संकल्प में सन्निहित है। सापेक्ष पूर्णता कुछ बाह्य क्रियाओं जैसे, प्रार्थना, व्रत, दान से प्राप्त हो सकती है।
2. पूर्णता के साथ-साथ, सर्वोच्च लक्ष्य संन्यासवाद है जो जगत् के पूर्ण परित्याग, सामाजिक जीवन से विरक्ति तथा ईसा मसीह के अनुकरण में निहित है। इस दृष्टि से राज्य का काम इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि स्थापित चर्च का है। चर्च मनुष्य को संन्यायी जीवन की शिक्षा देता है। अतएव चर्च की शक्ति सर्वोपरि है। चर्च ही पृथ्वी पर ईश्वर का एकमात्र प्रतिनिधि है।

ऑगस्टाइन की नैतिक शिक्षाओं का मूलाधार आदर्शवाद है। सर्वोच्च मूल्य, आदर्श या शुभ, भौतिकता में नहीं बल्कि आध्यात्मिकता में है। शरीर मानव प्राणी का सर्वोत्तम अंग नहीं, वरन् आत्मा है। ईश्वर और आत्मा को मिलाने वाली श्रृंखला चर्च ही है। चर्च द्वारा आध्यात्मिक मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया जाता है। अत: चर्च जीवन की महत्त्वपूर्ण संस्था है जिसे हर ईसाई को स्वीकार करना चाहिये। ईश्वर ने मानव प्राणियों को संकल्प-स्वातन्त्र्य से ही आभूषित नहीं किया, बल्कि दैविक अथवा अतिप्राकृतिक शक्तियाँ भी उन्हें प्रदान की हैं। मनुष्य को अमरत्व, पवित्रता, न्याय, प्रेम आदि सब कुछ दिया है। लेकिन आदम ने शैतान के बहकावे में आकर ईश्वर की अवज्ञा की और निषिद्ध फल खा लिया। इस प्रकार आदम ने मानव प्राणियों की दैविक शक्तियों का विनाश ही नहीं किया, अपितु समस्त मानव जाति को भ्रष्ट बना दिया। आदम का पाप मानव सन्तानों में व्याप्त हो गया जो निरन्तर चलता आ रहा है। आदम ने स्वतन्त्रतापूर्वक पाप तो किया, पर मानव प्राणियों को परतंत्र बना दिया। इस प्रकार पाप मानव जाति का स्वाभाविक गुण बन गया है जो अन्य दु:खों का कारण है। ईश्वर-कृपा के अलावा मानव प्राणियों को इस पाप से कोई और मुक्त नहीं कर सकता। संक्षेप में, ऑगस्टाइन की नैतिक व्यवस्था में संकल्प-स्वतन्त्रता होते हुए भी, ईश्वर-कृपा सर्वोपरि है जिसके बिना किसी प्रकार की मुक्ति सम्भव नहीं।

4.2.9 ऑगस्टाइन के अन्य विचार

सन्त ऑगस्टाइन ने राज्य, न्याय, सम्पत्ति, दासता आदि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार व्यक्त किया है। परन्तु उनके सभी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक विचारों पर धर्म की गहरी छाप है। सभी विषयों पर वे इसाई धर्म के अनुसार ही विचार करते है। इसाई धर्म ही उनका सर्वश्रेष्ठ विचार है। उदाहरणार्थ, राज्य को वे मानव पाप के उपचार स्वरूप स्वीकार करते हैं। राज्य के द्वारा ही मानव को पाप से मुक्ति मिल सकती है। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, परन्तु राज्य तो शैतान का राज्य है। ऑगस्टाइन राज्य का आधार न्याय नहीं मानते, सांसारिक राज्य पर शैतान का शासन होता है। राज्य एक दूसरे के अधिकारों का अपहरण करना चाहते है। अत: यह अन्याय पर आधारित है। राजा गैर ईसाई भी हो सकता है। वस्तुत: न्याय ईसाई राज्य (चर्च) का गुण है। चर्च में ही यथार्थ न्याय और शान्ति मिल सकती है, क्योंकि यह ईश्वर निर्मित्त है। सांसारिक राज्य का कर्त्तव्य है कि यथार्थ राज्य (चर्च) की भूमि-भवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। चर्च-सत्ता राज-सत्ता से श्रेयस्कर है।

ऑगस्टाइन निजी सम्पत्ति का समर्थन करते हैं। क्योंकि सम्पत्ति के बिना सामाजिक तथा आध्यात्मिक कर्त्तव्यों का पालन नहीं हो सकता। परन्तु आवश्यकता से अधिक निजी सम्पत्ति का उपयोग सामाजिक कल्याण के लिए होना चाहिए। ऑगस्टाइन दास प्रथा को भी निजी सम्पत्ति का एक अंग मानते हैं। ऑगस्टाइन के अनुसार दासता मानव पाप का प्रायश्चित है। यह ईश्वर प्रदत्त मानव पाप का फल है। आद्य-पाप में मानव ने समानता और स्वतन्त्रता को खो दिया। अत: दासता मानव पाप का ईश्वरीय उपचार है। दास दण्ड का भागी है। दास को स्वामी की सेवा कर पाप से मुक्त होना चाहिये।

सन्त ऑगस्टाइन के विचारों से यूरोप बहुत दिनों तक प्रभावित रहा। मध्य युग से लेकर वर्तमान युग तक यह विचार चलता रहा। ऑगस्टाइन का मुख्य कार्य ईसाई-धर्म का प्रचार और प्रसार है। ये सचमुच चर्च-पिता माने जाते हैं, जबकि चर्च की स्वायत्तता और स्वाधीनता पर उन्होंने बहुत बल दिया है। इनके अनुसार धरती पर चर्च ही सर्वोपरि संस्था है। चर्च की आज्ञा ईश्वर का आदेश है। राजा की आज्ञा का उल्लघंन सम्भव है, परन्तु चर्च की आज्ञा का नहीं।

4.2.10 ऑगस्टाइन के बाद का मध्य युग

सन् 430 में सन्त ऑगस्टाइन की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद और एरिजेना के पहले तक का समय पाश्चात्य दर्शन का अन्धकारमय युग कहलाता है। सन् 476 में रोम का शासन बर्बर जर्मन विजेताओं के हाथ में चला गया। बर्बर आक्रमणकारियों ने रोम की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजनीतिक शक्ति नष्ट करने के साथ-साथ पश्चिम यूरोप की संस्कृति का भी विनाश कर दिया। सभी प्राचीन साहित्य नष्ट हो गये तथा ज्ञान का पूर्ण विराम सा हो गया। समाज में अराजकता को रोकने के लिये चर्च ही एकमात्र साधन था तथा दर्शन ज्योति को न बुझने देने का कारण केवल ईसाई पण्डित थे। चर्च सर्वप्रथम तो पूर्णत: धार्मिक संस्था थी, परन्तु धीरे-धीरे चर्च का प्रभाव बढ़ने लगा। चर्च केवल धर्म का केन्द्र न होकर न्याय तथा शिक्षा का भी केन्द्र हो गया। इस प्रकार समाज में चर्च का शासन प्रारम्भ हो गया। चर्च का केन्द्र रोम था परन्तु इसकी शाखाएँ पूरे यूरोप में फैली थी। सभी शाखाओं पर रोम के पोप का शासन था। इस प्रकार रोम का पोप सम्राटों का सम्राट बन गया।

चर्च का सर्वप्रथम स्वरूप प्रशंसनीय था, क्योंकि चर्च के माध्यम से ही प्राचीन शिक्षा और संस्कृति की रक्षा हो सकती थी। परन्तु धीरे-धीरे जब चर्च शासन और न्याय का माध्यम बना तो चर्च में भी दोष आने लगे। चर्च संस्था बन गयी तथा उस युग को चर्च के प्राधान्य के कारण चर्च-युग कहा जाने लगा। इस चर्च युग में सर्वत्र चर्च का ही बोलबाला था। अत: चर्च की सत्ता सार्वभौम स्वीकार की गयी। चर्च के अध्यक्ष पादरी कहलाते थे। अत: इस युग को पादरी युग भी कहते हैं। पादरी लोग पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते थे तथा उनकी वाणी में विश्वास ईश्वर में विश्वास था। इस प्रकार धीरे-धीरे अन्धविश्वास तथा रूढ़िवादी का जन्म हुआ जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप आगे आधुनिक युग का जन्म हुआ। इस युग को शास्त्रीय युग भी कहते हैं, क्योंकि इस युग में धर्म-शास्त्र ही एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाते थे। बाइबिल ही एकमात्र शास्त्र था तथा ईसाई होने के नाते इस पुनीत शास्त्र में विश्वास आवश्यक था।

वस्तुत: मध्य युग दर्शन का नहीं, वरन् धर्म प्रधान युग है। इस युग में दर्शन धर्म का दास बन गया। धर्म से अलग दर्शन का कोई स्वरूप नहीं रह गया। सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की धार्मिक व्याख्याएं प्रारम्भ हुई। ईसाई पादरी लोग जो मूलत: धार्मिक थे, वे दार्शनिक बन बैठे। दर्शन चर्च की चहारदीवारियों में बन्द हो गया, प्रत्येक दार्शनिक को अपने सिद्धान्तों को चर्च के साँचे में बैठाना पड़ता था। आस्था का बुद्धि पर आधिपत्य स्थापित हो गया, इससे धार्मिक प्रगति तो अवश्य हुई, परन्तु दार्शनिक ह्रास भी हुआ। यह धर्म प्रधान युग ईसाई धर्म का सर्वश्रेष्ठ काल है। ईसाई धर्म का प्रचार और प्रसार ही इस युग की प्रधानता रही। धर्म की आधारशिला आस्था है, अत: इसे आस्था-प्रधान युग भी कहा गया है। बाइबिल में आस्था, ईश्वर वचन में विश्वास और पादरी की पूजा आदि इस युग की सामान्य विशेषताएँ हैं।

4.3 सन्त थॉमस एक्वीनस

4.3.1 जीवन परिचय

एक्वाइनस का जन्म सन् 1225 ई. में एक्विनी नामक छोटे से नगर में हुआ, जो नेपल्स और रोम के मध्य स्थित है। अपनी युवावस्था में ही उसने अपने परिवार की इच्छाओं के विरुद्ध डोमीनिकन सम्प्रदाय में प्रवेश किया। उसने पेरिस और कोलोन में शिक्षा प्राप्त की जहाँ उसके बहुत से शिक्षकों में से अलबर्ट महान् जैसे शिक्षक थे। एक्वीनस ने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया और वह स्वयं एक धर्मशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध होना चाहते थे। वह शरीर में बड़ा भारी आदमी था जो धीरे बोलता था और स्वभावत: भटका-भूला-सा रहता था। वह अपनी दयालुता के लिए प्रसिद्ध था। वह सन् 1274 ई. में रोम जाता हुआ दिवंगत हुआ।

एक्विनस इटली के एक काउण्ट का पुत्र था। काउण्ट के छह पुत्र कुल की मर्यादा के अनुसार सेना में भरती हुए, परन्तु सातवाँ, थॉमस, इसके लिए तैयार न हुआ। एसिसी के सेंट फ्रैन्सिस के जीवन ने उसे बहुत प्रभावित किया। फ्रैन्सिस एक धनी परिवार में पैदा हुआ था, परन्तु उसने अपने लिए संन्यासी का जीवन चुना। टॉमस ने फ्रैन्सिस का अनुसरण करने का निश्चय किया। उसने नेपल्स में शिक्षा प्राप्त की। इसके बाद माता-पिता को अपने निश्चय की बाबत बताया। जैसी आशा की जा सकती थी, उन्होंने इसे पसन्द नहीं किया, और उस पर सैनिक बनने के लिए दबाव डाला। थॉमस ने चुपके से घर छोड़ दिया, और सन्यासी मण्डली में शामिल हो गया। उसके भाइयों ने उसका पीछा किया और वे उसे पकड़ कर वापस लाये। कुछ काल के लिए वह अटारी की कोठरी में बन्द कर दिया गया। वह वहाँ से निकल कर फ्रांस के प्रसिद्ध शिक्षक एल्बर्ट के पास पहुँचा, और उससे ब्रह्मविद्या को शिक्षा प्राप्त की।

यूनान और रोम के दार्शनिक विचारों के बाद एक लम्बे काल के लिए दर्शन की स्थिति स्थगित-जीवन की स्थिति रही। 13वीं शताब्दी में अरबों और यहूदियों ने अरस्तू की पुस्तकों का अनुवाद शिक्षित पश्चिम के सम्मुख प्रस्तुत किया। ईसाई धर्म का प्रचार अनेक देशों में हो चुका था और चर्च एक बड़ी शक्ति बन गया था। अरस्तू के विचारों की बाबत आम ख्याल यह था कि वे जगत् के प्राकृतिक समाधान की पुष्टि करते हैं, और इस तरह ईसाइयत के लिए एक खतरा है। जब पेरिस विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, तो निश्चय किया गया कि वहाँ अरस्तू का न्याय पढ़ाया जाये, नीति के पढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं, परन्तु उसके तत्त्व-ज्ञान और भौतिक विज्ञान निषिद्ध माने गये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टामस एक्विनस ने अरस्तू का अध्ययन किया और अनुभव किया कि उसका प्रभाव रुक नहीं सकेगा। उसने अरस्तू की ईसाइयत का चित्र बनाना चाहा, और अपने व्याख्यानों और लेखों में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि अरस्तू ईसाई सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता, तो विरोध भी नहीं करता। एक्विनस ने ईसाई सिद्धान्त को प्रामाणिक करने का यत्न किया, और इसके लिए अरस्तू से जितनी सहायता मिल सकती थी, ली। दार्शनिक दृष्टि से यह एक त्रुटि थी। दर्शन का तत्त्व ही यह है कि बुद्धि को पूरी स्वाधीनता दी जाये और बिना किसी रोक के इसे सत्य की खोज में आगे बढ़ने दिया जाये। एक्विनस पादरी था, उसने ईसाई सिद्धान्त को सर्वांश में स्वीकार किया। उसने अरस्तू को भी लगभग सर्वांश में स्वीकार किया और इन दोनों की एकरूपता स्थापित करना अपना लक्ष्य बनाया। एक्वीनस सम्भवत: पहला मध्ययुगीन दार्शनिक का जिसने दर्शन को धर्म से अलग किया। यही हाल मध्यकाल के अन्य विचारकों का था।

एक्विनस भी ऑगस्टाइन और एन्सेल्म के समान धार्मिक दार्शनिक है। इन्होंने भी सभी दार्शनिक सिद्धान्तों की ईसाई मत के अनुरूप व्याख्या करने का प्रयास किया है। अत: ऑगस्टाइन के समान ही एन्सेल्म के दार्शनिक विचारों में धर्म की ही प्रधानता है। दूसरे शब्दों में, इनका दर्शन भी धर्म से ओत-प्रोत है। इनका दर्शन तो धार्मिक आस्था को सुस्पष्ट करने का साधन है, धर्म से पृथक दर्शन निष्प्रयोजन है।

एक्विनस ऑगस्टाइन व एन्सेलम से भिन्न हैं एक्वीनस के दर्शन में दर्शन धर्म का दास नहीं है यद्यपि यहाँ धर्म सर्वोपरि है। एक्विनस धर्म और दर्शन में भेद करते हैं। दर्शन का सम्बन्ध तर्क से है। दर्शन तर्क के सहारे ऐसे सत्यों की स्थापना करना चाहता है जिसकी व्याख्या हम बुद्धि से करते हैं। दूसरों शब्दों में, दर्शन का प्रतिपाद्य विषय बौद्धिक सत्य है जिन्हें सिद्ध और असिद्ध केवल तर्क के द्वारा किया जा सकता है। परन्तु धर्मशास्त्र इससे भिन्न है। धर्मशास्त्र का क्षेत्र तो आस्था या विश्वास है। ये आस्था पर आधारित सत्य तर्क के परे होते हैं। ये सद्य: सत्य कहे जाते हैं जिन्हें हम बुद्धि के द्वारा कदापि नहीं प्राप्त कर सकते। परन्तु इन सद्य: सत्यों की व्याख्या के लिए हमें बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। अत: सद्य: प्राप्त सत्य (धार्मिक) की व्याख्या तथा विश्लेषण करना ही बुद्धि का कार्य है। इस अर्थ में एक्विनस भी बुद्धि को आस्था के लिए आवश्यक मानते हैं। परन्तु बुद्धि का क्षेत्र सीमित है तथा धर्म असीम है। अत: एक्विनस धर्म और दर्शन, आस्था और तर्क को बराबर नहीं मानते, परन्तु दोनों में सम्बन्ध का भी निषेध नहीं करते। हम अपनी आस्था की बौद्धिक व्याख्या कर सकते है। इससे आस्था का स्वरूप और भी स्पष्ट होगा तथा हमारा विश्वास प्रबल होगा। उदाहरणार्थ, ईश्वर आस्था का विषय है, तर्क का नहीं। हम ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह नहीं प्रकट कर सकते, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व को तर्क से सिद्ध कर सकते हैं, अर्थात् उनके अस्तित्व को प्रमाण से सिद्ध कर सकते हैं। यही तर्क का प्रयोजन है, बुद्धि की सार्थकता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि विश्वास में सहायक है, तर्क आस्था को और सुदृढ़ बनाता है। इससे स्पष्ट है कि एक्विनस दर्शन को धर्म के लिए ही सार्थक मानते थे।

उसने विभिन्न पुस्तकें, भाष्य और प्रश्नावलियाँ लिखीं। किन्तु उनमें से तीन महान् कृतियाँ मानी जाती है, 'वाक्यों पर भाष्य,' 'सुमा अगेन्ष्ट जैनटाइल्स' और 'सुमा थियोलोजिका।' 'सुमा अगेन्ष्ट जैनटाइल्स उसकी विचारधारा का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन है। यह ग्रन्थ ईसाई धर्म की व्याख्या करता है। 'सुमा थियोलोजिका', 'एक अपूर्ण ग्रन्थ, उसके विचारों की एक समन्वयात्मक भूमिका प्रदान करता है। उसके ग्रन्थों में व्यक्तिगत सन्दर्भ नहीं है, उनमें अलंकारों का अभाव है, उसकी शैली शुष्क है और जिस पद्धति को वह प्राय: अपनाता है, वह ऐसी है जिसमें अपने अभीष्ट विचारों के विरुद्ध आपत्तियों का प्रतिपादन हो सके एवं अपने विचारों का और अन्त में मूलत: उठाई गई आपत्तियों का प्रकाशन हो सके।

एक्वीनस ने अपने जीवन-काल में बहुत बड़े परिवर्तन देखे और यह अच्छा होगा कि हम उनमें से कुछ परिवर्तनों की ओर इंगित करें। बहुत से इस्लामी दार्शनिकों ने जिनमें से कुछ स्पेन के थे, दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के पाश्चात्य विचारकों को अरस्तू के दर्शन से परिचित कराया। इनमें से कुछ इस्लामी दार्शनिक स्वयं में महान् थे और उनमें से कुछ ने अरस्तू के ग्रन्थों पर विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिखे। यहूदी दार्शनिक, विशेषत: मैमनीदास नये विचारों को अवगत कराने के लिए उत्तरदायी थे। यूरोप ने इस काल में कुछ महान् विश्वविद्यालयों का अनुभव भी देखा। औषधि-शास्त्र के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध सालरनो विश्वविद्यालय सर्वप्रथम स्थापित हुआ। बोलोना स्थित विश्वविद्यालय विधि-अध्ययन का केन्द्र था, जबकि पेरिस स्थित विश्वविद्यालय जो कि सन् 1200 ई. में स्थापित हुआ, धर्म-शास्त्र की प्रसिद्ध पीठ थी, एक विद्यार्थी को धर्मशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के लिए चौदह वर्ष व्यतीत करने होते थे।

सन्त ऑगस्टाइन के अनुयायी, श्रुति की प्राथमिकता में विश्वास रखते थे। यह परम्परा सन्त बोनावेंतुरे ने बनाये रखी जो कि एक फ्रांसीसी भिक्षु थे और सन्त टॉमस एक्वीनस के समकालीन थे। एक्वीनस का शिक्षक, अलबर्ट महान् अपनी विश्वकोष सम्बन्धी रुचि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और ज्ञान के लिए प्रसिद्ध था, किन्तु वह दार्शनिक दृष्टिकोण से उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था। ऐसी अनेक समस्याएँ थीं जिनका इस युग के दार्शनिक विश्लेषण करने के इच्छुक थे। इन समस्याओं का संक्षेप में वर्णन करना युक्तिसंगत रहेगा।

आस्था और बुद्धि में क्या सम्बन्ध है? ईसाई और इस्लाम जैसे धर्म आस्था को प्राथमिकता देते थे, जबकि दर्शनशास्त्र, जैसे कि यूनानियों का मत था, मानवीय बुद्धि का विषय है। क्या आस्था के ऐसे विषय हैं, जिन्हें पूर्णत: बुद्धि ग्रहण नहीं कर सकती? बुद्धि आस्था के क्षेत्र से तथाकथित-सम्बन्धित समस्याओं को समझने में कौनसी भूमिका अदा कर सकती है? क्या उनमें सामंजस्य पैदा किया जा सकता है या नहीं? क्या ईश्वर ने जगत् की सृष्टि की अथवा जगत् स्वयं में शाश्वत है? इसका क्या अर्थ होता है जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु वहां नहीं है अथवा वह साधारणत: वहाँ नहीं हो सकती? क्या मानवीय संकल्प स्वतन्त्र है और यदि वह स्वतन्त्र है, तो किस अर्थ में? मनुष्य के शरीर का मन अथवा आत्मा से किस प्रकार का सम्बन्ध है? मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है?

ये कुछ वे प्रश्न हैं जिन पर प्राय: सभी इस्लामी, यहूदी और ईसाई दार्शनिकों ने चिन्तन किया। उन्होंने जब व्यवस्थित ढंग से इन समस्याओं का विवेचन किया तो वे दार्शनिक कहलाये, किन्तु जब उन्होंने ध्यान-मार्ग का पूर्णत: अनुसरण किया अथवा जब उन्होंने इन समस्याओं और विवादों को अधिकांशत: श्रुतियों से सम्बद्ध किया तो वे धर्मशास्त्री अथवा रहस्यवादी कहलाये। सभी दार्शनिक ऐसे ही थे। धर्मशास्त्री, रहस्यवादी और दार्शनिक ये सभी पंक्तिबद्ध थे।

एक्विनास के दार्शनिक आन्दोलन का लक्ष्य धार्मिक था। वह चाहता था कि जगत् की बौद्धिकता को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में प्रदर्शित किया जाये। दर्शन और धर्म क्रमश: युक्ति और श्रुति पर निर्भर हैं। युक्ति की अपनी समस्या है। युक्ति द्वारा परमार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है जो परमार्थ के ज्ञान की ओर ले जाती है। किन्तु फिर भी दोनों का क्षेत्र बहुत कुछ मिलता-जुलता है। दर्शन तथ्यों के आधार पर ईश्वर की ओर ले जाता है, जबकि धर्म ईश्वर से तथ्यों की ओर बढ़ता है। इस प्रकार एक्विनस ने दर्शन एवं अभिव्यक्त-धर्मशास्त्र में स्पष्ट भेद स्थापित किया जिसे पेरिस विश्वविद्यालय ने स्वीकार किया।

ज्ञान के क्षेत्र में एक्विनस अधिकांशत: अरस्तू का अनुकरण करता है। अरस्तू ने ज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया। प्रथम इन्द्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक-पृथक ज्ञान होता है। द्वितीय पदार्थ-ज्ञान जिसके द्वारा हम विशेषों में सामान्य की खोज करते हैं। तृतीय तत्त्वज्ञान जिसमें समस्त बौद्धिक ज्ञान सम्मिलित है। इसमें गणित तथा विशेष ज्ञान भी आता है। अरस्तू की मान्यता है कि धारणात्मक ज्ञान विशुद्ध ज्ञान होता है। लेकिन एक्विनस ने यह माना कि धारणाओं का आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। बुद्धि में ऐसी कोई बात नहीं होती जो पहले इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में न हो।

एक्विनस के अनुसार, आत्मा के विभिन्न अंग होते है जैसे संवेदन, सक्रिय बुद्धि और साध्य बुद्धि, जिसके आधार पर आत्मा विभिन्न कार्य करती है। आत्मा विशेष वस्तुओं की प्रतियाँ इन्द्रियाँ-प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण करती है। साध्य बुद्धि उन प्रतियों को स्पष्ट तथा बोधगम्य बनाती है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण की गई वस्तुओं की प्रतियों को एक्विनस इन्द्रिय-उपजातियाँ और स्पष्ट प्रतियों को वह 'बोधगम्य उपजातियाँ' कहता है। बोधगम्य प्रति किसी वस्तु विशेष की प्रति नहीं है, बल्कि समस्त वस्तुओं के सामान्य गुणों की धारणा है। यदि इन गुणों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष नहीं होता है तो मन धारणाओं का ज्ञान नहीं कर सकता। साध्य बुद्धि गुणों से धारणाओं का ज्ञान करती है जिनसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का परिचय होता है।

स्पष्टत: एक्विनस ने अपने ज्ञान के सिद्धान्त में प्रत्यक्षात्मक तथा धारणात्मक, विशेष एवं सार्वभौम, दोनों पक्षों को एक समन्वित रूप देने का प्रयास किया। वह चिन्तन के क्रियात्मक अथवा स्वाभाविक रूप पर भी बल देता है जो ज्ञान का पूर्वानुभव आधार है। मन पूर्व निर्धारित ढ़ग से ही कार्य करता है। ज्ञान मन में छिपा रहता है और जब मन संवेदन के द्वारा क्रियात्मक हो उठता है तब वह ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। एक्विनस के अनुसार, संदेवन और सक्रिय बुद्धि की शक्तियाँ एक साथ काम करती हैं और इसलिए जो कुछ संवेदन से प्राप्त होता है उसमें निराकरण तथा अमूर्तकरण की प्रक्रियायें की जाती है। इस प्रकार प्रत्ययों का अमूर्तकरण और उनके पहले संवेदनायें ज्ञान के आवश्यक तत्त्व हैं।

आत्मा पर बाह्य वस्तुओं की क्रिया के कारण, ज्ञान की सच्ची सामग्री जाग्रत हो जाती है जिससे मन के उच्च बौद्धिक अंग धारणात्मक ज्ञान में परिणित कर देते है। अत: एक्विनास के अनुसार, विशुद्ध ज्ञान अथवा विज्ञान का मूलाधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है। आदमी वही जान सकता है जिसका उसे अनुभव हुआ हो। प्रत्येक दार्शनिक को अपना सिद्धान्त अनुभव से प्रारम्भ करना चाहिए ताकि वह सार-तत्त्व का ज्ञान कर सके। वह विज्ञान जिसमें सत्ता का अध्ययन किया जाता है, एक्विनस उसे तत्त्वज्ञान कहता है। तत्त्वज्ञान विशेष वस्तुओं में सामान्य विशेषताओं को छांटता है और तत्पश्चात् सार्वभौम की दृष्टि से उन पर विचार करता है। अत: विज्ञान वही हो सकता है जहाँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेष वस्तुओं में से सामान्य गुणों को छाँटकर सार्वभौम का चिन्तन किया जाता है। एक्विनस यह भी मानता है कि प्रत्येक आध्यात्मिक प्राणी स्वत: एक उपजाति है। इन प्राणियों का कोई सार्वभौम प्रत्यय नहीं हो सकता। इसलिए उनके सम्बन्ध में विशुद्ध ज्ञान भी नहीं मिल सकता।

4.3.2 तत्त्वज्ञान

एक्विनास के अनुसार, सावैभौम यथार्थ हैं। वे ही विज्ञान के उपयुक्त विषय हैं। लेकिन सार्वभौम की सत्ता विशेष वस्तुओं से स्वतन्त्र नहीं है। वे स्वत: विद्यमान इकाइयाँ नहीं है। एक और अनेक के समन्वित रूप में सार्वभौम और विशेष का अस्तित्व है। अरस्तू की भाँति एक्विनास यह भी मानता है कि सार्वभौम प्रत्यय अथवा विज्ञान ईश्वर के मन में अन्तर्निहित हैं और वस्तुओं के अमूर्त विज्ञान मानव मन में भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार वे दैवी और मानवीय दोनों ही हैं।

अपने तत्त्वज्ञान में एक्विनस ने पुद्गल की सत्ता को स्वीकार किया। अरस्तू की भाँति वह मानता है कि प्रकृति और रूप दोनों की एकता है। प्रत्येक प्राणी का शरीर रूप और पुद्गल का एक संघात है। पुद्गल या द्रव्य से एक्विनस का तात्पर्य उस आधार से है जिसके कारण वस्तु वैसी है जैसी कि वह है। प्राकृतिक वस्तुएँ पुद्गल और रूप के कारण वैसी ही हैं जैसी वे हैं। रूप और पुद्गल के आधार पर एक्विनस प्राकृतिक व्यवस्था तथा प्रयोजन का ही विवेचन नहीं करता, बल्कि समस्त अनेकता अथवा वस्तुओं की भिन्नता का भी विश्लेषण करता है। पुद्गल व्यक्तिगत वस्तुओं की भिन्नता का सिद्धान्त है। विभिन्न वस्तुओं की अनेकता का कारण उनकी शारीरिक अथवा द्रव्यात्मक बनावट है। प्रत्येक शरीर में पुद्गल अपने-अपने ढंग से संगठित है। जहाँ तक मानव प्राणियों की अनेकता का प्रश्न है, आत्माएँ पृथक्-पृथक् शरीरों के साथ जुड़ी हुई है। सुकरात सुकरात है क्योंकि उसकी आत्मा एक विशेष शरीर से जुड़ी है। इसलिए सुकरात कोई अन्य व्यक्ति नहीं हो सकता।

एक्विनस यह भी मानता है कि उन रूपों के अतिरिक्त जो पुद्गल में अन्तर्निहित हैं, कुछ ऐसे रूप भी हैं जिनकी सत्ता पुद्गल से स्वतन्त्र है। उनकी यथार्थता के लिए किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं। इन रूपों में विशुद्ध आध्यात्मिक प्राणी, देव तथा मानव आत्माएँ सम्मिलित हैं। वे विशुद्ध-विज्ञान-स्वरूप है। उनमें पुद्गल का मिश्रण बिल्कुल नहीं है। उनका व्यक्तित्व स्वत: उन्हीं का है।

4.3.3 ज्ञान का सिद्धान्त

सन्त थामस एक्विनस के ज्ञान के सिद्धान्त में दर्शन और धर्मशास्त्र क सम्बन्ध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देकार्ते के दर्शन के अनुसार आस्था के विषय विवेक के क्षेत्र से बाहर हैं और इसलिये मनुष्य समस्त सत्य को विवेक के द्वारा नहीं जान सकता। विवेक के पूर्व आस्था ही दर्शन के उत्पन्न होने का बिन्दु है और सन्त थामस एक्विनस ने दर्शन और धर्मशास्त्र में भेद करते हुए इस आस्था का समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि धर्मशास्त्र के कुछ विषय विवेक और दर्शन के क्षेत्र से परे हैं। दर्शन तथ्यों से ईश्वर की ओर जाता है जबकि धर्मशास्त्र इससे उल्टा अर्थात् ईश्वर से तथ्यों की ओर जाता है। अस्तु, विविध सत्ता और पुनर्जन्म इत्यादि की धारणाओं को विवेक से सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रकार चर्च की धारणायें दार्शनिक जिज्ञासा की विषय नहीं हैं और इसका सीधा सा कारण यह हैं कि ये आस्था का विषय हैं। अस्तु, सन्त आगस्टाइन के विरुद्ध थामस एक्विनस ने ज्ञान का उद्देश्य ईश्वर का रहस्यमय ज्ञान नहीं माना है बल्कि प्रत्ययात्मक ज्ञान प्राप्त करना माना है। उनके अनुसार वास्तविक ज्ञान में प्रत्यय, उनकी उत्पत्ति और आधार की विवेचना होती है। प्रत्यय का आधार प्रत्यक्षीकरण है। एक्विानस का विश्वास है कि बुद्धि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो कि पहले संवेदनों में नहीं था। वे आत्मा की दो शक्तियाँ मानते हैं-संवेदना की शक्ति, क्रियात्मक बुद्धि की शक्ति। संवेदना की शक्ति हमें हमारे ज्ञान की कच्ची सामग्री प्रदान करती है। उसके द्वारा हम विशिष्टों का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिन्हें एक्विनस ने संवेदनीयय प्रजाति कहा हैं। किन्तु क्रियात्मक बुद्धि जो कि शरीर और अतीद्रिय है उसे प्राप्त करने के लिये हमें शरीरी, ऐन्द्रिक और विशिष्ट तत्वों को छोड़ना पड़ेगा। निराकरण और अमूर्तकरण की यह क्रिया सक्रिय बुद्धि की शक्ति के द्वारा की जाती है। एक्वायना के अनुसार संवेदना और सक्रिय बुद्धि की शक्तियाँ एक साथ काम करती हैं और इस लिये जो कुछ संवेदना से प्राप्त होता है उसमें निराकरण और अमूर्तकरण की प्रक्रियायें की जाती हैं। इस प्रकार प्रत्ययों का अमूर्तकरण और उनके पहले संवेदनायें ज्ञान के आवश्यक तत्त्व हैं।

4.3.4 सदवस्तु की धारणा

सन्त थामस एक्विनस के लिये आध्यात्मशास्त्र में परम सदवस्तु की समस्या जड़तत्व से अलग रूपों अथवा सार्वभौम प्रत्ययों की समस्या है। प्लेटो के अनुसार रूप अथवा सामान्य परस्पर सत्ता रखते हैं और इसलिये उनका अस्तित्व जड़वस्तुओं अथवा विशिष्टों से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वतन्त्र है। परन्तु अरस्तू ने प्लेटो की इस धारणा का खण्डन किया क्योंकि यदि सामान्य पूर्णतया स्वतन्त्र हैं तो उनका विशेषों के कैसे और क्यों सम्बन्ध स्थापित होता है? इन दोनों को सम्बन्धित करने के लिये एक तीसरे तत्व की आवश्यकता पड़ेगी और यह अनुचित है। अस्तु, अरस्तू ने यह सुझाव दिया कि सामान्य सत तो है किन्तु वे विशिष्टों के अन्तर्गत उपस्थित रूप में ही सत हैं। यह दृष्टिकोण यथार्थवाद कहा जाता है और सन्त थामस एक्विनस ने इसे मान्यता दी है। उनके अनुसार सामान्य सत होने चाहिये। सामान्यों के अभाव में हमारी आत्मा विशिष्टों को भी नहीं जान सकती। सामान्यों का अस्तित्व सिद्ध कर देने के पश्चात अगला प्रश्न यह उठता है कि सामान्यों की प्रकृति क्या है? यहाँ पर एक्विनस ने अरस्तू का अनुगमन किया है। उनके अनुसार सामान्य विशिष्टों के माध्यम से सत होते हैं, ये विशिष्टों की रचना करते हैं। फिर भी अकेले सामान्य सदवस्तु की व्याख्या नहीं कर सकते। सामान्यों के अतिरिक्त प्राकृतिक वस्तुओं की व्याख्या करने के लिये हमें जड़तत्व की भी आवश्यकता होती है। जड़तत्व से सम्बन्धित सामान्य प्राकृतिक वस्तुयें बनाते है। जबकि कुछ दार्शनिकों ने यह माना है। कि सामान्य अथवा रूप भी एक वस्तु को दूसरी से भिन्न बनाते हैं, थामस के अनुसार जड़तत्व ही विशिष्ट की रचना करता है, वही एक वस्तु को दूसरी वस्तु से भिन्न बनाता है। सुकरात इसलिये सुकरात नहीं था क्योंकि वह एक विवेकशील प्राणी था बल्कि इसलिये सुकरात था क्योंकि उसके अन्य लोगों के शरीर से भिन्न एक शरीर था।

4.3.5 परम लक्ष्य

अरस्तू के अनुसार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आत्म पूर्णता है जो कि आनन्द की ओर ले जाती है। इसको मानते हुये सन्त थामस ने इसका ईसाई धर्मशास्त्र से समन्वय किया। सन्त थामस के अनुसार वस्तुगत रूप से मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य ईश्वर का चिन्तन और प्रेम है परन्तु आत्मगत रूप से वह सर्वोच्च पूर्णता की प्राप्ति है, ईश्वर से समानता की प्राप्ति है। यह इसलिये है क्योंकि न तो ईश्वर का विवेकपूर्ण ज्ञान और न बोध के आधार पर उसकी मान्यता हमारे सम्पूर्ण सत्य को सन्तुष्ट कर सकती है। ईश्वर के ज्ञान का सर्वोच्च रूप बोधमय है, परन्तु यह अगले जन्म में सम्भव है तथा सदा के लिये रहता है। यह परमानन्द देता है और मानव प्रयास का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस प्रकार जीवन का लक्ष्य दोहरा है, आत्म पूर्णता भौतिक जगत का लक्ष्य है और ईश्वर का बोध परम लक्ष्य है।

सन्त थामस के अनुसार सभी आदम के पहले पाप से प्रभावित हैं। हम इस मूल पाप को अनुवांशिक रूप से प्राप्त करते हैं और भगवत कृपा के अतिरिक्त और कुछ भी हमें इससे नहीं बचा सकता। केवल ईश्वर की कृपा से ही अशुभ को दूर किया जा सकता है। बुद्धिमान ईश्वर यह जानता है कि केवल कुछ लोग ही मुक्ति के अधिकारी है क्योंकि अन्य लोग इस जीवन में पाप करते हुये पाप को बढ़ाते है। इसलिये वह दण्ड की व्यवस्था करता है।

4.3.6 दृष्ट जगत्

अरस्तू ने सांसारिक पदार्थों के समाधान में सामग्री और आकृति का भेद किया था। आकृति से उसका अभिप्राय वह शक्ति थी जो प्रकृति को निश्चित रूप देती है। एक्विनस ने इस भेद को तात्त्विक रूप में स्वीकार किया। ईसाई पादरी होने के कारण वह यह नहीं मानता था कि मूल प्रकृति अनादि है, और प्रथम गति के बाद जो कुछ परिवर्तन इसमें हुआ है, उसका कारण इसके अन्दर मौजूद है। उसका ख्याल था कि परमात्मा ने जगत् को अभाव से उत्पन्न किया, और उत्पत्ति के बाद पदार्थों की स्थिरता भी परमात्मा की क्रिया पर निर्भर है। उसने अरस्तू की सामग्री और आकृति का स्थान 'सम्भावना' और 'क्रिया' को दिया। प्रारम्भिक अवस्था में प्रकृति 'सम्भावना' ही है, परमात्मा में सम्भावना और वास्तविकता अभेद हैं, क्योंकि वह तो हर प्रकार के परिवर्तन से ऊपर है। वह सब कुछ जानता है, उसके लिए नये-पुराने का भेद कुछ अर्थ ही नहीं रखता। सारे सीमित पदार्थों में सम्भावना और क्रिया मिली हुई हैं। इनका भेद इसलिए है कि सारी सम्भावना एक रूप की नहीं। चेतन प्राणियों के शरीर भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्येक शरीर अपने अन्दर वास करने वाले जीव को अपनी विशेषताओं से विशिष्ट कर देता है। इस तरह हम किसी वस्तु की बाबत जान सकते हैं कि वह है, और क्या है। हम जगत् के पदार्थों को जान सकते हैं, क्योंकि हम बुद्धिमान हैं, और जगत में भी एक ऐसी सत्ता का शासन है। बाह्य जगत् में नियम का राज्य होने के कारण ही हम उसे समझ सकते हैं। नियम के राज्य का अर्थ यही है कि परिवर्तन के साथ स्थिरता भी विद्यमान है।

4.3.7 ईश्वर

अपने सुमा नाम के दोनों ग्रन्थों में एक्विनस का प्रथम उद्देश्य ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना और उसके स्वरूप का निरूपण है। एक्विनस इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करता कि ईश्वर का अस्तित्व स्वत: प्रमाण्य है अथवा ईश्वर के अस्तित्व की मनुष्य पर स्वभावत: छाप है। इसी प्रकार एक्विनस सत्तामूलक युक्ति को भी स्वीकार नहीं करते। परिवर्तन की प्रक्रिया एक प्रारम्भिक बिन्दु, एक

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आरम्भिक प्रेरणा की मांग करती है, जहाँ से गति अग्रसर होती है। निरपेक्ष आरम्भ केवल इस शर्त पर संभव है कि उस सत् की, जो सभी परिवर्तनों से परे है, सत्ता हो। वही सत् ईश्वर है। दूसरे, अनावश्यक अथवा आकस्मिक सत्ताओं का अस्तित्व एक आवश्यक सत् की मांग करता है। हम ईश्वर को केवल सादृश्य से, उसे सभी पूर्णताओं से लक्षित करते हुए, जानते हैं। हम ईश्वर के केवल निषेध द्वारा पूर्णता के सभी तत्त्वों को अपूर्णताओं से पृथक् करके जानते हैं। हमारे ईश्वर का ज्ञान वास्तव में यही है कि वह अनन्त है। अरस्तू ने कहा था कि वह एक अचल गतिदाता है। मध्ययुगीन दार्शनिकों ने इसमें अनन्तता का प्रत्यय जोड़ा। अनन्त सत् विशुद्ध सत्ता है। ईश्वर का अनुभवातीत व्यक्तित्व उसे किसी भी सीमित सत् के रूप में समझने से रोकता है, क्योंकि जितनी भी समिति सत्ताएं हैं उन्हें उसने ही सत्ता दी है अथवा उनको वह भविष्य में सत्ता देगा। सान्त सत्ताओं के रूप में ईश्वर का ज्ञान वास्तव में उसकी अनन्तता के विरुद्ध है। ऐसा मानना तो ईश्वर को ही नष्ट कर देगा। एक्विनस ईश्वर के अस्तित्व के लिए जो प्रमाण एक्वाइनस ने दिये, वे इस अर्थ में अनुभवाश्रित थे कि वह हमारे गति के प्राकृतिक अनुभव और सत्ताओं के अस्तित्व के अनुभव को लेकर ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना की ओर अग्रसर होता है। परन्तु जब वह ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करता है, तो उसका तर्क अनुभव को पूर्वमान्य कर उसके आधार पर नहीं चलता, क्योंकि वह पूछता है कि ईश्वर जो प्रथम गतिदाता, प्रथम ईश्वर तो गतिहीन है वह सक्रिय किस अर्थ में है? कारण है और जो निरपेक्ष रूप से आवश्यक है और सर्वोत्तम रूप से पूर्ण सत् है उसको किन लक्षणों से युक्त होना चाहिए। एक्विनस का कथन है कि ईश्वर है कि ईश्वर एक पौद्गलिक सत् नहीं हो सकता। इस विधि से ईश्वर का वर्णन करना ''निषेधात्मक विधि'' कहलाती है। हम कहते हैं कि ईश्वर अपरिवर्तनशील अथवा परिवर्तनशील, अनन्त अथवा अन्तहीन है। यहाँ तक कि ''सरल'' लक्षण का अर्थ इस विधि में जटिलताहीन के रूप में लिया जाता है और ''नित्य'' का अर्थ ''परिवर्तनशील'' के रूप में। किन्तु इसका क्या अर्थ होता है जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर प्रज्ञा रूप या बुद्धिमान है? एक्विनस का कथन है कि वस्तुतः ईश्वर के सन्दर्भ में हम यह नहीं जानते कि प्रज्ञा या बुद्धि क्या है क्योंकि उसका ज्ञान और बुद्धि मानवी-वाणी और प्रज्ञा से परे है। हम ईश्वर का उन्हीं शब्दों में वर्णन करने के लिए प्रतिबद्ध हैं जो मुख्यतः उन वस्तुओं की ओर इंगित करते हैं जिन्हें हम अपने चारों ओर देखते हैं। हम ईश्वर के विषय में तो केवल सादृश्य के द्वारा ही कुछ कह सकते हैं।

ईश्वर की धारणा

एक्विनस का तत्त्वज्ञान उसके धर्मशास्त्र का स्पष्टीकरण भी करता है। उसके अनुसार ईश्वर, विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है, वह विशुद्ध यथार्थता है ईश्वर का ज्ञान श्रद्धा से होता है। युक्ति द्वारा भी उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जिसे एक्विनस अपरोक्ष ज्ञान कहता है। ईश्वर का अस्तित्व उसके द्वारा जगत् की सृष्टि से प्रमाणित होता है। उसका अस्तित्व केवल अनुभवाश्रित-पद्धति से ही सिद्ध किया जा सकता है। एक्विनस उन युक्तियों को अधिक मान्यता देता है जिन्हें अरस्तू तथा ऑगस्टाइन जैसे दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया। ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए, उसने अपनी ओर से चार तर्क इस प्रकार दिए-

1. यह निश्चित है, और इन्द्रियजन्य अनुभव से स्पष्ट है, कि इस जगत् में कुछ पदार्थ गतिशील किये जाते हैं।

इस तथ्य में एक्विनस गति का वर्णन करता है, परन्तु अरस्तू की तरह उसका अभिप्राय हर प्रकार के परिवर्तन से है। हम देखते हैं कि पदार्थों में परिवर्तन होता है, जल अधिक सर्दी से जम जाता है, गर्मी से भाप बन जाता है। परिवर्तन देखकर हमें अवश्य परिवर्तन से ऊपर स्थायी सत्ता का ध्यान आता है, जो परिवर्तन का आधार है।

2. जगत् की गति तथा परिणाम के लिए एक स्वयंभू और अपरिणामी चेतन कारण आवश्यक है। प्रत्येक कार्य अपने कारण की ओर संकेत करता है। अतएवं किसी ऐसे प्रथम कारण में विश्वास करना अनिवार्य है जो गति प्रदान करता हो, अरस्तू की भांति एक्विनास इसी प्रथम कारण को ईश्वर मानता है। ईश्वर गति रहित होते हुए भी समस्त गति का मूल कारण है। वह समस्त वस्तुओं को चलायमान रखता है। इस प्रकार ईश्वर गतिरहित गतिदाता है।

3. हम प्राकृत पदार्थों में निमित्त कारणों का क्रम देखते हैं।

4. हम देखते हैं कि सांसारिक पदार्थों में कुछ में भाव या अभाव, होने या न होने की क्षमता है, क्योंकि हम देखते है कि कुछ पदार्थ प्रकट होते हैं और अदृष्ट हो जाते हैं।

इस युक्ति में एक्विनस सरल परिवर्तन का नहीं, अपितु उत्पत्ति और विनाश का उल्लेख करता है। कुछ पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर विनष्ट हो जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि ऐसे पदार्थों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं, उनमें होने और न होने दोनों प्रकार की क्षमता है। अनन्त काल में, प्रत्येक पदार्थ के लिए अस्तित्व का खो देना सम्भव है, अर्थात् व्यापक अभाव की सम्भावना है। ऐसा व्यापक अभाव पहले भी हुआ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

होगा। उस अभाव से वर्तमान भाव कैसे प्रकट हो गया? एक्विनस के विचार में, अभाव से भाव की उत्पत्ति हो नहीं सकती, और वर्तमान भाव में तो सन्देह हो ही नहीं सकता। हम ऐसे अनित्य और मोक्ष पदार्थों के साथ नित्य निरपेक्ष सत्ता को मानने में भी विवश हैं।

5. हम देखते हैं कि पदार्थों में भद्र, सत्य और श्रेष्ठता आदि का भेद है, कुछ पदार्थों में अन्य पदार्थों की अपेक्षा ये गुण अधिक पाये जाते हैं।

अब तक घटनाओं के आगे-पीछे आने और पदार्थों के परिवर्तन का उल्लेख हुआ है। यह विवेचन विज्ञान का क्षेत्र है। परन्तु हम जगत् में गुण-दोष का भेद भी देखते हैं। इन भेदों की बाबत विचार करना नियामक विद्याओं का काम है। इन विद्याओं में न्याय, सौन्दर्यविद्या और नीति प्रमुख हैं। न्याय सत्य और असत्य में भेद करता है, सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य और कुरूपता में भेद करता है, नीति भद्र और अभद्र में भेद करती है। ये भेद कैसे किये जाते हैं? तर्क, पूर्ण सत्य को परख की कसौटी बनाता है, सौन्दर्यशास्त्र निर्दोष सौन्दर्य को यह कसौटी बनाता है, नीति के लिए 'पूर्णता' कसौटी है। एक्विनस कहता है कि श्रेष्ठता का भेद श्रेष्ठतम के अस्तित्व पर निर्भर है। हम देखते हैं कि जो पदार्थ श्रेष्ठ होने का दावा करता है, वह श्रेष्ठता की पराकाष्ठा से कितना निकट है। पूर्ण स्वास्थ्य अनुभव में तो दिखाई नहीं देता। जब हम किसी पुरुष के स्वास्थ्य की बाबत कहते हैं, तो वास्तव में यही कहते हैं कि उसकी अवस्था पूर्ण स्वास्थ्य से कितनी दूर है। गुण-दोष का भेद अन्तिम आदर्श की ओर संकेत करता है।

6. हम देखते हैं कि कुछ पदार्थ, जो अचेतन हैं, किसी प्रयोजन के लिए काम करते हैं। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट है कि वे सदा या बहुधा एक तरह ही क्रिया करते हैं, इस उद्देश्य से कि श्रेष्ठतम अवस्था को प्राप्त कर सकें।

इस अन्तिम हेतु में फिर अरस्तू का प्रभाव दिखाई देता है। अरस्तू का ख्याल था कि आदि गतिदाता पदार्थों को पीछे से धकेलता नहीं, आगे से आकर्षित करता है, जगत् में सब कुछ पूर्णता की ओर चल रहा है। एक्विनस अरस्तू के प्रयोजन-वाद को स्वीकार करता है। जड़ पदार्थों की हालत में यह प्रयोजन अचेतन है। सारे पदार्थ नियमानुसार चलते हैं, उनकी गति सम्मिलित और सहकारी है। नियम के लिए नियन्ता की आवश्यकता है, व्यवस्था व्यवस्थापक की ही क्रिया होती है।

एक्विनस के उपर्युक्त हेतुओं का सार यह है कि-

परिवर्तन अन्तिम परिवर्तक और कारण की ओर संकेत करता है,

अनित्य और अस्थिर की नींव नित्य और स्थिर सत्ता पर होती है,

श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का भेद श्रेष्ठतम के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही प्रतीत होता है, और

जगत्-प्रवाह में नियम और सहकारिता दिखाई देती है, ये नियम के नियामक की ओर संकेत करती हैं।

ईश्वर के अस्तित्व और महानता के विषय में उपरोक्त तर्क देने के पश्चात् सन्त थामस इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ईश्वर ने शून्य से इस जगत की रचना की है। उसने रूप और पदार्थ दोनों ही उत्पन्न किये हैं क्योंकि यदि वह केवल रूप उत्पन्न करता और पदार्थ नहीं तो उसके समान्तर कोई दूसरा तत्व हो जाता जो कि पदार्थ के जन्म का कारण माना जाता और इस प्रकार वह सर्व शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता था। परन्तु जहाँ तक इस प्रश्न की बात है कि इस जगत की रचना कैसे की गई, यह काल में उत्पन्न हुआ अथवा ईश्वर ने इसकी रचना स्वयं अपने अन्दर से की, ये प्रश्न ऐसे हैं जिनके दार्शनिक हल निकालना सम्भव नहीं है। कुछ सत्य ऐसे हैं जो कि बोध पर निर्भर होते हैं। बोध से ही हमें यह पता चलता है कि जगत शाश्वत नहीं है और वह काल में उत्पन्न हुआ है और ईश्वर की रचना शाश्वत है। यह जगत् की सर्वोत्तम संभव कृति है क्योंकि ईश्वर सर्वोत्तम शुभ संकल्प ही करता है। जगत् की रचना-प्रक्रिया में ईश्वर का उद्देश्य अपने आप को विविध संभव रूपों में अभिव्यक्त करना है। अत: अस्तित्व के हर संभव स्तर की रचना ईश्वर द्वारा संभव है।

ईश्वरीय शासन

ब्योरे की बातों को छोड़ कर, व्यापक शासन की बाबत एक्विनस निम्न प्रश्नों पर विचार करता है-

1. क्या जगत् पर किसी सत्ता का शासन है?
2. इस शासन का प्रयोजन क्या है?
3. क्या जगत् का शासक एक ही है?
4. इस शासन का परिणाम क्या है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. क्या सारे पदार्थ ईश्वरीय शासन के अधीन है?
6. क्या सभी पदार्थों पर ईश्वर प्रत्यक्ष रूप में शासन करता है?
7. क्या ईश्वरीय क्षेत्र के बाहर भी कुछ हो सकता है?
8. क्या कोई वस्तु ईश्वरीय शासन का विरोध कर सकती है?

इन प्रश्नों के सम्बन्ध में एक्विनस एक ही शैली का प्रयोग करता है। आरम्भ में तीन आक्षेपों का वर्णन करता है, इसके बाद बाइबिल या किसी सन्त के संक्षिप्त उद्धरण देता है, फिर अपना मत बयान करता है, और अन्त में आक्षेपों का उत्तर देता है।

ऊपर किये गये प्रश्नों के सन्दर्भ में एक्विनस का मत है-

1. संसार में व्यवस्था विद्यमान है, इसकी रचना केवल संयोग का परिणाम नहीं हो सकती। चेतन सत्ता के लिए ही प्रयोजन की सम्भावना होती है।
2. प्रकृतिवाद का यह दावा ठीक नहीं कि जगत् का प्रयोजन इसके अन्दर है, बाहर नहीं। प्रत्येक पदार्थ का प्रयोजन उसका अपना या कल्याण है। यह भद्र व्यापक भद्र में सम्मिलित होता है। इसलिए जगत् का प्रयोजन इसके अन्दर नहीं, बाह्य सत्ता की ओर से निश्चित हुआ है।
3. अस्तित्व में एकता निहित है। प्रत्येक पदार्थ अपनी एकता कायम रखना चाहता है। शासन का अर्थ भी यही है कि शासित पदार्थों को एकता और सामञ्जस्य में रखा जाय। शासन की एकता के लिए शासक की एकता आवश्यक है।
4. ईश्वरीय शासन के फल को तीन पहलूओं से देख सकते हैं-

   अन्तिम उद्देश्य तो एक ही है- सारे पदार्थों का पूर्णता की ओर चलना।

   जहाँ तक चेतन प्राणियों का सम्बन्ध है, उद्देश्य के दो भाग हैं- एक यह कि प्राणी स्वयं ईश्वर की पवित्रता को अपने अन्दर प्रविष्ट करें, दूसरा यह कि दूसरों के कल्याण के लिए यत्न करें। विविध पदार्थों के सम्बन्ध में शासन का फल इतना विविध है कि उसका वर्णन सम्भव ही नहीं।
5. सभी वस्तुओं की रचना परमात्मा ने की है, उसी ने उनकी क्रिया का नियम बनाया है। इसलिए कोई भी वस्तु ईश्वरीय शासन के बाहर नहीं।
6. शासन में दो बातों का ध्यान रखना होता है- एक, शासन का व्यापक रूप, दूसरा, शासन के साधन। शासन तो सारा ईश्वर का ही है। परन्तु ईश्वर अन्य प्राणियों को भी साधन के तौर पर उपयोग में लेता है। अच्छा अध्यापक शिष्यों को पढ़ाता ही नहीं, उन्हें और लोगों को पढ़ाने के योग्य भी बनाता है। इसी तरह ईश्वर अन्य कारणों को भी कुछ करने का अवसर देता है।
7. प्रतीत तो ऐसा होता है कि कुछ घटनाएँ अकस्मात् किसी कारण के बिना हो जाती है। परन्तु यह हमारे ज्ञान के सीमित होने का फल है। कारण हमारी दृष्टि से ओझल होता है, इसका अभाव नहीं होता।

   कुछ लोग कहते हैं कि अभद्र या बुराई ईश्वरीय व्यवस्था का भाग नहीं। अभद्र का कोई भावात्मक अस्तित्व नहीं, यह तो भद्र का लोप या अभाव है। हम व्यापक दृष्टिकोण से देखें, तो पता लगेगा कि जो कुछ है, भद्र की ओर चल रहा है, और ईश्वरीय शासन के अन्तर्गत ही है।
8. ऐसा प्रतीत होता है कि पापी मनुष्य ईश्वरीय शासन के विरुद्ध विद्रोह करता है, परन्तु यह ठीक नहीं। यदि पाप का दण्ड न मिले, तो समझा जा सकता है, कि ईश्वरीय शासन का उल्लंघन हुआ है। परन्तु पाप के लिए दण्ड मिलता ही है, और ऐसा होने पर व्यवस्था की प्रतिष्ठा स्थापित हो जाती है।

ज्ञानमीमांसा

मानव की बुद्धि ही मानव की विशेषता है जिसके कारण वह सब पशुओं की अपेक्षा उच्चतर प्राणी कहा जाता है और बुद्धि ही के कारण उसकी आत्मा नित्य सत्यता का पान कर सकती है। मानव केवल बुद्धि-सम्पन्न नहीं होता है। वह देहधारी आत्मा है और देह मैटर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है अर्थात् देह स्वयं बुद्धि नहीं है, पर केवल बुद्धि के द्वारा उसे ज्ञानमय किया जा सकता है। यही कारण है कि बुद्धि के द्वारा प्राप्त मानव ज्ञान आंशिक होता है और इसमें ज्ञान की सम्भावना पूर्णतया वास्तविक नहीं हो पाती है।

मानव की ज्ञानप्रक्रिया स्वत: संचालित नहीं रहती है और न स्वनिर्भर रहती है। सर्वप्रथम, ज्ञान सक्रिय किया संवेदन के द्वारा जाता है और तब बुद्धि सक्रिय होती है और सक्रिय होकर वस्तु विशेषों में समान रूप से पाये जाने सामान्य की जानकारी होती है। दूसरे शब्दों में सच पूछिए तो प्रत्यक्ष में ही उपजाति या उपजातीय गुण का भान होता है। यदि नीला कागज और नीला फूल देखा जाय तो नीले का हमें प्रत्यक्ष होता है पर इस प्रत्यक्ष को ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।

इस प्रत्यक्ष के द्वारा प्रक्षुब्ध होकर (सक्रिय होकर) वस्तुविशेषों में निहित सामान्य नियमों, प्रारूपों और उनके स्वरूपों का ज्ञान बुद्धि को होने लगता है। धीरे-धीरे करके तत्सम्बन्धी उनमें (वस्तुविशेषों में) निहित सामान्यों का ज्ञान बढ़ता जाता है अन्त में अनेक प्रकार के वस्तुविशेषों का ज्ञान मानव में अपनी बुद्धि के द्वारा प्राप्त होता रहता है। तब इन सब प्रकार के ज्ञान के आधार पर नित्य सत्यताओं की झलक मिलने लगती है। पर असली ज्ञान की हमें झलक मात्र मिलती है, देवधारी को इस पार्थिव जीवन में पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मानव को इस पार्थिव शरीर में पूर्ण आनन्द भी नहीं प्राप्त हो सकता है।

4.3.8 जीवात्मा का स्वरूप

जैसा हम देख चुके हैं, एक्विनस ईसाई सिद्धान्त में विश्वास करता था और अरस्तू के प्रभाव में भी था। जीवात्मा के सन्दर्भ में उसका सिद्धान्त समझने के लिए, इन दोनों मतों की ओर ध्यान देना उचित है।

अरस्तू ने कहा था कि जीवात्मा की स्थिति मानव शरीर में आकृति की स्थिति है। आकृति के लिए 'आकार' और सामग्री के लिए 'पदार्थ' या पुद्गल अभ्रान्त है। ये दोनों एक साथ रहते हैं, इसलिए मृत्यु होने पर जीवात्मा वैयक्तिक स्थिति में कायम नहीं रहता। ईसाई विचार के अनुसार, परमात्मा ने आदम के शरीर में श्वास फूँका और वह श्वास जीवात्मा है। यह बात स्पष्ट नहीं कि परमात्मा यह क्रिया प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में करता है, या अब हम शरीर के साथ, जीवात्मा को भी माता-पिता से ग्रहण करते हैं। यह निश्चत से कहा जाता है कि प्रत्येक जीवन को उसके कर्मों का फल मिलेगा, और मृत्यु के साथ सब कुछ समाप्त हो नहीं जायगा। एक्विनस जीवात्मा को शरीर से अलग करता है, परन्तु यह भी कहता है कि जीवन के संयोग में समग्र मनुष्य एक द्रव्य हैं। दु:ख-सुख की अनुभूति न केवल जीव को होती है, न केवल शरीर को, अपितु समग्र मनुष्य को होती है। यह अवस्था जीवन में विद्यमान है, परन्तु हम जीवात्मा की प्रक्रियाओं में भेद करते हैं। प्राचीन यूनानियों ने जीव को विस्तृत अर्थों में लिया था, जहाँ कहीं जीवन है, वहाँ जीव मौजूद है। एक्विनस के मतानुसार जीवात्मा निराकार है, इस निराकारता के कारण वह इसे अमर भी समझता है। अरस्तू ने आत्मा के बुद्धियुक्त अंश को ही अमर कहा था, एक्विनस के लिए समग्र जीव अमर है। मानव जीवन में जीव शरीर से युक्त एक ही द्रव्य होता है और उसका ज्ञान प्राकृतिक इन्द्रियों की क्रिया पर निर्भर होता है, परन्तु निराकार होने के कारण यह शरीर से अलग भी रह सकता है।

4.3.9 मानव की अन्तिम गति और उसका अन्तिम आनन्द

सन्त टामस की ज्ञानमीमांसा के अनुसार ईश्वर के ज्ञान को प्राप्त करना ही मानव ज्ञान का अन्तिम उद्देश्य है। इसी प्रकार मानव इच्छा और प्रेम के भाव का भी अन्तिम लक्ष्य है कि मानव परम शुभ रूप ईश्वर की ओर उसका सकंल्प संचालित हो, वह ईश्वर को अपने पूर्ण तन-मन से प्यार करे। फिर जिस प्रकार से मानव ज्ञान का प्रारम्भिक बिन्दु इन्द्रिय-सम्वेदन है उसी प्रकार मानव का शुभ और उसका प्रेम-विषय अनेक वस्तुओं और उनकी लालसाओं की ओर रहकर उसका ईश्वर के प्रति प्रेम और उसकी प्राप्ति का सकंल्प घूमिल और विपथिक और विकृत हो जाता है। ऐसी स्थिति में मानव को क्या करना चाहिए?

मानव को चाहिये कि वह ईश्वर को अपना चरम शुभ समझ कर उसे खोजे और उसे रिझाने का प्रयास करे। प्रयास करने के फलस्वरूप व्यक्ति को स्पष्ट होगा कि वह आत्मसंयम बरते और अपनी बुद्धि के अनुरूप अपने सम्वेगों का नियन्त्रण करे, सद्गुणों को प्राप्त करने में संलग्न हो और दुराचार का त्याग करे और इस प्रकार ईश्वर के प्रति ध्यान को टिकाए रहना सिखाए। तो भी मानव देहधारी है और पार्थिव जीवन में हम कितना ही अधिक अथक प्रयास क्यों न करें कि पूर्ण शान्ति और पूर्ण आनन्द मिले, पर उन्हें हम स्वर्गिक वास के बिना नहीं प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ रामानुजाचार्य के मत के अनुसार ही यह विचार है, क्योंकि रामानुजाचार्य के अनुसार बिना देहपात के इस जीवन में मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। पर सन्त टामस के अनुसार इस जीवन में स्वर्गिक आनन्द को प्राप्त करने की तैयारी करना अभीष्ट है क्योंकि इसके द्वारा स्वर्ग का द्वार खुल सकता है। तब क्या मानव स्वतन्त्र है कि वह पापमुखी न होकर सद्गुण-मार्गी हो?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन्त टामस के अनुसार स्वतन्त्र सकंल्प का स्वरूप है आत्म-निर्धारण आत्मनियन्त्रण। मानव सकंल्प शुभ की ओर लगा रहता है ताकि वह परम् शुभ को प्राप्त कर ले। यदि किसी व्यक्ति को इस परम शुभ का सही ज्ञान हो जायगा तब वह अवश्यमेव इसे प्राप्त करने के लिए उद्यत हो जायगा। पर क्या ज्ञान की आवश्यकता के साथ संकल्पात्मक कार्य के होने को स्वतन्त्रता की संज्ञा दी जा सकती है? हाँ! ईश्वर के संकल्प में भी यही बात है। ईश्वर ही परम शुभ है और उसमें ही इसका चरम ज्ञान है! ईश्वर परम शुभ के अतिरिक्त अन्य कुछ संकल्पित कर ही नहीं सकता है। उसके लिये अन्य कोई विकल्प नहीं है और न वह किसी भी अशुभ को संकल्पित कर सकता है। सर्वोच्च शुभ होने के कारण वह शुभ ही संकल्पित कर सकता है। ईश्वर का संकल्प अनिवार्यत: अपने स्वरूप से ही संचालित होता है। चूंकि ईश्वर ही बिना किसी कारण के अपने संकल्प को आत्मनिर्धारित करता है, इसलिये ईश्वर को पूर्णतया स्वतन्त्र माना जाता है। तार्किकत: ईश्वर का स्वरूप उसके संकल्प से पूर्व होता है। ईश्वर द्वारा संकल्पित शुभ इसलिए शुभ नहीं हैं कि ईश्वर उसे संकल्पित करता है, पर वह इसलिये संकल्पित किया जाता है कि अपने स्वरूप से ही शुभ, शुभ होता है। अत, अक्वीनस बुद्धि को संकल्प की अपेक्षा प्राथमिकता देते हैं।

उपरोक्त विचार के अनुसार मानव को यदि यदि परम शुभ का सही ज्ञान हो जाय तो वह अवश्यमेव शुभ संकल्पी होगा। पर मानव ज्ञान अधूरा होता है, दैहिक वासनाओं से दूषित हो जाता है और संसारी प्रलोभन में वह पड़ जाता है। यही कारण है कि मानव का संकल्प भी दोषपूर्ण हो जाता है। पर मानव में संकल्प है क्योंकि उसका संकल्प आत्मनिर्धारित होता है।

इसी सन्दर्भ में एक-दो बातें स्पष्ट की जा सकती है। सर्वप्रथम, अशुभ की समस्या। जहाँ तक नैतिक अशुभ का प्रश्न होता है, वहाँ सन्त अक्वीनस का कहना है कि मानव का संकल्प स्वतन्त्र है और इसी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से तथा सच्चे शुभ के सच्चे ज्ञान के अभाव में नैतिक अशुभ की सम्भावना होती है। इसलिये मानव ही स्वयं अपने नैतिक शुभ के लिये उत्तरदायी होता है।

सन्त थॉमस के अनुसार अशुभ कोई विधायक वस्तु नहीं है बल्कि निषेधात्मक वस्तु अथवा कमी है। वह एक दोष या अभाव है। जब तक वस्तुयें प्राकृतिक हैं और विवेक के अनुसार काम करती हैं तब तक वे शुभ हैं। जब यह कार्य रूपगत अथवा भौतिक कारणों से दोषपूर्ण हो जाता है तो अशुभ उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार से नैतिक अशुभ दोषपूर्ण संकल्प के कारण हैं अर्थात् प्राकृतिक विवेक या दैवी नियम के अनुसार संकल्प के काम न करने के कारण है मनुष्य सदैव शुभ का लक्ष्य रखता है और कभी भी अशुभ का प्रयोजन नहीं रखता है। अस्तु, अशुभ जानबूझ कर अथवा चेतन कारणों से नहीं बल्कि उन कारकों के कारण होता है जो मनुष्य के नियन्त्रण से परे है।

मनुष्य में एक वास्तविक आत्मा का अस्तित्व है। यह आत्मा ईश्वर द्वारा सृष्ट की जाती है, किन्तु शरीर के निर्माण से पूर्व नहीं। इस आत्मा से उसे अपनी तर्क-बुद्धि इन्द्रियाँ और जीवन मिलता है। एक आत्मा की अनेक शक्तियाँ होती हैं। जगत् में निम्नतर और उच्चतर जीव हैं। निम्नतर जीव सम्पूर्ण पूर्णता प्राप्त करने में अक्षम है। मनुष्य इस श्रृंखला में मध्यवर्ती स्थिति रखता है क्योंकि वह पूर्णता प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सक्षम नहीं है। मानवीय आत्मा के ऊपर देवदूत आते हैं और अन्त में ईश्वर का स्थान है। ''आत्मा'' शब्द का प्रयोग एक्विनस ने विस्तृत अर्थ में किया है। इसके विस्तृत अर्थ में इसकी परिभाषा जीवन के व्यापारों को सम्पन्न करने में सक्षम एक व्यवस्थित शरीर की प्रथम क्रिया के रूप में की जाती है। आत्मा क्रिया-रूप है, परन्तु अन्य समस्त क्रियाओं की तरह यह अपरोक्ष रूप से नहीं जानी जाती। हम इसका इसके कार्यों से अनुमान करते हैं। पुन: शरीर दो प्रकार के होते हैं, कुछ निष्क्रिय होते हैं, जबकि दूसरे बढ़ते हैं। ''जीवित वस्तुओं'' का अर्थ एक्विनस वनस्पति, पशु और मनुष्य से करते हैं।

एक पौधा स्वयं का पोषण और प्रजनन करने के लिए सक्षम है, यह पौधे में ''वनस्पति-आत्मा'' है जो इन क्रियाओं को सम्भव बनती है। पशु केवल स्वयं का पोषण और प्रजनन करने में सक्षम नहीं है, बल्कि संवेदनाओं को प्राप्त करने में भी सक्षम है। मनुष्य अन्य क्रियाएं, जैसे चिन्तन और स्वतन्त्र रूप से चयन करने में भी सक्षम है, अत: उसकी आत्मा उच्चतर प्रकार की होती है जिसे ''बौद्धिक आत्मा'' कहा जा सकता है। इस प्रकार विविध प्रकार की आत्माओं में एक क्रमबद्धता है। अत: मानवीय आत्मा मानवीय शरीर का स्वरूप ही है। दूसरे शब्दों में, आत्मा वह है जो शरीर को मानवीय शरीर बनाती है, आत्मा और शरीर दोनों मिलकर एक तत्त्व है। अलग-अलग ''आत्मा'' और ''शरीर'' दोनों अपने आप में अपूर्ण तत्त्व हैं। बिना आत्मा के शरीर वास्तव में शरीर नहीं होता और उसी तरह आत्मा, जो मृत्यु के पश्चात् भी रहती है, मानव नहीं होता।

4.3.10 सामान्य विचार

मध्य युग में सामान्य की समस्या पर भी गम्भीर विचार किया गया है। इस समस्या का सूत्रपात ग्रीक युग में हुआ। सर्वप्रथम सामान्य की समस्या पर सॉफिस्ट लोगों ने विचार किया। सॉफिस्ट लोगों के अनुसार मनुष्य ही सभी पदार्थों का मापदण्ड है। प्रत्येक मनुष्य

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

को जो सत्य प्रतीत होता है वही उसके लिये सत्य है। कोई भी सामान्य सत्य नहीं। इसी कारण ज्ञान तथा नैतिकता दोनों क्षेत्रों में सॉफिस्ट लोगों ने व्यक्तिगत सत्य को ही सत्य माना है, सामान्य सत्य को नहीं। सुकरात ने सॉफिस्ट लोगों की इस मान्यता का खण्डन कर सामान्य की सत्ता स्वीकार किया है। सुकरात के अनुसार व्यक्तिगत ज्ञान नहीं, सामान्य यथार्थ ज्ञान होता है। इन सामान्यों के सहारे ही हमें यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है। अत: सामान्य ही यथार्थ ज्ञान है। ये सामान्य व्यक्तियों के सार हैं। इन्हें सुकरात प्रत्यय कहते हैं। प्लेटो के अनुसार थे प्रत्यय केवल मनुष्य के मस्तिष्क में विद्यमान नहीं, वरन् बाह्य संसार में भी इनका अस्तित्व है। प्लेटो के अनुसार सामान्य विज्ञान हैं। विज्ञान वस्तु के सार है। वस्तु की सत्ता उसके विज्ञान पर भी निर्भर है। उदाहरणार्थ, मनुष्यत्व सभी मनुष्यों का सार है जो सभी व्यक्तिगत मनुष्यों से भिन्न है, परन्तु सभी मनुष्यों का कारण है। अरस्तू ने प्लेटो के सामान्य का खण्डन किया है। अरस्तू के अनुसार किसी व्यक्ति का सार उस व्यक्ति में ही रहेगा, उससे पृथक् नहीं। अत: सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति तो सापेक्ष हैं। जाति व्यक्ति का सार है, परन्तु वह व्यक्ति में ही समवेत है। इस प्रकार अरस्तू सामान्य और विशेष दोनों को सापेक्ष मानते हैं। इस प्रकार ग्रीक युग के प्राय: सभी दार्शनिकों ने सामान्य पर विचार किया है।

सामान्य की समस्या पर मध्य युग में भी बहुत विचार किया गया है। रोसेलिन के अनुसार व्यक्ति से पृथक् जाति की सत्ता, विशेष से पृथक् सामान्य की सत्ता नहीं है तथा व्यक्ति में समवेत भी नहीं। अत: सामान्य तो केवल कल्पनामात्र है। हम विभिन्न व्यक्तियों को देखते हैं, उनमें समान विशेषताएँ पाते हैं। इन्हीं समान विशेषताओं को हम सामान्य की संज्ञा दे देते हैं। उदाहरणार्थ, सभी मनुष्यों की कुछ समान विशेषतायें हैं। इसी समान विशेषता को मनुष्य-सामान्य की संज्ञा हम प्रदान करते हैं। संज्ञा तो एक सार्थक ध्वनि मात्र है। हम विभिन्न व्यक्तियों की समान विशेषताओं को देखकर उनके लिए एक सार्थक शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुत: यह सामान्य एक नाम या संज्ञा मात्र है। अत: रोसेलिन के अनुसार सामान्य समान विशेषताओं का एक नाम है। जब हम समान विशेषताएँ पाते हैं तो एक नाम या संज्ञा प्रदान कर देते हैं। वस्तुत: यह कोई पदार्थ नहीं। व्यक्ति ही सत् है, जाति असत् है। जाति तो केवल नाममात्र है जो हमारी बुद्धि पर आश्रित है।

स्कॉट्स एरिजेना के विचार रोसेलिन से भिन्न हैं। प्लेटो तथा प्लोटाइनस के समान एरिजेना सामान्य को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार सामान्य केवल संज्ञा या नाम मात्र नहीं वरन् सत् है। सामान्य ही विशेष का, जाति ही व्यक्ति का कारण है। सामान्य का स्वरूप क्या है तथा इसकी सृष्टि कैसे होती है? प्लेटो का अनुगमन करते हुए स्कॉट्स मानते हैं कि ईश्वर ही सामान्यों का सृष्टा है तथा सामान्य सजातीय वस्तुओं के सार हैं। सामान्यों की उपलब्धि हमें अलग से नहीं होती, अर्थात् ये व्यक्ति में ही समवेत रहते हैं। वस्तुत: उपलब्धि तो हमें व्यक्तिगत ही होती है, परन्तु जाति के बिना इसका कोई अस्तित्व नहीं।

एक्विनस का सामान्य विचार सामान्य-विशिष्ट व्यक्तित्व कहलाता है। एक्विनस का यह मत अरस्तू के समीप है। एक्विनस के अनुसार सामान्य सत् है, परन्तु विशेषों में पृथक् इनका अस्तित्व नहीं। संसार के सभी व्यक्ति जाति से विशिष्ट हैं अथवा विशेष सामान्य से युक्त हैं। ये सामान्य ईश्वर के नित्य विज्ञानों से उत्पन्न होते हैं तथा मानव मस्तिष्क के सजातीय वस्तुओं के सार सामान्य रूप में निवास करते हैं। संसार के सभी जड़ तथा चेतन पदार्थ की उत्पत्ति इन्हीं से होती है। इस प्रकार सामान्य का सम्बन्ध नित्य विज्ञान तथाा अनित्य वस्तु दोनों से है। सामान्य का कारण तो ईश्वर या नित्य विज्ञान है, परन्तु सामान्य ही अनित्य वस्तुओं के कारण है।

4.3.11 एक्विनस का नैतिक दर्शन

एक्वाइनस ने 'मानवीय कर्म' और 'मनुष्य के कर्म' में अन्तर किया है। मानवीय कर्म जानबूझकर संकल्प करने से प्रारम्भ होते हैं। केवल वे ही कर्म 'मानवीय' कहलाते हैं, जिन पर मनुष्य का अधिकार होता है। इन्हीं कर्मों को शुभ या अशुभ की संज्ञा दी जा सकती है। किसी सहज अनायास कर्म को मानवीय कर्म नहीं कहा जा सकता और ऐसा कर्म नैतिक कोटि में आता ही नहीं है, 'नैतिक कर्म' और 'मानवीय कर्म' वास्तव में एक ही है। प्रत्येक मानवीय कर्म का आन्तरिक पक्ष के साथ-साथ एक बाह्य पक्ष भी होता है। एक्विनस आन्तरिक पक्ष को आकार-रूप समझते हैं और बाह्य पक्ष को पुद्गल रूप। उदाहरण के लिए, एक आदमी कुछ चुराने का निश्चय करता है। यहाँ यह निश्चय आन्तरिक कर्म से सम्बधित है, चाहे वह वास्तव में ऐसा कभी नहीं करे। जब एक्विनस नैतिक रूप से 'शुभ' और 'अशुभ' कर्म की बात करता है तो वह मुख्यत: आन्तरिक कर्मों की ओर ही इंगित करता है, हालांकि 'कर्म' शब्द बाह्य और आन्तरिक दोनों के समन्वयात्मक रूप की ओर इंगित करता है।

'मानवीय कर्म' में संकल्प-शक्ति एक ऐसे लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है, जो शुभ के रूप में ग्रहण किया जाता है। एक्विनस की धारणा है कि हम कुछ भी नहीं चाहेंगे, यदि मनुष्य के लिए कोई चरम अथवा परम शुभ नहीं हो, क्योंकि सभी विशेष लक्ष्य अथवा शुभ अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन के रूप में ही अभिष्ट होते हैं। वह यह मानकर चलता है कि मानव-प्रकृति की सृष्टि ईश्वर द्वारा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हुई है, जो उसमें किसी अस्तित्वहीन शुभ अथवा असाध्य शुभ के प्रति अपरिहार्य प्रवृत्ति को सृजित नहीं करेगा। मनुष्य के चरम लक्ष्य के रूप में अन्याय शुभ, यथा इन्द्रिय सुख, शक्ति और वैज्ञानिक या वैज्ञानिक ज्ञान के दावों पर विचार करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि परमानन्द या अन्तर्ज्ञान या भगवान का दर्शन ही चरम शुभ है।

एक्विनस का मत है कि मनुष्य अपनी सहज प्रकृति द्वारा ही समाज का निर्माण करने में संलग्न होता है। सामाजिक जीवन मानव-प्रकृति पर ही आधारित है। परिवार और राज्य दोनों प्राकृतिक समुदाय हैं। सामूहिक जीवन आवश्यक है। समूह व्यक्ति के लिए होता है, समूह के लिए व्यक्ति नहीं। समूह का अर्थ है गाँव, शहर और राज्य। राज्य का काम 'शुभ जीवन' को बढ़ावा देना है, यानि उन स्थितियों को उत्पन्न करना है जिनमें मानव जीवन अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सके। किन्तु राज्य को किसी धर्म-संस्थान का विभाग मानना गलत होगा। उनके अनुसार राज्य भौतिक और सांसारिक मामलों से सम्बन्धित है, जबकि धर्म-संस्थानों का सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से है। उन्होंने ईसाई धार्मिक संस्थान यानि चर्च और राज्य के बीच घनिष्ठ सम्बन्धों की आवश्यकताओं पर बल दिया।

संत टॉमस ने सभी मनुष्यों के लिए दैवी व्यवस्था के रूप में सरकार के किसी विशेष प्रारूप का समर्थन नहीं किया, किन्तु उनका विचार था कि राजतन्त्र एकता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है और वह सरकार का सर्वाधिक प्राकृतिक प्रारूप है। यदि हम आधुनिक पदावली का प्रयोग करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि एक्विनस संवैधानिक राजतन्त्र के पक्षपाती थे। संविधान का रूप कुछ भी हो, राज्य का उद्देश्य तो यही है कि शासक और शासित दोनों सामान्य शुभ की प्राप्ति में लगे हों।

उनका मत है कि कानून मानवीय कार्यों का बुद्धि द्वारा रचित मानदण्ड अथवा नियम है, जो सामान्य शुभ की प्राप्ति के लिए लागू किया जाता है। वे सनातन नियमों की बात करते हैं। सनातन नियम एक प्रकार से उस दैवी प्रज्ञा की योजना है जो सभी वस्तुओं को उनके लक्ष्यों की प्राप्ति में निर्देशित करती है। बौद्धिक प्राणी के रूप में मनुष्य इन सनातन नियमों में भाग ले सकता है। बौद्धिक प्राणी द्वारा इन सनातन नियमों के ग्रहण किये हुए अंश को 'प्राकृतिक कानून' की संज्ञा दी जाती है। 'प्राकृतिक कानून' और 'प्राकृतिक नियम' में भेद है। उदाहरण के लिए, गुरुत्वाकर्षण का नियम 'प्राकृतिक नियम' है, जबकि 'प्राकृतिक कानून' का प्रथम और सामान्य नियम यह है कि 'शुभ करो और अशुभ से बचो।' 'प्राकृतिक कानून' तब तक बुद्धिगम्य नहीं है जब तक कि हमें यह ज्ञान न हो कि यह किसी सनातन दैवी व्यवस्था से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। एक्विनस के लिए आरम्भ बिन्दु यही है कि जगत् किसी दैवी कृपा से शामिल है। बुद्धि और श्रद्धा (विश्वास) साथ-साथ चलते हैं, किन्तु बुद्धि श्रद्धा (विश्वास) की अनुसेवी है क्योंकि केवल यही मनुष्य को परमानन्द तक पहुँचा सकती है।

एक्विनास की नीति-सिद्धान्त अरस्तू के तथा ईसाई विचारों के समन्वय का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् अरस्तू के नीतिविज्ञान का ईसाईकरण हमें एक्विनस के नैतिक दर्शन में मिलता है। एक्विनस ईश्वर के चिन्तन को ही मानव जीवन का सर्वोत्तम नैतिक लक्ष्य मानता है जैसाकि अरस्तू ने स्वीकार किया। उनके अनुसार, ईश्वर का ज्ञान सर्वोत्तम शुभ है जिसे अन्तर्बोध द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परमानन्द सर्वोत्तम शुभ की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रेम परमानन्द का साहचर्य है क्योंकि मनुष्य ईश्वर का चिन्तन ईश्वर को प्रेम किये बिना नहीं कर सकता।

ईश्वर ने प्रकृति देवों तथा मानव-आत्माओं की रचना की। देव विशुद्ध अभौतिक आत्माएँ हैं। प्राकृतिक वस्तुओं का निर्माण पुद्गल से हुआ है, जबकि मनुष्य में विशुद्ध आत्मा तथा पुद्गल दोनों हैं। आत्मा शरीर का प्राणमूलक सिद्धान्त है जिसमें तीन प्रकार की कार्यक्षमताएँ मिलती हैं- गतिशील क्रिया, संवेगात्मक क्रिया और बौद्धिक क्रिया। एक्विनस के अनुसार, आत्मा अमर है जिससे सार्वभौम ज्ञान प्राप्त होता है। जो सार्वभौम है वह अभौतिक है। अतएव आत्मा अभौतिक है और शरीर से पृथक् होने पर भी नष्ट नहीं होती। आत्मा का विनाश नहीं होता क्योंकि प्राण सदैव विद्यमान रहता है। मानव अपने इस सच्चे स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर के स्वरूप की अनुभूति कर सकता है।

ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी के लिये पहले से ही लक्ष्य निर्धारित कर दिया है। वह लक्ष्य ईश्वर तथा नित्यानन्द की अनुभूति है। सब दृष्टि से ईश्वर ही सर्वोत्तम शुभ है। वह मंगलमय है। अरस्तू की भाँति एक्विनस यह मानता है कि आदमी का परम लक्ष्य अथवा परमानन्द अपनी सच्ची आत्मानुभूति करना है। जो बुद्धिमान नहीं हैं वे इन्द्रियमूलक विषयों में ग्रस्त रहते हैं और जो बौद्धिकता से ओत-प्रोत है वे आत्मानुभूति के लिए स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं। बुद्धिमान लोगों में चिन्तन क्रिया प्रधान होती है। चिन्तन सर्वोच्च क्रिया है क्योंकि उसका मूल विषय ईश्वर ही होता है। अत: पूर्णता अथवा परमानन्द ईश्वर-ज्ञान में ही मिल सकता है। ईश्वर-ज्ञान बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है। चूंकि सभी मानव प्राणी बौद्धिक चिन्तन नहीं कर पाते इसलिये उन्हें श्रद्धा, विश्वास या आस्था पर ही निर्भर रहना चाहिए। सर्वोच्च ज्ञान अनुभूति-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान होता है जिसे भावी जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है। एक बार प्राप्त होने पर ऐसा ज्ञान चिरकाल तक बना रहता है। यही ज्ञान नित्यानन्द है जो मानव जीवन का परम लक्ष्य है।

एक्विनस के अनुसार नैतिक कर्म आदमी की स्वतन्त्र इच्छा का परिणाम है। किसी कर्म का शुभाशुभ होना उसके लक्ष्य, कर्ता की भावना तथा परिस्थितियों पर निर्भर करता है। परन्तु इन सब बातों को बुद्धि के अनुकूल होना चाहिए क्योंकि बुद्धि मानव व्यवहार का सिद्धान्त है। अर्थात् नैतिक आचरण वह है जो ईश्वर की बुद्धि के नियमानुसार है। ईश्वर का नियम स्वेच्छाचारी नहीं है। वह सदा शिव तथा मंगलकारी होता है। ईश्वर का नियम शुभ संकल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत: शुभ कर्म वहीं है जिसमें शुभ संकल्प अन्तर्निहित है। एक्विनस यह नहीं मानता कि साधनों का औचित्य साध्य पर ही निर्भर होता है। आत्मा की मूल प्रवृत्तियाँ सदैव ही अशुभ नहीं होतीं। जब वे बुद्धि के नियमों का अतिक्रमण करती हैं तब अशुभ बन जाती हैं।

एक्विनस के नीति-सिद्धान्त में सद्गुणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके अनुसार, कोई भी सद्गुण जन्मजात नहीं होता। सद्गुण आचरण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु ये सब अर्जित सद्गुण केवल अपूर्ण आनन्द देते हैं। नित्यानन्द प्राप्त करने के लिए, ईश्वर-कृपा की आवश्यकता होती है। सदाचरण द्वारा प्राप्त सद्गुण इसलिए अपूर्ण होते हैं क्योंकि उनका अस्तित्व इसी जीवन तक सीमित होता है। ऐसे भी परा-प्राकृतिक सद्गुण है जिन्हें ईश्वर द्वारा मानव प्राणियों में अभिव्यक्त किया जाता है। ये हैं-आस्था, आशा और दान। इनके बिना जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। समस्त सद्गुणों में अनुप्राणित सद्गुण प्रेम है। प्रेम ही पूर्ण सद्गुण का रूप है। उसी के द्वारा ईश्वर प्राप्ति संभव है। प्रेम ही एक ऐसी स्थिति है जो ईश्वर के प्रति समर्पित होकर जीवन को अर्थपूर्ण बनाती है।

सद्गुण चिन्तनशील जीवन की ओर ले जाते हैं। चिन्तनशील जीवन ही सच्चा नैतिक जीवन है। अर्थात् चिन्तनयुक्त, ध्यानावस्था ही सार्थक जीवन है। वही परमानंद की स्थिति है। इस अवस्था में आत्मा इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त हो जाती है और विशुद्ध ध्यानात्मक चिन्तन में लीन हो जाती है। व्यावहारिक जीवन अपूर्ण होता है क्योंकि उसमें सांसारिक प्रवृत्तियाँ बनी रहती है, जबकि चिन्तनशील जीवन पूर्णत: ईश्वरानुराग है। वही मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य है। परमानन्द की प्राप्ति का सीधा एवं सुरक्षित मार्ग सांसारिक वस्तुओं तथा सुखों का पूर्ण परित्याग है। निर्धनता, ब्रह्मचर्य तथा आज्ञाकारिता ऐसे गुण हैं जो पूर्णता की प्राप्ति में सहायक हैं। आदर्श पुरुष वह नहीं जो मात्र बुद्धिमान है बल्कि वह है जो ईश्वर प्रेम से ओत-प्रोत है और अपने को पूर्णत: ईश्वर के प्रति समर्पित कर चुका है। अतएवं पवित्र ईश्वर-प्रेमी पुरुष आदर्श व्यक्ति है।

ऑगस्टाइन की भाँति, एक्विनस ने यह स्वीकार किया कि अशुभ शुभ का अभाव अथवा क्षय है। जब तक मानव प्राणी अपने स्वभाव के अनुकूल कार्य करते हैं उनसे अशुभ नहीं होता और जब वे दोषयुक्त क्रिया करते हैं अथवा उनके शरीर में विकार उत्पन्न हो जाते हैं तब अशुभ कार्य उत्पन्न होते हैं। अशुभ दोषपूर्ण संकल्प के कारण पैदा होता है। जब बुद्धि में निर्देशन की कमी होती है और ईश्वरीय नियम का उल्लंघन किया जाता है तब अशुभ उत्पन्न होता है। केवल ईश्वर-कृपा ही मानव को इस पाप से मुक्त कर सकती है। ईश्वर ने आदमी को स्वातन्त्र्य प्रदान किया और यदि वह परमानन्द की ओर उन्मुख न हो तो यह उसका उत्तरदायित्व है। संक्षेप में, केवल ईश्वर-कृपा से ही अशुभ को दूर किया जा सकता है। ईश्वर यह जानता है कि केवल कुछ लोग ही मुक्ति के अधिकारी है क्योंकि अन्य लोग इस जीवन में पाप करते हुए अशुभ को बढ़ाते हैं। ईश्वर ने इसी कारण दण्ड की व्यवस्था की। जो अशुभ करेगा उसे दण्ड मिलेगा और जो शुभ करेगा वह मुक्ति का अधिकारी होगा।

जानबूझ कर संकल्प और चुनाव से स्वयं अपने लिये किये हुए काम नैतिक होते हैं। इस प्रकार नैतिक कार्य स्वतन्त्र कार्य हैं और स्वतन्त्र मनुष्यों द्वारा किये जाते हैं। किसी भी कार्य का नैतिक गुण अर्थात् अच्छाई या बुराई कार्य की वस्तुगत परिस्थितियों और कर्त्ता के प्रयोजन पर निर्भर है। नैतिकता की सर्वोच्च कसौटी बौद्धिकता है, ईश्वर का विवेक अथवा दैवी नियम है। अच्छा होने के लिये किसी भी कार्य को दैवी नियम के विवेक के अनुरूप होना चाहिये और उसके आदेश का परिणाम होना चाहिये। पुराना टैस्टामेंट हमें पार्थिव कल्याण के विषय में निर्देश देता है, जबकि नया टैस्टामेंट हमें स्वर्गीय शुभ के विषय में निर्देश देता है। अन्तर्चेतना नैतिक सिद्धान्तों की एक शक्ति है। वह शक्ति हमें बतलाती है कि सभी अशुभ का निराकरण किया जाना चाहिये और क्योंकि व्यभिचार अशुभ है इसलिये व्यभिचार से दूर रहना चाहिये। यह अन्तर्चेतना ही निष्कर्ष निकालती है। अरस्तू के अनुसार नैतिक आचरण दो चरम स्थितियों के मध्य का व्यवहार है। मानव जीवन में बुद्धि की प्रधानता है तो भी भाव का स्थान भी मान्य है। संयम में बुद्धि और भाव दोनों मिलते हैं। ईसाई धर्म में प्रेम का पद इतना ऊँचा है कि एक्विनस भाव का तिरस्कार कर ही नहीं सकता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.3.12 सद्‌गुण

किसी कर्म की कीमत जानने के लिए हमें उसके बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों को देखना होता है। इस कर्म का दृष्टि फल क्या है? और यह किस भाव से किया गया है? एक पुरुष चोरी करता है, या रिश्वत लेता है, ताकि प्राप्त धन से मन्दिर बनवा दे, या उसे किसी अन्य भले काम में खर्च करे। एक और मनुष्य अपने पड़ोसी को विष देना चाहता है, परन्तु जो कुछ उसे देता है, वह वास्तव में विष नहीं, अपितु औषधि है, जो उसके पुराने रोग को दूर कर देती है। पहली हालत में भाव अच्छा है, कर्म का फल बुरा है। दूसरी हालत में भाव बुरा है, फल अच्छा है। इन कार्यों पर हमारा नैतिक निर्णय कैसे होना चाहिए? एक्विनस के विचारानुसार किसी काम के अच्छा होने के लिए आवश्यक है कि कर्त्ता का भाव पवित्र हो, और क्रिया का फल भी अच्छा हो। इन दोनों में एक का अभाव भी कार्य को बुरा बना देता है। इस तरह किसी कर्म के अच्छा होने के लिए दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक है- भाव अच्छा हो और फल भी अच्छा हो। यहां हमें जैन दर्शन की भाव एवं द्रव्य हिंसा। अहिंसा के स्वरुप से साम्यता मिलती है। अरस्तू ने तुष्टि या सुख को जीवन का उद्देश्य बताया था। एक्विनस यहीं ठहर नहीं सकता था। उसके लिए ईश्वर का साक्षात् दर्शन अन्तिम लक्ष्य था। वह यह भी विश्वास करता था कि इस तथ्य का ज्ञान दार्शनिक मनन से प्राप्त नहीं हो सकता, यह ईश्वर की कृपा का फल है। यह मान लेने पर कि ईश्वर का दर्शन ही परम आनन्द है, प्रश्न होता है कि इस लक्ष्य तक पहुँचने के उपाय क्या हैं। एक्विनस कहता है कि यहाँ भी बुद्धि काम नहीं देती। इन उपायों का ज्ञान भी सीधा परमात्मा से ही प्राप्त होता है।

सन्त थामस के अनुसार सद्‌गुण आंतरिक नहीं होते बल्कि नैतिक कार्यों को करने से प्राप्त किये जा सकते हैं। किन्तु ये सब अर्जित सद्‌गुण केवल अपूर्ण आनन्द देते हैं। शाश्वत आनन्द प्राप्त करने के लिये हमें भगवत् कृपा की आवश्यकता होती है। कुछ सद्‌गुण अति प्राकृतिक और धार्मिक सद्‌गुण हैं जो कि ईश्वर के द्वारा मनुष्य में उत्पन्न किये जाते हैं ये हैं आस्था, आशा और दान। किन्तु प्रेम ईश्वर के द्वारा मनुष्य को दिया गया सर्वोच्च सद्‌गुण है। प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है जो कि ईश्वर के प्रति समर्पित होकर जीवन को अर्थपूर्ण बनाती है। चिन्तनशील जीवन ही सच्चा नैतिक जीवन है, क्योंकि चिन्तन मनुष्य को ईश्वर की ओर मोड़ता है जबकि व्यावहारिक जीवन मनुष्य को दुनिया की ओर मोड़ता है। व्यावहारिक जीवन वहीं तक अर्थपूर्ण है जहाँ तक कि वह ईश्वर के चिन्तन अर्थात् शरीर की उत्तेजनाओं और दुर्बलताओं पर नियन्त्रण करने में सहायता करता है। जीवन का सर्वोच्च आदर्श कठोरतावादी आदर्श है किन्तु सन्त थामस ने इसे थोड़े से लोगों के लिये ही उपयुक्त माना है। जनसमुदाय के लिये पवित्रता का जीवन ही पर्याप्त है।

4.3.13 राजदर्शन

यूरोप के मध्यकालीन राजनैतिक इतिहास में ऑगस्टाइन के बाद सन्त थामस एक्विनस का नाम उल्लेखनीय है। इसकी प्रशंसा करते हुए विचारक कौस्टर ने लिखा है, ''सन्त थामस एक्वीनास के समान मध्ययुगीन विचारधारा का प्रतिनिधित्व मध्य युग का कोई अन्य विचारक नहीं करता।'' एक्वीनास ने अपने जीवन में लगभग 30 ग्रन्थों की रचना की जिनमें उसके राजनैतिक विचार पता चलते हैं। उसके विचारों पर अस्तूत का व्यापक प्रभाव था। उसने अरस्तू के विचारों का ईसाईयत के सिद्धान्तों के साथ समन्वय किया। अरस्तू के समान वह राज्य को प्राकृतिक मानता था। उसने अरस्तू के समान आनन्द को मानव जीवन का लक्ष्य माना और यह भी कहा कि वह राज्य में ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु अरस्तू ने मोक्ष के विषय में कुछ नहीं कहा, एक्वीनास के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य आनन्द से भी अधिक मोक्ष है। यह मोक्ष चर्च से ही मिल सकता। है। इसलिये चर्च का महत्त्व राज्य से अधिक है किन्तु इन दोनों में कोई संघर्ष नहीं है क्योंकि दोनों ही मानव विकास के लिये आवश्यक हैं। इस प्रकार एक्विनस ने अरस्तू के विचार को फिर से जीवित किया और उसका ईसाई विचारों के साथ समन्वय किया। संक्षेप में एक्विनस के राज्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित है-

राज्य की प्रकृति- यूनानी दार्शनिकों के समान एक्विनस भी मनुष्य को सामाजिक और राजनैतिक प्राणी मानता था। संसार में प्रत्येक वस्तु का लक्ष्य पूर्णता प्राप्त करना है। यह पूर्णता आन्तरिक विकास से प्राप्त हो सकती है। मनुष्य में सांसारिक और आध्यात्मिक दो प्रकार की प्रकृति है। पहली दोषपूर्ण और दूसरी दोषमुक्त है। यह आध्यात्मिक प्रकृति ही दैवी प्रकृति की प्रतिनिधि है। मनुष्य का लक्ष्य इसी का विकास करना है।

राज्य की उत्पत्ति- अरस्तू के समान एक्विनस राज्य को स्वाभाविक संस्था मानता है। इस प्रकार उसकी उत्पत्ति प्रकृति से ही हुई है क्योंकि मनुष्य के पूर्ण विकास के लिये राज्य का होना आवश्यक है। प्रथाओं और व्यवहार की एकता अच्छे राज्य के आधार हैं। यह एकता छोटे राज्यों में ही सम्भव है। राज्य की शक्ति का स्रोत ईवर है। उसी ने राज्य को शासन की शक्ति प्रदान की है किन्तु यह शक्ति जनकल्याण के लिये दी गयी है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राज्य के कार्य– जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि राज्य का प्रमुख कार्य नागरिकों का सर्वांग विकास और पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की स्थापना हैं।

राज्य को आन्तरिक शान्ति स्थापित करनी चाहिये। इसके लिये बाहरी शत्रुओं से रक्षा और राज्य में अपराधियों को दण्ड देने की व्यवस्था आवश्यक है। राज्य को सार्वजनिक मार्गों की देखभाल करनी चाहिये और उन्हें ठीक रखना चाहिये। सिक्कों और मापतौल की इकाइयों की व्यवस्था राज्य ही करेगा। राज्य को दरिद्र नागरिकों के जीवन यापन का प्रबन्ध करना चाहिये। राजा को अपने राज्य में सब व्यक्तियों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करना चाहिये। उसे राज्य में जहाँ कहीं बुराईयाँ हो उनको दूर करने का प्रयास करना चाहिये जिससे नागरिकों के श्रेष्ठ जीवन के मार्ग में कोई बाधा न आवें। राज्य के कार्यों के विषय में एक्विनस के इन विचारों पर यूनानी, रोमन ईसाई धर्म के विचारकों का प्रभाव स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। उसने इन सब विचारों का समन्वय किया।

राज्य का उद्देश्य– एक्विनस के अनुसार राज्य और नागरिकों के उद्देश्य एक से हैं। व्यक्ति का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। राज्य का उद्देश्य ऐसा परिवेश का निर्माण करना है जिससे व्यक्तियों का यह उद्देश्य पूर्ण हो सके। जो राज्य जिस सीमा तक इस उद्देश्य को प्राप्त करता है वह उसी सीमा तक श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

सरकार का वर्गीकरण– अरस्तू के शासन वर्गीकरण के आधार पर एक्विनस ने सरकार के विभिन्न रूपों का वर्गीकरण किया। वह राज्यों को राजतन्त्र, कुलीनतंत्र, बहुतन्त्र, वर्गतन्त्र और गणतन्त्र आदि में विभाजित करता है। अरस्तू के समान ही उसने इन सबकी विशेषताएं बतलायी है। यद्यपि उसने राजतन्त्र और जनतन्त्र में किसी को भी पूर्णतया श्रेष्ठ नहीं माना है परन्तु मध्ययुगीन विचारकों के समान वह जनतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र का समर्थन करता है। उसके अनुसार राज्य की एकता और स्थायित्व राजतन्त्र में ही पाये जा सकते हैं। राजतन्त्र स्वाभाविक है जैसे शरीर में आत्मा का राज्य और विश्व में ईश्वर का राज्य। राजतन्त्र को अन्यायतन्त्र में परिवर्तित होने से रोकने के लिये वह राजा की शक्तियों को सीमित करने की राय देता है। वह राज्यद्रोह को पाप बतलाता है परन्तु अन्यायी राजा के विरोध को राजद्रोह नहीं मानता। उसने निर्वाचित राजतन्त्र का समर्थन किया जिसमें सम्राट को संविधान की रक्षा की शपथ दिलाई जावे और शपथ तोड़ने पर राजा के पद से हटा दिया जाये।

धार्मिक और राजकीय सत्ता का सम्बन्ध– एक्विनस के अनुसार राज्य का लक्ष्य ऐसा वातावरण का निर्माण करना है जिसमें उसके सदस्य मोक्ष प्राप्त कर सके। यह मोक्ष केवल राज्य की सहायता से नहीं प्राप्त हो सकता, इसके लिये चर्च की सहायता आवश्यक है। अस्तु, राज्य को चर्च के सहयोग से और उसके आधीन होकर कार्य करना चाहिये। वास्तव में पोप को ही सर्वोच्च अधिकार है, राजा को इसी से अधिकार प्राप्त होता है, जबकि पोप पर राजा को कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार एक्विनस पोपवादी था यद्यपि उसने पोप को राज्य पर कोई प्रत्यक्ष अधिकार नहीं दिये। उसके अनुसार राजा को और राज्य के प्रत्येक सदस्य को पोप की आज्ञा का पालन करना चाहिये। चर्च के आदर्शों की अवहेलना करने पर पोप राजा को ईसाई धर्म से निकाल सकता था। इस प्रकार वह शासकों पर नियन्त्रण रखता था। संक्षेप में, एक्विनस चर्च और राज्य में परस्पर पूरक सम्बन्ध मानता था और उन दोनों में समन्वय रखना चाहता था।

कानूनों का वर्गीकरण– एक्विनस के अनुसार, ''कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोकहित के लिये किसी ऐसे व्यक्ति ने स्थापित किया हो जो समाज के कल्याण के लिये उत्तरदायी हो।'' इस प्रकार कानून विवेक और जनकल्याण पर आधारित है। एक्वीनास के इन विचारों में स्टोइक्स और अरस्तू के विचारों के अतिरिक्त आगस्टाइन और रोमन कानून विशेषज्ञों के विचारों का प्रभाव दिखलायी पड़ता है। एक्वीनास ने कानूनों को निम्नलिखित चार वर्गों में बांटा है–

(अ) शाश्वत कानून– सेबाइन के शब्दों में, ''वह दैवी बुद्धि की शाश्वत योजना है जिससे समस्त सृष्टि व्यवस्थित होती है। स्वयं में यह कानून मानव की भौतिक प्रवृत्ति से ऊपर है और कुल मिलाकर मानव समझ से परे है यद्यपि इस कारण वह मानव विवेक से बाहर या प्रतिकूल नहीं है।'' शाश्वत कानून दैवी विवेक की देन है। इसी से समस्त सृष्टि के नियम निकलते है। मनुष्य दैवी कानून को पूरी तरह नहीं समझता फिर भी वह उन्हीं से परिचालित होता है।

(ब) प्राकृतिक कानून – प्राकृतिक कानून शाश्वत कानून से निकलते हैं किन्तु ये शाश्वत कानून का अपेक्षा अधिक बुद्धिगम्य हैं। मनुष्य को विज्ञान की सहायता से प्राकृतिक कानूनों का पता चलता है। इन्हीं से उसे अच्छे बुरे की पहचान होती है। ये सभी के लिये समान होते हैं यद्यपि देशकाल के अनुसार इनमें न्यूनाधिक अन्तर भी देखा जा सकता है। प्राकृतिक कानून मानव प्रकृति को व्यापक आधार प्रदान करते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(स) दैवी कानून – इनका ज्ञान विवेक से नहीं बल्कि बोधी साक्षात्कार से होता है। ये धार्मिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं तथा ईश्वर की देन हैं। इनके पालन से मोक्ष प्राप्त होता है। यह आध्यात्मिक जीवन के आधार हैं।

मानवीय कानून– ये कानून, जैसा कि इनके नाम से स्पष्ट है विशेष तौर से मनुष्यों पर लागू होते हैं जबकि उपरोक्त तीनों प्रकार से कानून केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है। मानवीय कानून मानव प्रकृति पर आधारित हैं। इस प्रकार वे भी प्राकृतिक कानून हैं। मानवीय कानून की इस व्याख्या से एक्विनस राज्य में कानून के उद्‌गम और आधार स्पष्ट करता है। प्राकृतिक कानून ही परम्पराओं के रूप में चलते रहते हैं। उन्हें राज्य का समर्थन प्राप्त हो जाने पर उनको मानना आवश्यक हो जाता है और उनका उल्लंघन करने पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। मानवीय कानून मनुष्यों में किसी वर्ग विशेष या व्यक्ति के लिये न होकर सबके हित साधन के लिये होते हैं।

न्याय की धारणा– एक्वीनस के अनुसार, ''न्याय वह निश्चित सनातन संकल्प है जो प्रत्येक व्यक्ति का उसके अधिकार प्रदान करता है।'' न्याय की यह धारणा रोमन कानून विशेषज्ञों के विचार पर आधारित है। वह न्याय को मौलिक अधिकार समझता है। जबकि प्राकृतिक समानता प्राकृतिक कानूनों पर आधारित है, मानवीय समानता मानवीय कानूनों पर आधारित है।

एक्वीनास के विचारों के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उसके दर्शन को ईसाई अरस्तूवाद कहा जा सकता है। उसने कानून को सर्वोच्च मानकर वैधानिक राजतन्त्र की स्थापता की और नागरिकों को उच्च स्थान दिलाया। राज्य का लक्ष्य लोक कल्याण मानकर उसने कानून के शासन की स्थापना की। उसने अपने विचारों में यूनानी, रोमन और मध्ययुगीन विचारों का समन्वय किया। सेबाइन के शब्दों में, ''उसके दर्शन ने कारण का पता लगाने का प्रयास किया जैसा कि वह माना जाता था, उसने ईश्वर, प्रकृति और मनुष्य की एक और बौद्धिक योजना की रचना करने का प्रयास किया जिसके अन्तर्गत समाज और नगरीय सत्ता अपना उचित स्थान पा सकें।''

4.4 लियो टालस्टॉय

4.4.1 जीवन परिचय

उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी मानव जाति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस काल में औद्योगिक क्रांति के उपरान्त जहां एक ओर मानव समाज का जीवन दर्शन एवं मूल्य परिवर्तित होते गये एवं भौतिक प्रधान जीवन शैली को विकास एवं प्रगति के साथ जोड़ा गया वहीं दूसरी ओर इस काल में ऐसे अनेक दिव्य पुरुष हुए हैं, जिन्होंने भौतिक सुख सुविधाओं एवं अर्थ प्रधान चिन्तन की अपेक्षा संयम आधारित जीवन एवं मानव कल्याण के चिन्तन को प्रस्तुत कर शांति आधारित वास्तविक प्रगति एवं कल्याण की प्रतिष्ठा हेतु अभिनव भूमिका का निर्वहन किया। लियो टालस्टॉय का नाम भी ऐसे ही महापुरुषों की श्रृंखला में आता है जिन्होंने राजशाही तन्त्र एवं सामन्तवादी तन्त्र में रहते हुए भी सामान्य मनुष्य के कल्याण हेतु न केवल नवीन एवं मौलिक जीवन दर्शन प्रस्तुत किया अपितु अनेक कार्यक्रमों के द्वारा उपेक्षित वर्ग के उत्थान का कार्य भी सम्पन्न किया।

1828 सितम्बर में मास्को से 200 कि.मी. दूर यास्नाया पोलयाना नाम जगह में पैदा हुए टालस्टॉय अभिजात्य वर्गों से जुड़े हुए थे। टालस्टॉय के जीवन वृत्त को भलीभांति समझने के लिए उनके व्यक्तित्व को विभिन्न वर्गों में बांटकर सहजतया ज्ञात किया जा सकता है। टालस्टॉय जहां एक ओर विश्व के श्रेष्ठ साहित्य की रचना के लिए जाने जाते हैं वहीं दूसरी ओर वे सामान्य सुधारों के लिए चिन्तन आदि के लिए भी प्रसिद्ध हैं किन्तु उनके व्यक्तित्व की उच्चता एवं मौलिकता उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक एवं दार्शनिक समस्याओं के संदर्भ में प्रयुक्त किए गए समाधान से ज्ञात होती है। अहिंसा शास्त्र के संदर्भ में उन्हें उच्च कोटि का अहिंसा शास्त्रीय माना जा सकता है क्योंकि युद्ध, हिंसा, प्राणदण्ड, आर्थिक विषमताएं, शिक्षा का अभाव, सामाजिक कुरीतियों के विरोध में एवं शान्ति प्रेम, अहिंसा तथा भ्रातृत्व के समर्थन में उनके विचारों ने अहिंसा यात्रा को एक नवीन दिशा प्रदान की संभवत: यही कारण है कि आधुनिक युग के महानतम् अहिंसावादी महात्मा गांधी उनके विचारों से सर्वाधिक प्रभावित हुए।

प्रत्येक श्रेष्ठ जीवन फूल की तरह विकसित होता है। टालस्टॉय की सदा यही साध रही कि वे प्रकृति के निकटतम रहें। प्रकृति जैसा उनका स्वभाव, उनका जीवन हो जाय – सरल, प्रसन्नतापूर्ण। काउन्टेस एलेक्ज़ेन्ड्रा टालस्टॉय को 1 मई 1858 को लिखे गये पत्र में उन्होंने अपने आनन्दानुभव को व्यक्त करते हुए लिखा है – ''वसन्त का आगमन हो गया है, सब ओर आश्चर्य ही दृष्टिगोचर होता है। प्रत्येक दिन आश्चर्यपूर्ण है। एक नग्न वृक्ष पर सहसा ही अनेक पत्तियाँ निकल आई हैं। हरी, नीली, पीली अनेक रंगों की चीजें भगवान् जाने कहाँ से इस पृथ्वी में से निकल आई हैं। छोटे–छोटे पक्षी आनन्दोन्मत्त हो एक झाड़ी की ओर खूब शोर मचाते हुए उड़ते फिर रहे हैं – न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाने क्यों? और वे कितने सुन्दर लगते हैं। अभी-अभी इसी क्षण दो बुलबुलें मेरी खिड़की के नीचे केलि कर रही हैं। मैं तीन घंटे तक उनके साथ खेलता रहा। गवाक्ष खुले हुए हैं। रात्रि में उष्णता है। मेंढक और चौकीदार अपने-अपने कार्य में व्यस्त हैं। सभी ओर सौन्दर्य है। मैं विचार करता हूँ वसन्त ऋतु ने थोड़ी देर के लिए मेरे एकाकीपन में प्रवेश कर मुझे बेचैन कर दिया है। मैं चाहता हूँ कि यह बेचैनी तुम्हें भी हो। संभव है इनसे भी अधिक आनन्द के क्षण हो सकते हैं, परन्तु इतने पूर्ण अथवा सामंजस्य लिये हुए कदापि नहीं। जाड़ों में मैं तुतशेव की कविता वसन्त को विस्मरण कर देता हूँ, और वसन्त-आगमन पर उसका प्रत्येक चरण गुनगुनाया करता हूँ। कल मैं अपने खरीदे हुए जंगल में गया। उसे मैं काट रहा हूँ। बर्च वृक्ष विशेष में पत्तियाँ निकल रही हैं, और वृक्षों पर बुलबुलों का वास है। इन्हें कुछ नहीं मालूम कि वे सरकारी थे, अब मेरे हैं, वे कुछ मालूम भी नहीं करना नहीं चाहते। वे काट डाले जायँगे और फिर बढ़ जायँगे, और हमारे बारे में कदापि कुछ भी न जान पावेंगे। समझ में नहीं आता, तुम्हें मैं यह अनुभव कैसे समझाऊँ। सबमें पग-पग पर भगवान् की ही सत्ता विद्यमान है।''

टालस्टॉय का यह प्रकृति-प्रेम असाधारण था। यही प्रकृति-प्रेम आगे चलकर जब वे वृद्ध हो गये थे मानव-प्रेम में परिणत हो गया था। जिस सौन्दर्य, सरलता, स्वच्छन्दता के निकटतम दर्शन उन्होंने प्रकृति के साथ रहकर किए उनका पूर्ण अभाव उनको मानव में खटकता था और वे दु:ख से अभिभूत हो जाते थे। मानव-जीवन क्यों दु:खी है? प्रकृति कितनी सुखी है, सुन्दर है। मनुष्य वैसा क्यों नही? क्या मानव जीवन का अंत मरण है? फिर क्यों जीवित रहा जाय? बहुत दिनों तक जीने से लाभ? महात्मा बुद्ध की तरह वे जीवन की पहेली को सुलझाने में लग गए। उन्होंने समाज में प्रचलित धर्म को देखा, सामाजिक जीवन को देखा, निकटस्थ और दूरस्थ समाज को देखा, उन्हें केवल घृणा और लज्जा ही हुई।

जीवन के प्रारम्भ में ही माता-पिता के स्नेह से वंचित रहने के कारण परिस्थिति ने उन्हें चिन्तनशील बना दिया था। वे अकेले बैठे-बैठे जीवन के विविध दृश्यों को देखते रहते और शंकायें उपस्थित करते रहते। पर शंकाओं की निवृत्ति उन्हें सरल न मालूम पड़ती। पूर्ण सामंजस्ययुक्त जीवन सदैव उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता पर वे उसको वरण न कर पाते। जब उनको स्कूल में भेजा गया वहाँ का वातावरण उन्हें तनिक भी अनुकूल न जँचा। जो भी विषय पढ़ाये जाते थे उनमें से किस में भी उनकी रुचि न थी। अपनी रुचि के विषय पढ़ने की वहाँ आज्ञा न थी। फल यह हुआ कि उनका प्राथमिक स्कूल का अनुभव बहुत ही कटु रहा। विश्वविद्यालय में जब उनका प्रवेश हुआ वहाँ के राजसी जीवन में पहले तो उन्होंने अपने स्वाभावानुसार असाधारणत्या खूब भाग लिया, वहाँ के प्रत्येक कार्य में खूब दिलचस्पी दिखाई। नाचने, गाने, शिकार आदि में अपने को भुला दिया। उन्होंने हर तरह से अपने को बिगड़ने दिया। वे स्वयं भी लिखते हैं, ''कज़न में मेरा जीवन मेरे लिए किसी प्रकार गौरवपूर्ण न था। कई समीक्षक सहमत है कि टालस्टॉय अवश्य ही उससे घृणा करता रहा होगा। इनका विरोध करते हुए टालस्टॉय ने लिखा है, ''मुझे लेशमात्र भी घृणा मालूम न होती थी, प्रत्युत कज़न समाज में भोग-विलास का सुअवसर देख मुझे प्रसन्नता थी। वह बहुत ही सुन्दर समाज था। मैं अपने भाग्य को सराहता हूँ कि मेरी युवावस्था ऐसी परिस्थितियों में बीती जहाँ एक नवयुवक रह सकता था बिना उन समस्याओं में उलझे हुए जो उस अवस्था में उसकी समझ से बाहर होती हैं, और मैं ऐसा जीवन व्यतीत कर सका जो आलस्य और विलासिता से युक्त होने पर भी पापपूर्ण न था।'' विश्वविद्यालय में टालस्टॉय बड़े ठाट-बाट से रहत थे। अपने पद के अनुकूल वस्त्र धारण करते थे। जो बातचीत टालस्टॉय सन् 1846 में 18 वर्ष की अवस्था में करते थे वहीं वे 1886 में भी करते थे और उतने ही आत्मविश्वास के साथ।

टॉलस्टाय के माता-पिता के देवलोकगत होने पर उनके अभिभावक बने उनके चाचा-चाची जो विलासिता के परम भक्त थे। इन्हीं से टॉलस्टाय के जीवन में भी बड़ी अकड़ और गर्व और शान का आगमन हुआ। जो भी बुराइयाँ बड़े आदमियों के लड़कों में हो सकती हैं, सभी टॉलस्टाय में विद्यमान थीं। परन्तु प्रत्येक अवसर पर अनेक बड़ी-बड़ी भूलें होने पर भी टॉलस्टाय ने उन्हें कभी नहीं छोड़ा। जब कभी अवकाश मिल जाता वे समाज का और अपने जीवन का पूर्ण विश्लेषण कर डालते। औचित्य अथवा अनौचित्य पर खूब सोचते और जीवन को सामंजस्यपूर्ण बनाने वाले तथ्यों को खोजते।

कज़न विश्वविद्यालय के आमोद-प्रमोदपूर्ण जीवन में ओतप्रोत टॉलस्टाय एक दिन अमीरों के शत्रु हो सके। इसका एकमात्र कारण उनका बाल्यावस्था से ही विचारशील और एकान्तसेवी होना था। बढ़त-बढ़त अभ्यास के जड़मति होत सुजान। जीवन भर विचार करते-करते टॉलस्टाय ने जीवन से अनेक सार ग्रहण किये और सबसे महत्त्वपूर्ण सार यह ग्रहण किया कि सरल आडम्बरहीन, परिश्रमशील जीवन ही सुखी हो सकता है। सरलता में ही आत्मसुख निहित है।

Jamnalal Bajaj Institute (Deemed University), Ladnun

खूब सोच-समझकर ही टॉलस्टाय ने कृषकों के से वस्त्र पहने और हाथ में कुदाली और फावड़ा ग्रहण किया।। सरलता के ही प्रवाह में बहकर उन्होंने अपने हाथों से जूते गाँठे थे। मानव का जीवन संबल क्या है? कथा में टालस्टॉय की सर्वोच्च आकांक्षाओं के दर्शन करने को मिलते हैं। कथा क्या है, उनकी अन्तरात्मा की खोज का एक सफल प्रयास है। मानव किस प्रकार सुखी हो सकता है, इस पहेली को सुलझाने और समझाने का उनके जीवन भर की मनन-शीलता का वह सुखद परिणाम है।

कॉलेज-जीवन में ही टॉल्स्टाय के हृदय में भावनायें उठा करती थीं कि वे एक महान् पुरुष होंगे, वे संसार के दु:खी प्राणियों को सुख के मार्ग पर ले जाकर उन्हें मुक्ति दिलवायेंगे, एक महान् नेता बनकर पीड़ित मानव समाज को सच्चे सुख का भागी बनायेंगे। बाल्यावस्था में जो उनमें ईसा के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति पैदा की गई थी, वही श्रद्धा तथा भक्ति शने: शनै: एक चेतना में परिणत होने लगी जिसका अनुभव उन्हें ईश्वर की रची हुई प्रत्येक वस्तु में होने लगा। और कभी-कभी उनको ऐसा भासित होने लगता था मानों ईसा और किसी भी पीड़ित पुरुष में कोई अंतर नहीं है। पीड़ित मनुष्य की सेवा ही उन्हें सच्ची ईश्वर-सेवा जान पड़ती थी। भोग-विलास से उनका मन एकदम पूर्ण वैराग्य की ओर खिंच जाता था। इतना ही नहीं, वे अपने को एक परम प्रेमी पुरुष के रूप में देखने को तड़प जाते थे।

इसी उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उन्होंने अरबी और तुर्की का अध्ययन प्रारम्भ किया था परन्तु इनमें विशेष गति न देखकर उन्हें छोड़ दिया। कॉलेज में क़ानून पढ़ना प्रारम्भ किया पर यह भी छोड़ दिया। समस्त विद्यार्थी जीवन इनका केवल एक मज़ाक रहा। परन्तु इनकी छाप अनेक नवयुवकों पर रही जो इनके संसर्ग में आते थे। सभी इनसे प्रेम करते रहे। कॉलेज-जीवन इन्हें मोह नहीं सका। इन्हें उसमें कोई विशेष तत्त्व नहीं दिखाई दिया। एक बात जरूर उन्होंने अनुभव की। वह थी अपनी मानसिक शक्तियों में दुर्बलता। वह अपनी मानसिक शक्तियों को पूर्णता प्राप्त कराना चाहते थे। बहुत सीमा तक वह अपने प्रयत्न में सफल हुए। उसी प्रकार वह शारीरिक शक्ति के भी इच्छुक थे और निरन्तर व्यायाम और परिश्रम से उन्होंने अपने को बलिष्ठ बना लिया था। स्फूर्ति इनमें खूब थी। एक बार कई मील तक घोड़ागाड़ी के आगे-आगे तेज़ दौड़ते रहे केवल यह दिखाने को कि उनमें शारीरिक शक्ति की कमी नहीं। इन दोनों शक्तियों के प्राप्त कर लेने पर इनका मस्तिष्क नैतिक शक्तियों के संकलन की ओर आकृष्ट हुआ। भलाई क्या है? बुराई क्या है? इसी अन्वेषण में उन्होंने बहुत समय लगाया। यदि यों कहा जाय कि उनका समस्त जीवन अपनी नैतिक उन्नति करने के प्रयास में बीता तो झूठ न होगा।

टॉलस्टाय को अपने जीवन में सबसे अधिक खटकने वाली बात जो लगी वह यह थी कि वे जितना भी बुरा पतित, पापी, व्यभिचारी, अपने को समझा करें, समाज उनको सदाचारी और साधु ही समझता था। उन्होंने लिखा था, ''जुआ, झूठ, हत्या, डाका, यह सब कर्म मैंने किये और लोगों ने भी किये, पर संसार में, समाज ने, इनमें कोई बुराई नहीं देखी, प्रत्युत् इन कर्मों में जो जितना निष्णात होता था, उसका उतना ही अधिक आदर और मान था।''

टॉलस्टाय के समय में कृषकों की बड़ी ही दीन दशा थी। अकाल आये दिन पड़ा करते थे और सरकारी आदमी लगान वसूल करते समय लेशमात्र भी मनुष्यता का व्यवहार न करते थे। टॉलस्टाय ने अपनी आँखों से किसानों की दुर्दशा देखी और उन्होंने अपने अदम्य उत्साह से उनके कष्ट निवारण करने की ठान ली। किसानों को विश्वास न होता था कि कोई अमीर आदमी उनकी मदद के लिए अपना समय और धन दे सकता है। अमीरों के प्रति इन दीनों के हृदय में घृणा के अतिरिक्त और कुछ न रह गया था। उनके प्रति अविश्वास की जड़ें जम गई थीं। टॉलस्टाय को अपने सेवाव्रत में असफलता रही। वे किसानों के दिलों में विश्वास न पैदा कर सके और अंत में निराश होकर वे फिर विद्याध्ययन में लग गये। विफल-प्रयास होने पर भी टॉलस्टाय ने साहस नहीं छोड़ा। जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए वे अनवरत परिश्रम करते रहे। जब उनको अपना जीवन शून्य दिखाई पड़ता तो एकदम आमोद-प्रमोद में अपना समय गंवाने की ठान लेते और जी भरकर खूब नाच-गाना, शिकार तथा ताश आदि के लिए अपने को बलि चढ़ा देते। परन्तु यह जीवन भी बहुत दिन न चलता। उनका जीवन स्वप्न फिर इनकी आँखों के सामने नाचने लगता। सुख की खोज में, सामंजस्यपूर्ण जीवन के लिए, उनकी उत्कण्ठा इतनी प्रबल हो उठती कि यह बेचैन हो जाते और त्यागमय जीवन की ओर झुक जाते। काकेशश में जाकर इन्होंने एक झोपड़ी में तेन तक्तेन् भुन्जिथा: के आदर्श को अपने जीवन में आदृत देखना चाहा। परन्तु उनके परिवार वालों ने इनको ऐसा करने से रोका और उन्हें विवश किया कि वे सेना में सम्मिलित हो जाए। 1851 में उन्होंने सेना में प्रवेश किया। सरकासियन लोगों से टॉलस्टाय ने युद्ध किया और मार-काट का पहला अनुभव प्राप्त किया। तुरन्त ही क्रीमिया का युद्ध प्रारम्भ हो गया और टॉलस्टाय ने इसमें पूरा भाग लिया। नरसंहार के दृश्यों ने टॉलस्टाय की आत्मा को कंपा दिया। रूसी सिपाहियों की वीरता ने टॉलस्टाय के हृदय में घर कर लिया। इस युद्ध में जो भी विचार टॉलस्टाय के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे थे उनको इन्होंने लिख डाला। विचारों का तांता बन गया। उनके प्रवाह में वह बह गये। अपने को किसी भी प्रकार रोक न सके। फलस्वरूप उनकी रचनाएं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हृदयग्राही हुई। इनकी प्रतिभा से रूसी पाठक और लेखक प्रभावान्वित हुए। 'सिवास्टोपोल' की कहानियाँ लिखकर टॉलस्टाय ने अपनी ख्याति का सूत्रपात किया जो दिन-प्रतिदिन अधिक होती गई।

'सिवास्टोपोल की कहानियों' के प्रकाशन से टॉलस्टाय की इतनी प्रख्याति हुई कि ज़ार ने इनको लड़ाई से दूर किसी सुरक्षित स्थान पर भेजे जाने का आज्ञापत्र निकाला और साथ ही इन्हें सिवास्टोपोल का पूर्ण विवरण लिखने का काम सौंपा गया। जब यह सेण्ट पीटर्सबर्ग में आये इनका धूमधाम से स्वागत किया गया। अमीरों को खुशी थी कि उन्हीं में से एक ऐसा योग्य व्यक्ति निकला जिसने उन सबकी नाक रख ली। साहित्यिकों ने उन्हें एक अत्यन्त प्रतिभावान लेखक के रूप में देखा। तुर्गनेव ने उनसे मिलकर अपने को धन्य माना। नगर भर ने उनके स्वागत के लिए अपना हृदयासन बिछा दिया। जनता पर भी उनकी कहानियों का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। अपने आनन्द को देखकर टॉलस्टाय को बहुत प्रसन्नता हुई। परन्तु यह अपने लिखने से संतुष्ट न थे। उनको अपनी लेखन शक्ति में एक भारी त्रुटि दिखाई पड़ती थी विचार करने पर मालूम हुआ कि उनका गर्व उनकी उन्नति में सबसे बड़ा बाधक है और औरों को प्रसन्न करने के लिए लिखना मूर्खता है। सत्य को जो का त्यों लिख देना ही सत्य की आत्मा की रक्षा का एकमात्र उपाय है। परन्तु यह जितना सरल दिखाई पड़ता है उतना है नहीं।

नेक्रोसोव, क्रोपोट्किन, पुशकिन आदि सभी प्रमुख लेखकों ने 'सिवास्टोपोल की कहानियों' की सच्चे हृदय से प्रसन्नता की है। नेक्रोसोव ने लिखा है, 'जिस सत्य के तुमने दर्शन कराये हैं, वह तो हमारे देश के लिए नितान्त ही नई चीज है। गोगोल की मृत्यु के बाद से तो उसके दर्शन ही रूसी साहित्य में दुर्लभ हो गये थे।' 50 वर्ष बाद क्रोपोट्किन ने लिखा 'युद्ध और शांति' में जिस सौन्दर्य और सत्य के दर्शन टॉलस्टाय ने कराये हैं उनका सूत्रपात तो सिवास्टोपोल की कहानियों में हो गया था। वास्तव में विश्वभर के साहित्य में यह एक नवीन बात है।

टॉलस्टाय में सत्य के दर्शन करने की अद्भुत शक्ति थी। हैन्स एण्डरर्सन की एक कहानी है, जिसमें एक राजा कोई भी वस्त्र नहीं पहने हुए है और तब भी जनता उसका शाही पोशाक को देख-देखकर आनन्द से विह्वल हो जाती है। केवल एक बालक वहाँ ऐसा है जो स्पष्ट देख रहा है कि राजा कुछ भी नहीं पहने हैं। ठीक उसी बालक की तरह टॉलस्टाय भी सत्य के दर्शन करने की क्षमता से सुसज्जित थे। इसी क्षमता के कारण वह आगे चलकर एक साहित्य महारथी बन सके। टॉलस्टाय की अपने सहयोगियों से उनके दृष्टिकोण में अन्तर था। जहाँ अन्य लेखक जीवन से दूर भागकर अपने को जनता का शिक्षक समझते थे और अपने लेखन कार्य को बहुत भारी श्रेय देते थे। टॉलस्टाय जीवन का अनुभव प्राप्त करना जीवन का प्रमुख अंग समझते थे जिसके बिना लेखक लेखक हो ही नहीं सकता। फिर टॉलस्टाय को उन सबके आचरण से भी घृणा थी। वे सब भी टॉलस्टाय को पागल समझते थे। तुर्गनेव से टॉलस्टाय की जरा भी न पटती थी। परन्तु ट्रूशीनाइन, ग्रिगोरोविच, नेक्रासोव आदि उनके परम मित्र थे। कवि फेट उनका अभिन्न हृदय मित्र था और जीवन भर उसने उनका साथ दिया। झूठ और पाखण्ड और बदचलनी से उन्हें घृणा हो गई और वास्तविक जीवन की खोज के लिए उनका मन चंचल हो उठा।

इधर रूस में टालस्टॉय ने अपनी कहानियों से एक आंदोलन का सूत्रपात किया था उधर जर्मनी में भी नये-नये लेखक पैदा हो गये थे जिन्होंने भोगविलास में डूबे हुए अमीरों की काली करतूतों को जनता के सामने रखा और उनके प्रति घृणा के भावों को प्रादुर्भूत करने में विशेष सहायता पहुँचाई। इन लेखकों में गोदेल्फ़ का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन जर्मन लेखकों का रूस में बहुत आदर हुआ। ज़ार ने भी नए विचारों के फैलाने में कम सहायता नहीं की। दासता की प्रथा का अंत करने के लिए और कृषक वर्ग में अधिक स्वाधीनता का प्रसार करने के लिए सब ओर से एक भीष्म प्रयास प्रारम्भ हुआ। टॉलस्टाय की पोलीकोशका कहानी को पढ़कर पत्थर के भी दिल दहल गए और शताब्दियों की दासता प्रथा को अंत करने के लिए रूस के एक कोने से दूसरे कोने तक एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। टॉलस्टाय के हृदय में उल्लास था, उत्साह था, आंदोलन को उनसे पूरा सहयोग प्राप्त हुआ, जनता की सेवा की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने अन्य देशों की जनता का ज्ञान प्राप्त करने के लिए रूस से बाहर जाने को ठानी। टालस्टॉय भलीभांति समझ गये थे कि जब तक रूसी जनता शिक्षित न होगी, कोई भी सुधार सफल न होगा। 29 वर्ष की आयु में वे जर्मनी को चल दिए। पाँच वर्ष में तीन बार वह रूस से बाहर गये और अन्य देशों की जनता और उनकी सामाजिक स्थिति का सुचारू रूप से ज्ञान प्राप्त किया। जर्मन शिक्षावादी फ्रोबेल से मिलकर उन्होंने अपने को धन्य माना और उनकी शिक्षा प्रणाली से व्यावहारिक लाभ उठाने के लिए उन्होंने अपनी जागीर यास्नाया पोलयाना में एक स्कूल खोला और अपने यहां के समस्त दासों को स्वाधीनता दे दी। यह अंतिम कार्य करके टॉलस्टाय ने अपने दूरदर्शिता और बुद्धिमानी का परिचय दिया। क्योंकि उनके ऐसा करने के पश्चात् रूस में कानून बन गया कि दासों को मुक्त कर दिया जाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पंचायत का कार्य, स्कूल में अध्यापन कार्य और पत्र का संपादन, इन्हीं में बस टालस्टॉय का समय कट जाता था। उनको संतोष इनमें से किसी भी कार्य से न होता था। हृदय में उनको ऐसा लगता था मानो जो कुछ वह कर रहे हैं वह सब झूठ है। यास्नाया पोलयाना में स्कूल में पढ़ाते समय के अनुभवों में से टॉलस्टाय का एक अनुभव उल्लेखनीय है क्योंकि वैसा अनुभव बिरले ही शिक्षक को हुआ करता है। बड़ी ही सत्यता के साथ टॉलस्टाय का कथन है, ''अपनी अन्तरात्मा में मैं भलीभांति समझ गया था कि मैं कुछ भी आवश्यक बात सिखाने के पूर्ण अयोग्य था क्योंकि मुझे स्वयं ही नहीं मालूम था कि आवश्यक है क्या?'' इनका मस्तिष्क इस झूठ के बोझ को न उठा सका और यह रोगी रहने लगे। फिर विचार कर वह बशकीर लोगों के मध्य में डेरा डालने के लिए और उनके देश की खुली हवा सेवन करने और एक पशु का प्राकृतिक जीवन बिताने चल खड़े हुए।

स्वास्थ्य लाभ करके जब वह लौटे तो उन्होंने डाक्टर बेह्र की मझली कन्या से उन्होंने प्रस्ताव किया जो स्वीकृत हुआ। 16 वर्ष तक तक टॉलस्टाय ने विवाहित जीवन का पूर्ण आनन्द लिया। टॉलस्टाय को बालकों से बहुत प्रेम था और वे सदा उन्हें घेरे रहते थे। यास्नाया पोलयाना का जीवन बहुत शांतिपूर्ण था। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि टॉलस्टाय को परम सुख मिल गया था। मानसिक कष्ट उनको अब भी थे और उतने ही तीव्र वैवाहिक जीवन के साथ-साथ साहित्यसृजन का भी काम चल रहा था। जमींदारी की देखभाल और पारिवारिक सुख की रक्षा में भी वह उत्तरदायित्व अनुभव कर रहे थे। परिवार में बच्चों की वृद्धि के साथ धन की भी प्रचुरता हो चली थी। अधिक भूमि भी खरीद ली गई थी। पैदावार खूब बढ़ गई थी। अपने स्कूल के बच्चों को पढ़ाने के लिए उन्होंने एक पोथी भी लिखी जो उनके शिक्षण-कार्य के प्रेम की परिचायिका है।

1869 में 'युद्ध और शांति' और उसके आठ वर्ष पश्चात् 'अन्ना करैनिना' प्रकाशित हुए। जब 'अन्ना करैनिना' पुस्तकाकार निकली, रूस में उसका बड़ा आदर हुआ और अन्य देशों में भी टॉलस्टाय की प्रतिभा से लेखक लाभान्वित हुए।

टॉलस्टाय अब बहुत वृद्ध हो गए थे और अब तक का उनका जीवन निरन्तर मानसिक संघर्ष में बीता था। अपने जीवन के अंतिम दिनों में ही उन्होंने जीवन की वह झाँकी की, जिससे उनको संतोष प्राप्त हुआ और समस्त युद्ध को, हिंसा को, उन्होंने पापाचार बताया, जिससे मोहनदास करमचन्द गाँधी प्रभावित हुए।

बेह्र ने अपने संस्मरणों में टॉलस्टाय के नित्यप्रति के जीवन की और उनके घरेलू जीवन की अनेक बातें लिखी हैं, जिससे पता चल जाता है कि टॉलस्टाय के संसर्ग में आने वाले परिचित-अपरिचित सभी उनसे कितने प्रभावित होते थे। यास्नाया पोलयाना में दैव आनन्द की का वातावरण था और इसके आदिस्रोत थे टॉलस्टाय। दार्शनिक प्रश्नों, बच्चों की शिक्षा और अन्य विषयों पर बातचीत करना और उन पर अपनी सम्मति देना आदि टॉलस्टाय को बहुत प्रिय होता था और वह औरों में भी उन विषयों के प्रति अनुराग पैदा कर देते थे। खेलकूद और सैर-सपाटों में उनको बहुत आनन्द आता था। कहा गया है कि टॉलस्टाय का एक शब्द मात्र ही सुनने वालों को प्रभावित कर देता था। टॉलस्टाय में सच्चाई बेहद थी और वे अपने मन की बात स्पष्ट कर डालते थे।

विवाह के पश्चात् टॉलस्टाय का संपूर्ण जीवन केवल भगवान् की सेवा के निमित्त ही रह गया। और इस जीवन के लिए टॉलस्टाय आजीवन तैयारी करते रहे थे। केवल कृषकों के निश्छल जीवन में उन्होंने जीवन के अर्थ स्पष्ट रूप से पढ़े। इन्होंने कृषक के से कपड़े पहने, उसका सा भोजन किया। और अपना समस्त आचरण कृषक का सा बना लिया। अपने एक निबन्ध में इन्होंने लिखा है, जो उपवास नहीं कर सकता, भलामानुस नहीं बन सकता। इस कथन की सच्चाई को गाँधीजी ने व्यवहाररूप में परखा और अपने जीवन में उसकी सफलता दिखाई। इन्होंने आखेट करना, मद्य पीना, तम्बाकू पीना - सब बन्द कर दिया। रूबल देखकर इनको कष्ट होता था। रेल की यात्रा से इन्हें भय होता था। इनसे जितना भी त्याग बन पड़ा, उसका पालन किया और अपने जीवन को एकदम सरल बना लिया। रूस में अकाल पड़ने पर इन्होंने तन, मन, धन, से पीड़ितों का कष्ट निवारण किया। अधिकारीगण उनके साम्यवादी विचारों से घबरा गये थे और उनको रोकना भी चाहते थे पर जार उनसे इतना प्रभावित था कि उन्हें लेशमात्र भी कष्ट न होने देता था। सन् 1891 में इन्होंने दूखोबोर्स की सहायतार्थ आंदोलन प्रारम्भ किया और उनके प्रति किये गये अत्याचारों को बंद कराया। इसी जाति की सहायतार्थ उन्होंने Resurrection नामक उपन्यास लिखा और प्रचलित ईसाई धर्म के विरोध में बहुत कुछ कह डाला। इस कारण उनको ईसाई धर्म से निकाल दिया गया।

वृद्ध होने पर इनके परिवार, विशेषकर इनकी धर्मपत्नी ने इन्हें बहुत दु:ख दिया। जिस बात को इनका दिल गवाही न देता था, उसे यह कदापि न करते थे। धन से इन्हें घृणा थी। इनकी स्त्री को धन से प्रगाढ़ प्रेम। इसी से दोनों में अनबन रहती थी। एक दिन निमोनिया की बीमारी में ग्रस्त होने पर भी यह घर छोड़कर चल दिये इनकी आयु 1910 में अपने स्थान से बहुत दूर एक छोटे से निर्जन रेलवे स्टेशन पर हुई और फिर जीवित घर लौटकर नहीं आये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4.2 अहिंसा शांति चिन्तन

जैसा कि उपर्युक्त वर्णन किया गया है कि लियो टॉलस्टाय का प्रारम्भिक जीवन ऐश्वर्य एवं विलासिता में व्यतीत हुआ। क्योंकि वे अभिजात्य वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने रूस की नियमित सेवाएं भी दी। सेना में सेवाकाल काकेशिया प्रांत में उन्होंने युद्ध में भी भाग लिया किन्तु वहां वे कज़्ज़ाक जाति के सम्पर्क में आए जिसका अनुभव उन्होंने युवावस्था में प्रथम पुस्तक कज़्ज़ाक में लिखा। जिसमें टॉलस्टाय की संवेदनशीलता एवं प्रेम उदात्त चिन्तन का दर्शन होता है। काकेशिया के अनुभव ने भी टॉलस्टाय के जीवन में आमूलचूल परिवर्तन किया तथा कालान्तर में उन्होंने हिंसा एवं विलासिता के जीवन का परित्याग कर शरीर श्रम पर आधारित सादा जीवन व्यतीत करने में बिताए। सैनिक सेवा से त्यागपत्र उपरान्त वे अपनी साहित्यिक एवं अन्य प्रवृत्तियों के द्वारा अहिंसा व शांति के प्रचार प्रसार में लग गए। उनके चिन्तन का आधार ईसा एवं ईसाई धर्म की शिक्षाएं भी रही तथा ईसाई जगत् में ईसा के प्रेम एवं करुणा की शिक्षा के उल्लंघन के विरोध में 'वास्तवित ईसाई धर्म' नाम की पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने प्रेम, न्याय, बन्धुत्व के साथ संयम और शरीर श्रम को भी आवश्यक माना। ऐसा माना जाता है कि टॉलस्टाय जैसे सरलनिष्ठ और अहिंसानिष्ठ कम ही विचारक हुए हैं। केवल साहित्य सर्जन के द्वारा ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन शैली ही अहिंसा के प्रति समर्पित रही। महात्मा गाँधी ने कहा कि टॉलस्टाय के समान अहिंसा दर्शन का गहरा ज्ञान रखने वाला और ईमानदारी से उसका पालन करने वाला शायद ही कहीं मिलेगा।

टॉलस्टाय की अहिंसा सतही अहिंसा नहीं है अपितु उनकी अहिंसा में गहराई मिलती है। सामान्यतया अहिंसा का अर्थ प्राणवध निषेध से ही लिया जाता है किन्तु टॉलस्टाय की दृष्टि में अहिंसा का अर्थ है अपार करुणा अर्थात् अपने मन में दूसरे के प्रति किसी भी प्रकार के दुर्भाव का अभाव तथा समभाव का निर्वाह। उनके अर्थों में अहिंसा साहस, विचारों की दृढ़ता और दृढ़ निर्णय का नाम है? टॉलस्टॉय की व्यक्तिगत अहिंसा से सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक या व्वस्थागत अहिंसा है। उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक हिंसा के परिदृश्य पर तीखी आलोचना की एवं वे तत्कालीन राजनीतिक प्रक्रियाओं से असंतुष्ट थे क्योंकि प्रक्रियाओं में निर्णय अंत में होता है तथा हिंसा का समावेश भी बराबर बना रहता है। टॉलस्टाय के अनुसार विशुद्ध राष्ट्र भक्ति का कोई विशेष अर्थ नहीं है। यदि कोई अपने देश के प्रति प्रेम रखता है तो इसका सर्वोत्तम साधन है मानव से प्रेम करना। अनिवार्य सेना सेवा को भी मानव को मानव से जोड़ने का विरोधी मानते थे तथा युद्ध समाप्ति के लिए सेना सेवा के बहिष्कार का आह्वान करते थे।

टालस्टॉय के अहिंसा दर्शन का प्रभाव गाँधी पर विशेष रूप से पड़ा उनकी पुस्तक 'द किंगड़म ऑफ गॉड इज विदिन द यू' ईश्वर का वास आपके हृदय में का गाँधी पर गहरा प्रभाव पड़ा किन्तु टॉलस्टाय की कुछ अन्य अभिव्यक्तियां भी हैं जिन्होंने भी गाँधी के विचारों को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई इसमें टॉलस्टाय का धर्म सम्बन्धी चिन्तन महत्त्वपूर्ण है। टॉलस्टाय की ईसाई धर्म के अनुरूप वास्तविक जीवन जीने वाले के साथ हिंसक व्यवस्था की स्थिति क्षीण हो जाती है कि उसकी सत्ता को छिन्न-भिन्न करने के किसी भी प्रकार की शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती। एक सच्चा ईसाई न तो किसी पर आक्रमण करता है और न वह हिंसा का व्यवहार करता है। इसके विपरीत वह बिना किसी प्रतिरोध के स्वयं के ऊपर दु:खों का वरण करता है।

टॉलस्टाय ने ईसाई धर्म की शिक्षा को नए समाज के निर्माण हेतु आशा की किरण से देखा। टॉलस्टाय की अहिंसा को देखने से ऐसा लगता है कि उनके संस्कार आध्यात्मिकता से कूट-कूट कर भरे हैं। किन्तु यह केवल रूढ़ आध्यात्मिकता नहीं। टालस्टॉय ने न केवल युद्ध की निन्दा की अपितु जीवन के हर क्षेत्र में होने वाली हिंसा की भी भर्त्सना की। उनकी दृष्टि में विश्व की समस्त सरकारें हिंसा व पाशविक शक्ति पर आधारित है। यदि विश्व व्यवस्था को अहिसक व्यवस्था बनाना चाहते हैं तो उसका एक मात्र मार्ग प्रेम और हृदय परिवर्तन ही है। कुछ ईसाई धर्मावलम्बी यह विश्वास करते हैं कि यह सृष्टि अपूर्ण है एवं पापों से भरी हुई है किन्तु इसके विपरीत टॉलस्टाय एक कट्टर नैतिकतावादी विचारक रहे हैं एवं इसतरह के विचारों का उन्होंने निषेध किया है तथा मनुष्य के शुभत्व को सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानते थे।

इतिहास साक्षी है कि टॉलस्टाय जैसा सत्यनिष्ठ और अहिंसानिष्ठ बहुत ही कम विचारक हुए हैं। टॉलस्टाय ने अहिंसा के साहित्य का केवल निर्माण ही नहीं किया बल्कि उनका अपना व्यक्तिगत जीवन भी नितान्त अहिंसामय रहा। महात्मा गाँधी ने कहा है कि टॉलस्टाय अपने युग के अहिंसा के बहुत बड़े प्रवक्ता थे। टॉलस्टाय ने जितनी पुस्तकें प्रभावशाली ढंग से अहिंसा पर लिखी है शायद अन्य किसी ने नहीं लिखी हैं। सामान्यत: कुछ लोग अहिंसा का अर्थ कीट-मकौडों और पशु-पक्षियों की हत्या नहीं करने से लेते हैं। परन्तु टॉलस्टाय की दृष्टि में यह अहिंसा नहीं है। टॉलस्टाय की दृष्टि में अहिंसा का अर्थ है अपार करुणा अर्थात् अपने मन से दूसरे के प्रति सभी प्रकार के दुर्भावनाओं को निकाल देना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

टॉलस्टाय की अहिंसा व्यक्तिगत अहिंसा से अधिक सामाजिक, राजनीतिक अहिंसा है। वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस शक्ति के निषेध की कोई व्यवस्था नहीं है। टॉलस्टाय की दृष्टि में राष्ट्र भक्ति भी कोई उदात्त आदर्श नहीं है। यदि कोई अपने देश के प्रति प्रेम रखता है तो उसका सर्वोत्तम साधन है मानव का मानव से प्रेम करना और यदि कोई यह चाहता है कि संसार से युद्ध समाप्त हो जाय तो सभी प्रकार के युद्ध का बहिष्कार करना चाहिए। हो सकता है इसके लिए उन्हें जेल क्यों न जाना पड़े। इस प्रकार टॉलस्टाय ने अहिंसा के सिद्धान्त का विकास स्वतंत्र रूप से किया।

टॉलस्टाय की अहिंसा का वास्तविक स्रोत जीसस् की अहिंसा है। एक सच्चा ईसाई न तो किसी पर आक्रमण करता है और न वह हिंसा का व्यवहार करता है। इसके विपरीत वह बिना किसी प्रतिरोध का स्वयं के ऊपर दु:खों का वरण करता है। और अशुभ के प्रति विरोध की उसकी दृष्टि न केवल उन्हें स्वतंत्र करती है बल्कि बड़े पैमाने पर विश्व के दमित लोगों की स्वतंत्रता में सहायक बनती है।

ईसा मसीह की शिक्षा उनकी दृष्टि में विशुद्ध अहिंसा की शिक्षा थी। यद्यपि टॉलस्टाय की अहिंसा को देखने से ऐसा लगता है कि उनके संस्कार बिलकुल ऐशियाई या भारतीय संस्कार के थे, जिसमें आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। यह भी बड़े ही विचारणीय बात है कि एक ही सोवियत संघ की भूमि पर मार्क्सवादियों ने अपने राजनैतिक लक्ष्य की पूर्ति के लिए हिंसक शक्तियों के संगठन की वकालत की तो वहीं टॉलस्टाय ने उनसे भिन्न पाश्चात्य् जगत् में अहिंसा की धारा को प्रवाहित किया।

जिस समय टॉलस्टाय के जीवन की सन्ध्या आ रही थी गाँधी के सामाजिक जीवन का उदय हो रहा था। और गाँधी को पत्रों के द्वारा टॉलस्टाय से काफी प्रेरणा मिलती रही है। विशेषकर अहिंसक प्रतिरोध यानि सत्याग्रह के सिद्धान्त एवं प्रयोग के संदर्भ में उन्हें टॉलस्टाय से काफी प्रेरणा मिली है। टॉलस्टाय ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में गाँधी को लिखा है, ''जितना ही मैं मृत्यु के समीप पहुँच रहा हूँ उतना ही मुझे गहराई से विश्वास होने लगा है, जिसे मैं दूसरों तक पहुँचाना चाहता हूँ जो विचार अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और वह विचार यह है कि अहिंसक प्रतिरोध वास्तव में शुद्ध रूप से प्रेम का अनुशासन है, प्रेम ही एक ऐसा मूल्य है जो सभी आत्माओं को एक सूत्र में बाँधता है। प्रेम ही वैसी प्रेरणा है जो सदैव उत्तम कार्यों के लिए लोगों को सुअवसर प्रदान करता है। प्रेम मानव जीवन का सर्वोच्च और अद्वितीय नियम है। प्रेम का नियम बालकों की आत्मा में विशेष रूप से अभिव्यक्त होता है और वयस्कों के हृदय में भी तभी इसकी अनुभूति होती है जब वह संसार के मिथ्या सिद्धान्तों से अपने को अलग रखता है। यद्यपि प्रेम के सिद्धान्त का समर्थन भारतीय, चीनी, हिब्रू, यूनानी, रोमन इत्यादि सभी सभ्यताओं में देखने को मिलता है परन्तु टॉलस्टाय के अनुसार उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति ईसा मसीह के उद्देश्यों में है। जहाँ प्रेम के नियम में ही सारे नियम और पैगम्बर सभी समावहित हैं। ईसा मसीह ने स्पष्ट रूप से हमें सावधान कर दिया है कि कहीं प्रेम के नाम पर विकार न हों जो लोग सांसारिक स्वार्थों में जीते हैं, वे प्रेम के सिद्धान्तों को विकृत कर देते हैं। विशेष करके जो लोग अपनी हितों की सुरक्षा के लिए हिंसा का सहारा लेते हैं वैसे लोगों के द्वारा प्रेम के सिद्धान्त का खण्डन होता है। ईसा मसीह ने यह बतलाया कि हिंसा का व्यवहार प्रेम का विरोधी व्यवहार है, और प्रेम ही जीवन का मौलिक सिद्धान्त है। ईसा इस बात से अवगत थे कि जब कभी हम थोड़ी मात्रा में भी हिंसा की स्वीकृति देते हैं उससे प्रेम का सिद्धान्त गौण हो जाता है। और संसार से यह नियम समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार टॉलस्टाय ने थोड़ी सी भी मात्रा में जीवन के व्यवहारों में हिंसा की स्वीकृति नहीं दी है। टॉलस्टाय ने रूस में धर्म और राजनीति के बीच संघर्ष को मिटाने के लिए छेड़ा अहिंसक आंदोलन था। उसी समय ट्रांसवाल में गाँधीजी के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन चल रहा था। टॉलस्टाय ने गाँधी के नेतृत्व में कार्य करने वाले सत्याग्रही को आशीर्वाद दिये।

टॉलस्टाय की कृतियों और टॉलस्टाय के जीवन में आकाश-पाताल का अंतर है। जिस विवेक, विचार-शीलता, गंभीरता का परिचय लेखक टॉलस्टाय में पाठक को मिलता है जिनके द्वारा उनकी आत्मा बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती है, वही जीवन-व्यापार में संलग्न टॉलस्टाय में कहीं ढूंढे नहीं मिलती। टॉलस्टाय जीवन पर्यन्त भले बनने की कामना करते रहे परन्तु भले न बन सके। उन्होंने युद्ध में भाग लिया, खूब शराब पी, खूब व्यभिचार किया, खूब क्रोध किया, परन्तु लेखों में, कहानियों में सदैव प्रायश्चित्त रूप से अपने आचरण को बुरा कहा और उसके विरूद्ध आवाज़ उठाई।

टॉलस्टाय में एक देव की शक्ति और स्फूर्ति थी। वे जिस काम को करते उसमें जुट जाते। उनका मस्तिष्क उनके हृदय से अधिक बलवान् था। इसका प्रमाण उनकी समस्त कृतियां हैं। उनके बचपन के स्केचों में अथवा 'कज़्ज़ाक' जीवन के चित्रण में, सबमें एक अद्भुत, विलक्षण, गुणग्राहकता और अनेक भाँति के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों और उनकी परिस्थितियों का विश्लेषण मुग्ध कर देता है। सर्वांङ्गीण जीवन से उनको कितनी दिलचस्पी थी, उसको वह कितना महत्त्वपूर्ण समझते थे, यह उनकी प्रत्येक कृति में प्रत्येक स्थल पर स्पष्ट होती है। उनकी कहानियाँ मानव जीवन की भाँति एकदम हृदय पर चोट करने वाली और सीधी सच्ची है। और जो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बात उनकी कहानियों में है वहीं उनके उपन्यासों पर भी घटित होती है। जीवन से लेकर टॉलस्टाय ने जो कुछ भी लिखा है यही उनके व्यक्तित्व को अधिक निखारने में सफल हुआ है। उनके पूर्व रूस में जो भी लेखक हो गए हैं, पुश्किन से लेकर तुर्ग़नेव तक, उन सबके कार्य में टॉलस्टाय ने न केवल हाथ ही बँटाया है परन्तु उसको पूर्णता के शिखर तक पहुँचाने में वे ही समस्त श्रेय के अधिकारी हैं।

टॉलस्टाय में तीन गुण हैं जिनके लिए वे अन्य रूसी लेखकों की अपेक्षा विश्व भर में मान्य रहे हैं – अत्यधिक भावुकता, सत्याङ्कन क्षमता और गंभीर विचारशीलता। उनकी दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण थी और जीवन के प्रति उनमें बेहद प्रेम था। वे सदैव जीवन भर भलाई और बुराई के विश्लेषण में लगे रहे – भलाई के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करते रहे और बुराई का डटकर सामना। जीवन में उन्होंने संघर्ष बहुत पाया और उनका ध्येय यही रहा कि जीवन में सामञ्जस्य किया जाय। अनेक कहानियों जो टॉलस्टाय ने लिखी उनमें वे बारम्बार इसी उधेड़बुन में रहे हैं कि समाज की कृत्रिम जटिलताओं से किसी भाँति पिंड छूटे और जीवन व्यवहार सरल हो जाय। ऐसा करने में उन्होंने किसी भी सफलता अथवा असफलता की ओर ले जाने वाली बात को नहीं छिपाया। जीवन का नग्नरूप एकदम स्पष्ट करके रख दिया है।

टॉलस्टाय का जीवन ईसा का जीवन था। उनका उस मानव का जीवन था जो सत्य के लिए यातनायें तक सह लेते हैं परन्तु कष्ट देनेवालों के प्रति भावना रखते हैं – 'ईश्वर यह अज्ञानी हैं, इन्हें क्षमा कर।' इसी भावना से प्रेरित होकर टॉलस्टाय ने अपने को पहचाना, और स्वयं को पहचान लेने के पश्चात् उन्हें और कुछ जानना शेष न रह गया। अपने में उन्हें जितनी बुराइयाँ मिली, उनका उन्होंने त्याग किया और फिर उन्हीं बुराइयों के समाज द्वारा तिरस्कार और बहिष्कार में उन्होंने अपने को बलि चढ़ा दिया। पूर्ण विचार के पश्चात् वह पूर्ण वेग के साथ कर्मक्षेत्र में उतर पड़ते थे। इसीलिए वे महात्मा कहलाने के अधिकारी हुए।

4.5 सारांश

निष्कर्षत: टॉलस्टाय के अहिंसा दर्शन के संदर्भ में यह समझा जा सकता है कि टॉलस्टाय का संपूर्ण जीवन सत्य, प्रेम, करुणा, सेवा एवं अहिंसा से निर्देशित होता रहा है। जीवन से सम्बन्धित हर पक्ष पर उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए। राजनीति, अर्थनीति, शिक्षा सुधार, समाज सुधार, युद्ध के विरोध एवं शांति के समर्थन में उनका जीवन दर्शन अहिंसा शास्त्र को विकसित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाता है। वास्तव में टॉलस्टाय मानवतावादी और अहिंसावादी दिव्य पुरुष थे। उनकी अहिंसा का मूल आधार ईसा मसीह के उपदेश हैं जिसमें शत्रुओं को भी प्रेम करने की शिक्षा दी गई है। उनकी अहिंसा मात्र प्रवचनात्मक नहीं है अपितु सक्रिय अहिंसा है जिसकी अभिव्यक्ति राज्य, सत्ता एवं शासन के गलत कार्यों के विरोध में हुई। टॉलस्टाय की अहिंसा संरचनात्मक अहिंसा थी यह कारण था कि उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अहिंसा दर्शन के विकास तथा अहिंसक जीवन शैली के आधार पर जीवन निर्वहन किया। टॉलस्टाय के जीवन को समग्र दृष्टि से देखते हुए यह माना जा सकता है कि अहिंसा उनके लिए कोई नीति नहीं थी अपितु उनके लिए धार्मिकतापूर्ण आचरण का विषय था।

4.6 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. सन्त ऑगस्टाइन का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 354 ई. (ब) 370 ई. (स) 395 ई.
2. 'ईश्वरीय नगर नामक' ग्रन्थ कितने खण्डों में विभाजित हैं?
   (अ) 22 (ब) 27 (स) 28
3. थामस एक्वीसन का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 1215 ई. (ब) 1235 ई. (स) 1255 ई.
4. टालस्टॉय की मृत्यु कब हुई थी?
   (अ) 1899 ई. (ब) 1910 ई. (स) 1917 ई.
5. 'युद्ध और शान्ति' कब प्रकाशित हुई थी?
   (अ) 1869 ई. (ब) 1910 ई. (स) 1917 ई.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. आगस्टाइन का संक्षिप्त जीवन परिचय लिखिए।
2. ईश्वरीय एवं शैतानी नगर पर लघु निबंध लिखिए।
3. आगस्टाइन के नीति दर्शन पर प्रकाश डालें।
4. सन्त थॉमस एक्वीनस के अनुसार सदवस्तु की धारणा क्या है?
5. एक्वीनस का नैतिक दर्शन क्या है?
6. लेव टालस्टॉय के अहिंसा चिन्तन पर एक लघु निबन्ध लिखिए।

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. सन्त ऑगस्टाइन के दार्शनिक विचार एवं अशुभ समस्या पर प्रकाश डालें।
2. सन्त थॉमस एक्वीनस का जीवन परिचय देते हुए नैतिक दर्शन एवं सद्गुण सम्बन्धी चिन्तन को विस्तार से लिखें।
3. लेव टॉलस्टाय का विस्तृत परिचय देते हुए अहिंसा शान्ति चिन्तन को उनके योगदान पर प्रकाश डालें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई-5 : प्रमुख विचारक (द्वितीय)

कार्ल मार्क्स, हेनरी डेविड थोरो एवं मार्टिन लूथर किंग (जू)

संरचना

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 कार्ल मार्क्स

- 5.2.1 परिचय
- 5.2.2 जीवन वृत्त : आदर्श एवं विचारधारा
- 5.2.3 हीगेल : मार्क्स के मार्गदर्शनक
- 5.2.4 जीवन प्रवेश
- 5.2.5 कार्ल मार्क्स और यूरोप की राजनैतिक अवस्था
- 5.2.6 मार्क्स का समकालीन समाज
- 5.2.7 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
- 5.2.8 इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त
- 5.2.9 वर्ग संघर्ष की अवधारणा
- 5.2.10 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त
- 5.2.11 मार्क्स के पूंजीवाद पर विचार
- 5.2.12 राष्ट्र पर मार्क्स के विचार
- 5.2.13 धर्म पर मार्क्स के विचार
- 5.2.14 मार्क्स की कार्य पद्धति तथा कार्यक्रम
- 5.2.15 मार्क्स का महत्व, देन एवं औचित्य
- 5.2.16 मार्क्स के नीतिपरक सिद्धान्त
- 5.2.17 मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की आलोचना
- 5.2.18 कार्ल मार्क्स एवं सर्वोदय

5.3 हेनरी डेविड थोरो

- 5.3.1 परिचय
- 5.3.2 व्यक्तित्व
- 5.3.3 प्रकृति प्रेम
- 5.3.4 व्यक्तित्व जीवन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.3.5 थोरो लेखक के रूप में
5.3.6 थोरो कालीन समाज
5.3.7 थोरो पर प्रभाव
5.3.8 थोरो के विविध रूप
5.3.9 आर्थिक सुधार सम्बन्धी चिन्तन
5.3.10 थोरो की विचारधारा – अहिंसक अराजकतावादी
5.3.11 सविनय अवज्ञा
5.4 डॉ. मार्टिन लूथर किंग (जू)
5.4.1 परिचय
5.4.2 अहिंसा एवं शान्ति दर्शन
5.4.3 अहिंसक प्रतिकार : दर्शन
5.4.4 अहिंसक प्रतिकार : व्यवहार
5.5 सारांश
5.6 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

विश्व विभूतियों में कार्ल मार्क्स, हेनरी डेविड थोरो एवं मार्टिन लूथर किंग का नाम इतिहास के स्वर्णिम पन्नों में अंकित है।

5.1 उद्देश्य

गैर भारतीय प्रमुख विचारकों की इस श्रृंखला के अन्तिम इकाई में जिन महान् चिन्तकों का अध्ययन करेंगे, उनमें कार्ल मार्क्स, हेनरी डेविड, थोरो और मार्टिन लूथर किंग (जू) है। विश्व की चिन्तन धाराओं को इन विचारकों ने अपने मौलिक विचारों से किसी न किसी रूप में प्रभावित किया। इस पाठ के अन्तर्गत निम्न बिन्दुओं पर विचार किया जायेगा।

5.2 कार्ल मार्क्स

5.2.1 परिचय

कार्ल मार्क्स का जन्म 8 मई 1818 को जर्मनी के ट्रीवीज नगर में एक यहूदी परिवार में हुआ था। उसके पिता हरशेल मार्क्स पेशे से वकील थे और उन्होंने 1824 में ईसाई धर्म की एक शाखा प्रोटेस्टैण्ट को अपना लिया था। कार्ल मार्क्स की माँ का नाम हैनरीटा प्रेसबर्ग था। बचपन से ही मार्क्स ने अध्ययन में विशेष रुचि एवं प्रतिभा का परिचय दिया। 1835 में उसे बॉन तथा 1836 में बर्लिन विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा-प्राप्ति हेतु भेजा गया। मार्क्स ने ट्रीवीज के एक उच्च कुल की सुन्दर युवती जेनी वॉन वेस्टफेलन से प्रेम-विवाह किया। 1841 में मार्क्स ने जेना विश्वविद्यालय से डेमोक्रीटस तथा ऐपीक्यूरस के प्राकृतिक दर्शन में अंतर विषय पर डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की। उसकी प्रबल आकांक्षा थी बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक पद पर कार्य करने की, किन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण यह संभव नहीं हुआ, और तब उसने पत्रकारिता का सक्रिय जीवन अपनाया, जो लगातार कष्टमय होने के साथ ही विवादास्पद भी रहा। वह पूर्णत: निररीश्वरवादी था और समाज का पूर्ण कायाकल्प चाहता था, किन्तु परिस्थितियाँ उसके इतनी विपरीत थीं कि उसे जर्मनी से निष्कासित होना पड़ा।

फ्रांस में प्रवास के दौरान उसका परिचय फ्रीडरिक एंजेल्स से हुआ, जो एक बड़े उद्योगपति का पुत्र होते हुए भी श्रमिकों के प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखता था। शीघ्र ही दोनों का परिचय हार्दिक एवं बौद्धिक सम्बन्धों में परिवर्तित हो गया और दोनों में जीवन-भर गहरी मित्रता बनी रही। अभावों की जिन्दगी वाले मार्क्स की बौद्धिक प्रतिभा को एंजेल्स की आर्थिक मदद उचित अवसरों पर उपलब्ध होती रही। यह ऐसा काल था जब मार्क्स का यह निश्चय लगातार दृढ़ होता गया कि दर्शन का मूल उद्देश्य विश्व की व्याख्या करना नहीं है, अपितु

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उपलब्ध आदर्शों के अनुसार इसको बदलना है। उसने 1848 की फ्रांसीसी जन-क्रांति में सक्रिय भाग लिया, किन्तु क्रांति असफल सिद्ध हुयी। इससे मार्क्स को यथार्थवादी अनुभव प्राप्त हुए और उसके चिंतन में परिपक्वता भी आयी, किन्तु उसे फ्रांस से भागना पड़ा और अब उसने इंग्लैण्ड में शरण ली, जिसकी उदारवादी राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मार्क्स ने अधिक सुविधाजनक ढंग से अपने चिंतन का गहन अध्ययन क्रम को चालू रखा और उसने अपने जीवन की सर्वोत्तम निधि 'दास कैपीटल' की रचना की। 14 मार्च, 1883 को मार्क्स का निधन हुआ और उसे हाईगेट के कब्रिस्तान में दफना दिया गया।

कार्ल मार्क्स की प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं -

1. पूँजी (Das Capital) जिसका प्रथम खण्ड 1867 में तथा शेष दो खण्ड उसकी मृत्यु के बाद क्रमशः 1885 व 1894 में प्रकाशित हुये।
2. हीगल के अधिकार सम्बन्धी दर्शन की आलोचना का परिचय (An introduction to the Criticism of Hegels Philosophy)
3. पवित्र परिवार (The Holy Family 1845 of Right - 1844)
4. दर्शन का दारिद्रय (The Poverty of Philosophy - 1847)
5. साम्यवादी घोषणा-पत्र (The Communist Manifesto - 1848)
6. राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना पर एक ग्रन्थ (A contribution to the critique of political economy - 1859)
7. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का उद्घाटन भाषण (Inaugural Address of the International Working Mens Association 1864)
8. मूल्य, कीमत एवं लाभ (Value, Price and Profit - 1865)
9. फ्रांस में गृह-युद्ध तथा (The civil war in France - 1870-81)
10. गोथा कार्यक्रम की आलोचना। (Criteique of the Gotna Programme)

मार्क्स की विशेषता यह है कि उसने इधर-उधर बिखरे हुये विचारों एवं कार्यक्रमों को एक व्यवस्थित विचारधारा एवं सिद्धान्त रूप प्रदान किया। मैक्सी के अनुसार, ''मार्क्स के कार्य के बारे में महत्त्वपूर्ण बात उसकी मौलिकता नहीं थी, अपितु उसकी संश्लेषण की शक्ति थी।'' लक्सी का मत है, ''मार्क्स का कार्य सामाजिक दर्शन के इतिहास में स्वयं एक युग है। उसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसने समाजवाद को अव्यवस्थित रूप में पाया और उसने उसे एक आंदोलन में परिवर्तित कर दिया। उसके द्वारा समाजवाद को एक दर्शन और एक दिशा प्राप्त हुयी।'' संक्षेप में, मार्क्स ने काल्पनिक समाजवाद के स्थान पर वैज्ञानिक समाजवाद की स्थापना की और पूँजीवादी व्यवस्था के पतन तथा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का क्रांतिकारी कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

5.2.2 जीवन-वृत्त : आदर्श एवं विचारधारा

कार्ल मार्क्स की कृतियों में जो कुछ लिखा है, वह निश्चित रूप से और बराबर, पश्चिम देशों का सिक्यूलर मानववाद है। मार्क्स ने प्रारंभ से लेकर अब तक अपने आप की एक ऐसी छवि बनायी है जो ठेठ यथार्थवादी बुद्धिवादी की है। उसने हमेशा बहुत ऊंचे आदर्शों की निंदा की है। उसका सम्बन्ध तो धरती पर खड़े हुए वास्तविक समाज से था। उसके व्यक्तित्व की बुनियादी विशेषता यह है कि वह एक धर्मनिरपेक्ष नीतिज्ञ था। अपने विश्वास मे वह नास्तिकवादी था। उसकी यह मान्यता थी कि धर्म एक राजनैतिक धोखाधड़ी है, जालसाजी है जिसके द्वारा पूंजीपति गरीबों का शोषण करते हैं, उनकी मानसिकता का लाभ लेते हैं। मार्क्स का तो ऐसे मानववाद में विश्वास था जिसमें ईश्वर का कोई स्थान नहीं है।

मार्क्स एक पक्का तर्कवादी चिन्तक था। उसका कहना था कि वह समाज जो कुछ उपलब्धियाँ करना चाहता है उसे अपने सभी भ्रम या माया को त्याग देना चाहिये। उसका पूरा विश्वास मानव तर्क में था और वह सभी कार्यों के लिये स्वतंत्रता को एक आवश्यक दशा मानता था। उसकी यह मान्यता ही उसके जीवन की नैतिक शक्ति थी। मार्क्स हर तरह से अपने जीवन में बराबर मानवतावादी रहा। वह तत्कालीन समाज को अनिवार्य रूप से गैर मानवीय समाज मानता था। उसकी अलगाव की अवधारणा उसके इसी मानवतावाद में निहित है। किसी भी पूंजीवादी व्यवस्था में अलगाव के अतिरिक्त एक व्यक्ति की नियति और कुछ नहीं है। यह वर्ग समाज जिसमें गरीब-गुरबे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रहते हैं उनका वास्तविक जीवन पूर्णतया अलगाव हो जाता है। मार्क्स मनुष्य की सम्पूर्ण स्वतंत्रता में भरोसा रखता था। तर्क का प्रयोग इसी स्वतंत्रता में किया जा सकता है। उनका मानना था कि व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का सेन्सर अनुचित है। वे ऐसे राजनीतिक समुदाय की कल्पना करते हैं, जिसमें सही अर्थों में प्रजातंत्र हो, जहाँ राज्य ओझल हो जाये, जहाँ वर्ग जैसी कोई व्यवस्था न हो। कार्ल मार्क्स का संदेश, तर्क से बंधा हुआ चलता ही रहता है। इस तर्क के पीछे कौन है, सिद्धान्त हैं, पूर्वानुमान हैं, कहना कठिन है। लेकिन मार्क्स खुले दिल से दुनियाँ भर के पद दलितों में आशा की एक लहर पैदा करता है। गरीबी और शोषण के अंधेरे के बाद, वह बड़े निश्चयसूचक में सुनहले प्रभात का वादा करता है।

5.2.3 हीगेल : मार्क्स के मार्गदर्शक

बॉन विश्वविद्यालय में अपने छोटे से प्रवास के बाद मार्क्स ने जर्मनी के बौद्धिक एवं राजनीतिक केन्द्र बर्लिन विश्वविद्यालय को अपनी उच्च शिक्षा के लिये पसंद किया। पिता चाहते थे कि उनका बेटा पारिवारिक व्यवसाय वकालत को स्वीकार करे। लेकिन मार्क्स को यह स्वीकार नहीं था। उसकी अभिरूचि कानून की पुस्तकों में नहीं, दर्शन एवं इतिहास के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान में थी। यहीं पर बर्लिन विश्वविद्यालय में मार्क्स के हीगेल की कृतियों का परिचय हुआ। यहीं पर उसने अपनी प्रारम्भिक चिन्तन शैली को हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली पर आधारित किया। इसी कारण हीगेल मार्क्स का गुरु और मार्गदर्शक माना जाता है।

यह कहना उचित होगा कि 19वीं-20वीं शताब्दी के यूरोप में हीगेल के दर्शन का बहुत बड़ा प्रभाव था। हीगेल द्वन्द्वात्मक विचारधारा के प्रणेता थे। द्वन्द्वात्मक प्रणाली और कुछ न होकर परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच का संघर्ष और उनका समन्वय है। समाजशास्त्र के क्षेत्र में यदि इसे लागू किया जाये तो कहा जा सकता है कि राज्य, समाज-जीवन की प्रत्येक दशा वाद, प्रतिवाद तथा संवाद की प्रक्रियाओं से होकर गुजरती है। इस प्रक्रिया में हिंसा द्वारा कोई मनमाना परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

जिस समय मार्क्स बर्लिन विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहा था, उस समय हीगेल के अनुयायी दो खेमों में बंटे हुए थे। परम्परावादी हीगेलपंथी खेमें के अनुयायी तत्कालीन समाज व्यवस्था को संवाद की प्रौढ़ एवं अनिवार्य स्थिति मानकर निष्क्रिय होकर बैठे थे। उनका कहना था कि इस प्रक्रिया के साथ कोई जोर-जबरदस्ती नहीं की जा सकती। हीगेल पंथ का दूसरा खेमा नव हीगेल पंथियों का था। वे तत्कालीन समाज व्यवस्था को प्रतिवाद के रूप में मानते थे और कहते थे कि शोषण तथा उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठानी चाहिये। इन दो खेमों में, मार्क्स ने दूसरा खेमा यानी नव हीगेलपंथियों का खेमा स्वीकार किया। बाद में चलकर मार्क्स ने हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के रहस्यवादी कारणों को अस्वीकार करके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की नयी चिंतन प्रणाली का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार आर्थिक दशाएं ही मानव जीवन के विभिन्न स्वरूपों को निर्धारित करती है। मार्क्स ने पूरी ताकत के साथ कहा कि समाज में होने वाले परिवर्तन कोई अदृश्य शक्ति का काम नहीं करती और न ही यह सामाजिक परिवर्तन परमात्मा करता है। यह परिवर्तन तो उत्पादन सम्बन्धों द्वारा होता है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि ईश्वर इस धरती पर कोई अवतार नहीं है। समाज की गैर-बराबरी तो आर्थिक संरचनाजनित असमानता के कारण ही है।

5.2.4 जीवन प्रवेश

विश्वविद्यालय से पढ़ाई लिखाई समाप्त करने के पश्चात् मार्क्स कोई अच्छी नौकरी नहीं कर पाया। ऐसी अवस्था में उसने पत्रकारिता को जीवन-यापन का माध्यम बनाया। इस नये क्षेत्र में पदार्पण करते समय ही मार्क्स और उसकी नव-विवाहिता पत्नी जेनी को संघर्षपूर्ण जीवन की शुरूआत का आभास हो गया, किन्तु इस नव दम्पति को यह ज्ञान नहीं था कि ये विषम परिस्थितियाँ जीवन भर उन्हें लताड़ती रहेगी। 1842 ई. में मार्क्स कोलोन से प्रकाशित होने वाले पत्र 'रीनिश जीटिंग' का संपादक बन गया। लेकिन एक वर्ष बाद 1843 ई. में उसे यह संपादकीय छोड़नी पड़ी। अब मार्क्स ने अपनी पत्नी जेनी के साथ फ्रांस की ओर कूच किया। यहाँ वह एक मासिक पत्रिका का संपादक बन गया। मार्क्स का पेरिस प्रवास उसकी विचारधारा के लिये बहुत प्रेरणादायक रहा। वहाँ वह कुछ जाने माने चिंतको के सम्पर्क में आया। इन चिंतकों में प्रोधों, बाकुनिन, लुई ब्लॉक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

वह पेरिस में ही था कि मार्क्स की मुलाकात फ्रेड्रिक एंजेल्स से हुई। एंजेल्स बड़ा रोबिला व्यक्ति था। उसमें दमखम था। वह असाधारण मस्तिष्क का मालिक था। एंजेल्स एक उद्योगपति का लड़का था जिसे विरासत में अपार धन-सम्पत्ति मिली थी। मार्क्स और एंजेल्स ने अपनी आजीवन मित्रता की आवश्यकता महसूस की तथा इसकी शुरूआत 18454 ई. में प्रकाशित मार्क्स की पहली पुस्तक 'दि होली फैमिली' से हुई।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

मार्क्स जेनी के साथ बेल्जियम के नगर ब्रुसेल्स आ गया जहाँ उसने एंजेल्स के साथ मिलकर अपनी बौद्धिक यात्रा जारी रखी। एंजेल्स ने अपने नये मित्र की लेखनी की भूख शांत करने के लिए एक साप्ताहिक पत्रिका खरीद ली। यहाँ मार्क्स द्वारा बिताये गये तीन वर्ष समाजवादी आंदोलन के लिये बहुत फलदायक रहे। यहीं पर मार्क्स ने 'पावर्टी ऑफ फिलोसफी' तथा 'जर्मन आडियोलाजी' पुस्तकें लिखी। इन पुस्तकों से स्पष्ट हो गया कि मार्क्स ने हीगेल के आदर्शवादी चिंतन का पूर्णतया परित्याग करके राजनैतिक अर्थशास्त्र को अपने चिंतन का आधार बनाया।

इधर यूरोप में बहुत बड़े फेर बदल हुए। फ्रांस की राज्य क्रांति असफल रही। नेपोलियन का देवी साम्राज्य गिर गया। अब नये संघर्ष प्रारंभ हुए। ऐसी राजनैतिक अवस्था में कार्ल मार्क्स अपने क्रांतिकारी विचारों को अमलीजामा पहनाने के लिये मैदान में आये। 1845 ई. की सर्दी में मार्क्स-एंजेल्स ने ब्रुसेल्स में कम्युनिस्ट लीग नामक संस्था की स्थापना की। दुनियाँ के विभिन्न हिस्सों में बिखरी हुई लीग जैसी प्रगतिशील संस्थाओं को स्पष्ट विचारधारा और एक ठोस कार्यक्रम देने के लिये मार्क्स और एंजेल्स ने 1848 ई. में 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' को तैयार किया। यवैज्ञानिक समाजवाद का यह पहला सुस्पष्ट दस्तावेज प्रारम्भिक पंक्तियों से लेकर अंतिम पंक्तियों तक शासक वर्ग पर निर्मम प्रहार करता है।

5.2.5 कार्ल मार्क्स और यूरोप की राजनैतिक अवस्था

मार्क्स अपने तत्कालीन यूरोपीय समाज की देन था। यूरोप के मध्य युग में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। 19वीं शताब्दी के मध्य में यूराप में कई आविष्कार हुए। औद्योगिक क्रांति हुई, तार-टेलीफोन का आविष्कार हुआ और संसार के समाने कई नये-नये आविष्कार आये। इस युग की शायद सबसे बड़ी चुनौती पूँजीवाद और औद्योगिकरण थे। उद्योग के क्षेत्र में प्रत्येक देश प्रतियोगिता जीतना चाहता था। इधर जैसे ही फरवरी 1848 ई. में कम्युनिस्ट मेनिफिस्टो लंदन में प्रकाशित हुआ, उसने बौद्धिकों के समाज में हलचल पैदा कर दी। फ्रांस, जर्मनी और इटली की जनता अधिनायकवादी राजतंत्रों के विरुद्ध हथियार उठा चुकी थी। इन सभी देशों में लोकतंत्र की विजय ने मार्क्स के लिये शरण लेने का स्थान तैयार कर दिया। जब बेल्जियम ने मार्क्स को देश निकाला दिया तब वह सपत्नी पहले फ्रांस और बाद में जन्मभूमि जर्मनी आ गया। जर्मनी में उसका पुराना समाचार पत्र 'रीनिश जीटिंग' छह वर्षों से मरणावस्था में पड़ा था। मार्क्स ने उसमें नयी जान फूँकी। इस समाचार पत्र के माध्यम से नागरिक स्वतंत्रता के लिये लड़ाई प्रारम्भ की। यह लड़ाई वस्तुत: कलम की लड़ाई थी।

1848 ई. की क्रांति ने कुछ ही महीनों बाद अपनी लोकतांत्रिक उपलब्धियाँ खो दी। अब इसने मार्क्स के सामने संकट पैदा कर दिया। प्रेस की आजादी के अभाव में मार्क्स के लिये क्रांतिकारी विचारों की अभिव्यक्ति मुश्किल हो गयी। उन पर दो बार मुकदमा चलाया गया। दोनों मुकदमों में मार्क्स को अदालत ने दोष मुक्त कर दिया, किन्तु प्रशिया की सरकार ने 'न्यू रीनिश जीटिंग' के प्रकाशन पर रोक लगाकर मार्क्स को देश निकाला दे दिया। मार्क्स को फिर अपनी जन्मभूमि त्यागनी पड़ी। वह पेरिस आ गया किन्तु अभी एक ही महीना बीता था कि उसे फ्रांसीसी सरकार का फरमान मिला कि वह अपनी पत्नी के साथ 24 घंटे के अंदर पेरिस छोड़ दे। मार्क्स का निर्वासन बार-बार होता रहा। आखिर उसने 24 अगस्त 1849 ई. में लंदन में प्रवेश किया जहाँ लोकतंत्र की जड़ें मजबूत थी।

लंदन जैनी और उसके बच्चों के लिये बेरहम सिद्ध हुआ। लंदन उनके लिये दरिद्रता, रोग, मृत्यु, पीड़ा और अपमान का पर्याय बन गया। अभिजात परिवार के विलासितापूर्ण जीवन का उपभोग करने वाली जेनी ने इन दुखदायी परिस्थितियों में भी आत्म समर्पण नहीं किया। लंदन प्रवास के आरंभिक काल में, दो कमरों वाले उस छोटे से फ्लेट जिसमें मार्क्स ने अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ 'केपिटल' की रचना की, जेनी ने अपने आठ वर्ष के पुत्र एडगर और पुत्री फ्रांसिसका को दवा के अभाव में दम तोड़ते देखा। गृहस्थी के बारे में मार्क्स की लापरवाही और उपेक्षा ने जेनी के दु:खों को बढ़ा दिया। घर का किराया दूध, भोजन, दवा, कपड़े-लत्ते आदि सब खर्चों के लिये यह परिवार एंजेल्स की उदारता पर निर्भर था। यद्यपि मार्क्स न्यूयार्क से प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र 'ट्रिब्यून' का लंदन स्थित संवाददाता बन गया, फिर भी इससे प्राप्त होने वाला पारिश्रमिक नाम मात्र को ही था। यह कहना सही होगा कि लंदन प्रवास जहाँ बौद्धिक दृष्टि से मार्क्स के लिये उत्कर्ष का रहा,वहीं राजनैतिक दृष्टि से यह उसके लिये असफलता का युग था। लंदन की ब्रिटिश म्युजियम लाइब्रेरी में मार्क्स का अधिकांश समय व्यतीत होता था। उदारवादी अर्थशास्त्रियों के श्रम, उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन, मूल्य और मुनाफे के सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए मार्क्स ने दास केपिटल ग्रंथ की रचना की। 1867 ई. में मार्क्स ने दास केपिटल का पहला खंड पूरा किया। दूसरे और तीसरे खंड क्रमश: 1885 ई. तथा 1895 ई. में प्रकाशित हुए। मार्क्स ने राजनीति में सक्रिय होते हुए फर्स्ट इंटरनेशनल की साधारण सभा की अध्यक्षता की। बाद में चलकर यह संगठन अराजकतावादियों और मार्क्सवादियों के बीच में वैचारिक मतभेद का शिकार बन गया। 1873 ई. के लगभग यह भंग प्राय: हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जीवन के अंतिम 15 वर्षों के दौरान मार्क्स ने एक भी उल्लेखनीय रचना नहीं लिखी। प्राय: गुमनामी के इस जीवन में उसे दिसम्बर 1881 ई. में अपनी पत्नी जेनी का बिछोह सहना पड़ा। जैनी ने लीवर के कैंसर से वर्षों के संघर्ष करते हुए अपना दम तोड़ा। मार्क्स स्वयं भी लीवर के भीषण रोग से ग्रसित था। जब वह थोड़ा मुक्त हुआ तक उसे न्यूमोनिया और ब्रोंकाइटिस के ताबड़तोड़ हमलों का शिकार होना पड़ा। जनवरी 1883 ई. में 43 वर्षीय उनकी पुत्री की असामयिक मृत्यु हो गयी। इस दुर्घटना ने मार्क्स को तोड़ दिया। वे स्वयं भी मार्च 14, 1883 ई. में चल बसे। मार्क्स के समाधि स्तम्भ पर अब भी युगान्तकारी नारा अंकित मिलता है - 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ' समाधि स्तम्भ पर मार्क्स की ही इन पंक्तियों को भी अंकित किया है - दार्शनिक विभिन्न तरीकों से विश्व की व्याख्या करते आये हैं। मुख्य सवाल यह है कि इसे बदला कैसे जाये।

5.2.6 मार्क्स का समकालीन समाज

19वीं शताब्दी के मध्य में कई परस्पर विरोधी विचारधाराएं चल रही थी। इंग्लैण्ड में गौरवपूर्ण क्रांति हो चुकी थी। यह क्रांति गौरवपूर्ण इसलिये थी कि इसमें बिना किसी खून-खराबे के साम्राज्य बदल गया। फ्रांस में क्रांति ने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की नयी मूल्य व्यवस्था दी। यूरोप के छोटे-मोटे देशों में सामन्तवाद का पुरजोर विरोध हुआ। इस सम्पूर्ण उठा-पटक ने उदारतावाद की विचारधारा को जन्म दिया। इधर पूँजीवाद के विरोध में नयी क्रांतिकारी भावना आयी। इस युग में दुनियां भर के देश स्पष्ट रूप से दो भागों में बंट गये - वे देश जो उदारतावाद का समर्थन करते थे और दूसरे वे जो मार्क्सवादी विचारधारा के अनुसार क्रांति करना चाहते थे। सी. राईट मिल्स का कहना है कि ''19वीं शताब्दी के मध्य में रूस की क्रांति और सुदृढ़ता के बाद सारी दुनियां के देशों में उदारतावादी विचारधारा और क्रांतिकारी विचारधारा में ठन गयी।

कुछ उदारतावादी देशों ने मार्क्सवाद के गैर-क्रांतिकारी स्वरूप को अपनाया और इस तरह उदारतावाद को एक तगड़ी टक्कर दी। सी. राईट मिल्स का कहना है कि ''यूरोप के इतिहास में विभिन्न विचारधाराओं का इस प्रकार गड्डमड्ड हुआ है कि सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन में चार तत्व उभरकर सामने गये : विचारधारा, आदर्श, एजेन्सी तथा सिद्धान्त।'' ये चारों तत्त्व आपस में जुड़े हुए हैं और इतिहस की गति के साथ बराबर चलते रहते हैं।

मध्य युग से लेकरआज तक उदारतावादी और मार्क्सवादी अपनी-अपनी विचारधारा को पकड़े हुए हैं। उदारवादी विचारक पूरी शक्ति से एकतंत्रवादी शासन, राजाओं-महाराजाओं की हुकूमत का विरोध करते हैं। मार्क्स भी सामन्तवाद का विरोध करते हैं। वे भी एकतंत्रवादी शासन को अस्वीकार करते हैं। दोनों विचारधाराओं में सामन्तवाद और एकतंत्रवाद का विरोध बहुत भारी है। लेकिन मार्क्सवाद एक कदम और आगे है। यह विचारधारा उदार पूँजीवाद का विरोध करती है। उनके अनुसार उदार पूँजीवाद पूँजीवादी समाजों की मुख्य आधारशिला है। दोनों ही विचारधाराओं - उदारतावाद और मार्क्सवाद के समर्थक आज दुनियां भर में हैं। मार्क्स का सम्पूर्ण दर्शन अत्यन्त विस्तृत है, वह एक साथ ही दार्शनिक, समाजवादी, अर्थशास्त्री, राजशास्त्री एवं क्रांतिकारी आदि है। उसके मूल सिद्धान्त अग्रलिखित हैं - द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, मूल्य का श्रम सिद्धान्त एवं अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त।

5.2.7 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectrical Materialism)

मार्क्स की सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्रीय तत्त्व है उसकी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अवधारणा, यह अवधारणा ही मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद का दर्जा प्रदान करती है।

5.2.7.1 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अर्थ

मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अवधारणा एक विशेष अंग द्वन्द्वात्मक या द्वन्द्ववादी पद्धति है। अत: इस अवधारणा का अर्थ समझने के लिए इस द्वन्द्ववादी पद्धति की व्याख्या आवश्यक है। द्वन्द्वात्मक पद्धति सत्य की खोज की एक प्रणाली है, जिसे मोटे तौर पर हम वाद-विवाद द्वारा सत्य की खोज कह सकते हैं। कोई एक वक्ता किसी विषय के एक पक्ष को प्रस्तुत करता है, जिसे यहाँ वाद कहा जा सकता है। कोई दूसरा वक्ता उसी विषय के दूसरे पक्ष को प्रस्तुत करता है, जिसे यहाँ प्रतिवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार वाद एवं प्रतिवाद की पारम्परिक बहस संघर्ष के बाद उस विषय के बारे में एक ऐसा पक्ष उभरकर सामने आता है, जिस पर सभी सहमत होते हैं जिसे यहाँ संवाद कह सकते हैं।

कुछ समय बाद यह अनुभव किया जाता है कि संवाद द्वारा प्राप्त सत्य स्वयं में पूर्ण व अंतिम नहीं है। इस स्थिति में पुन: सत्य की खोज के लिए वाद-विवाद की पद्धति अपनायी जाती है। इस बार पहले से प्राप्त संवाद को ही एक वक्ता वाद के रूप में प्रस्तुत करता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है और दूसरा वक्ता इसका विरोध करते हुए प्रतिवाद प्रस्तुत करता है। अब वाद एवं प्रतिवाद की पारम्परिक बहस संघर्ष से पुनः एक नये संवाद की प्राप्ति होती है। यह उल्लेखनीय है कि भविष्य में यह संवाद पुनः वाद का रूप धारण कर लेता है और सत्य की खोज का कार्य पूर्ववत चलता रहता है।

प्राचीन यूनान में द्वन्द्ववाद को सत्य की खोज की एक महत्त्वपूर्ण प्रणाली के रूप में मान्यता प्राप्त थी। यह प्रणाली सत्य की खोज के लिए वाद, प्रतिवाद तथा संवाद नामक तीन पक्षों की मौजूदगी को अनिवार्य मानती है। मार्क्स ने सृष्टि व सामाजिक विकास को स्पष्ट करने के लिए इस द्वन्द्ववादी पद्धति को अपनाया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में अर्थ की दृष्टि से तीन प्रमुख शब्द हैं – द्वन्द्व, भौतिक तथा वाद। इन शब्दों के अर्थ निम्नलिखित हैं –

द्वन्द्व – द्वन्द्व का अर्थ है दो विरोधी पक्षों में संघर्ष।

भौतिक – भौतिक का अर्थ है 'जड़ तत्व' अथवा 'अचेतन तत्त्व'।

वाद – वाद का अर्थ है सिद्धान्त, विचार अथवा धारणा।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सरल अर्थ है – ऐसा भौतिकवाद जो द्वन्द्ववादी पद्धति को स्वीकारता है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दो मूल मान्यतायें हैं –

(अ) सृष्टि का मूल तत्त्व पदार्थ है,

(ब) सृष्टि और उसमें मौजूद मानव समाज का विकास द्वन्द्वात्मक पद्धति से होता है।

संक्षेप में, मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सरल अर्थ है सृष्टि मूलतः भौतिक है और यह अपना विकास वाद, प्रतिवाद तथा संवाद वाली द्वन्द्ववादी प्रणाली से करती है। मानव-समाज का विकास भी इसी पद्धति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा हुआ है।

5.2.7.2 द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की विशेषतायें

1. मूल तत्त्व पदार्थ है – मार्क्स के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि का मूल-आधार अथवा मूल-तत्त्व पदार्थ (जड़ तत्त्व) है, प्रत्यय (चेतन तत्त्व) नहीं। इस प्रकार सृष्टि की मूल प्रकृति भौतिकवादी है, आध्यात्मिक नहीं।
2. सम्पूर्ण सृष्टि एक निकाय है – सम्पूर्ण सृष्टि एक प्राणी-शरीर की तरह है, जिसके सब भाग (अंग) एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं और एक-दूसरे पर आश्रित हैं। इस प्रकार किसी भी वस्तु का स्वयं में कोई स्वतंत्र व निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। अतः किसी वस्तु को समझने के लिए जरूरी है कि हम 'वस्तुओं के आपसी सम्बन्ध' को समझें।
3. वस्तुयें गतिमान व परिवर्तनशील हैं – सृष्टि का मूल-तत्त्व 'पदार्थ' गतिशील है और इसलिए इसमें परिवर्तनशीलता का लक्षण भी पाया जाता है।
4. वस्तुओं में परिवर्तन के दो प्रकार हैं – वस्तुओं में दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं – मात्रात्मक परिवर्तन तथा गुणात्मक परिवर्तन।

   मात्रात्मक परिवर्तन – किसी भी वस्तु में सबसे पहले केवल मात्रात्मक परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन क्रमशः अर्थात् विकासवादी पद्धति से होता है। मात्रात्मक परिवर्तन द्वारा वस्तु में केवल बाह्य एवं सामान्य परिवर्तन होते हैं।

   गुणात्मक परिवर्तन – किसी भी वस्तु में एक सीमा तक मात्रात्मक परिवर्तन होने के बाद उस वस्तु में गुणात्मक परिवर्तन होने लगता है। गुणात्मक परिवर्तन झटके या विस्फोट के रूप में होता है, अर्थात् यह परिवर्तन क्रांतिकारी पद्धति से होता है। गुणात्मक परिवर्तन के कारण वस्तु के आधारभूत गुण ही बदल जाते हैं। इसका सरल अर्थ है कि वास्तव में पुरानी वस्तु नष्ट हो जाती हैं और अब हमारे सामने जो वस्तु होती है, वह नये गुणों के साथ एक नयी वस्तु होती है।
5. द्वन्द्ववाद द्वारा परिवर्तन की व्याख्या की जा सकती है – मार्क्स ने द्वन्द्ववाद को भौतिकवाद के संदर्भ में अपनाया है और इसके द्वारा वस्तुओं में परिवर्तन की व्याख्या की है। वह किसी वस्तु की मूल भौतिक अवस्था को वाद कहता है। उसका मत है कि वस्तु में शाश्वत अन्तर्विरोध पाया जाता है, जिसे वह प्रतिवाद कहता है। वाद एवं प्रतिवाद में निरन्तर संघर्ष चलता रहता है। जिसके कारण वस्तु में पहले मात्रात्मक परिवर्तन होते हैं, जो एक सीमा के बाद गुणात्मक परिवर्तन में बदल जाते हैं। इस प्रकार वाद एवं प्रतिवाद के पारस्परिक संघर्ष के कारण वस्तु को एक नयी अवस्था प्राप्त होती है, जिसे

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मार्क्स संवाद कहता है। गुणों की दृष्टि से वस्तु की संवाद अवस्था उससे पूर्ववर्ती वाद एवं प्रतिवाद की अवस्था से एकदम भिन्न होती है। मार्क्स के अनुसार उपरोक्त तरीके से वस्तु की जो संवाद अवस्था मिलती है, वह भविष्य में वस्तु में परिवर्तन के लिए एक आधार का काम करती है और इस दृष्टि से यह स्वयं वाद बन जाती है। वस्तु में इस वाद के विरुद्ध प्रतिवाद उत्पन्न होता है और पुनः वाद एवं प्रतिवाद के संघर्ष से एक नया संवाद प्राप्त होता है। इस प्रकार वस्तु में परिवर्तन का एक क्रम निरन्तर चलता रहता है।

5.2.7.3 मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का महत्त्व

1. मार्क्स ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद का विरोध किया है
2. मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उसके यथार्थवादी चिन्तन का आधार है –
   (अ) यह सिद्धान्त बताता है कि मनुष्य व उसकी समस्त समस्याओं का सम्बन्ध केवल इहलोक से है
   (ब) समाज की कोई अवस्था चिर-स्थायी नहीं है
   (स) सामाजिक परिवर्तन के सुनिश्चित भौतिक नियम हैं
   (द) इस सिद्धान्त के आधार पर मार्क्स भविष्य में पूँजीवाद के अंत तथा समाजवाद के आगमन की घोषणा करता है।
3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के कारण ही मार्क्स के समाजवाद को वैज्ञानिक समाजवाद कहा जाता है। यह सिद्धान्त ही उसके सम्पूर्ण चिंतन का आधार है। इस दृष्टि से जार्ज कैटलीन का यह कथन महत्त्वपूर्ण है, ''मार्क्स के क्रांतिकारी कार्यक्रम उसके वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर आधारित हैं, वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसके अतिरिक्त मूल्य के आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित है, आर्थिक सिद्धान्त उसकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर आधारित है, यह आर्थिक व्याख्या उसके द्वन्द्ववाद पर आधारित है जो उसके भौतिकवाद पर आधारित है।''

5.2.8 इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धान्त (Theory of Economic Interpretation of History)

मार्क्स ने मानव-इतिहास के गंभीर अध्ययन के बाद मानव-समाज के विकास के नियम बताये हैं। मार्क्स की इतिहास की व्याख्या सम्बन्धी इन विचारों को 'मार्क्स का इतिहास दर्शन' कहा जाता है। उसने अपने इतिहास दर्शन में भौतिकवादी अथवा आर्थिक दृष्टिकोण अपनाया है, अतः उसके इतिहास सम्बन्धी विवरण को 'इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या' अथवा 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' भी कहा जाता है। उसका मत है कि अतीत में मनुष्य की सामाजिक अवस्थाओं का निर्धारण आर्थिक तत्त्व द्वारा किया गया है और भविष्य की सामाजिक अवस्थायें भी आर्थिक तत्त्व द्वारा निर्धारित होंगी। अतः मार्क्स के इतिहास सम्बन्धी विवरण को 'आर्थिक नियतिवाद' भी कहा जाता है।

मार्क्स के इतिहास दर्शन की आधारभूत मान्यता यह है कि इतिहास में होने वाले परिवर्तनों के पीछे विश्वात्मा की चेतना जैसा कोई तत्त्व नहीं पाया जाता है और इतिहास में परिवर्तन का कार्य मानवीय चेतना द्वारा भी नहीं किया जाता है। उसका मत है कि सृष्टि में विश्वात्मा की चेतना (ईश्वर) का अस्तित्व ही नहीं है। अतः इतिहास परिवर्तन में उसकी भूमिका का प्रश्न ही नहीं उठता है। यद्यपि वह मानवीय चेतना के अस्तित्व को तो स्वीकार करता है किन्तु उसका मत है कि मानवीय-चेतना स्वयं में कोई स्वतंत्र शक्ति या स्वतंत्र इच्छा नहीं है, अपितु सदैव मानवीय-चेतना भौतिक-परिस्थितियों के नियंत्रण में कार्य करती है।

मानवीय-चेतना सम्बन्धी उसके विचारों का आधार उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि का मूलतत्त्व पदार्थ है और इस पदार्थ के विकास द्वारा ही सभी प्राणियों में चेतना उत्पन्न हुयी है और इसी क्रम में स्वयं मानव चेतना भी पदार्थ से उत्पन्न हुयी है। मार्क्स का निष्कर्ष है कि न केवल मानव-चेतना पदार्थ से उत्पन्न हुई है, अपितु उसकी चेतना की अवस्था एवं क्रियाशीलता को भी पदार्थ की अवस्था (भौतिक परिस्थितियाँ) प्रभावित करती हैं। अतः मार्क्स कहता है, उनके (मानव के) सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण मानव-चेतना नहीं करती है, अपितु उनका सामाजिक अस्तित्व ही उनकी चेतना का निर्धारण करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने भौतिक परिस्थितियों का अर्थ किसी समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ बताया है। किसी समाज की आर्थिक परिस्थितियों का निर्माण उस समाज में मौजूद उत्पादन की प्रणाली द्वारा होता है, अतः मार्क्स बताता है कि व्यवहार में 'आर्थिक परिस्थितियों' का अर्थ 'उत्पादन की प्रणाली' ही समझा जाना चाहिए। उसका मत है कि इतिहास में किसी युग की रचना को

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पादन की प्रणाली ही तय करती है। किसी समाज में उत्पादन की जैसी प्रणाली होती है, वैसा ही उस समाज का सामाजिक, राजनीतिक व बौद्धिक जीवन होता है। मार्क्स इतिहास में परिवर्तन की दृष्टि से मानवीय चेतना की तुलना में आर्थिक परिस्थितियों की निर्णायक भूमिका को बताते हुए कहता है, इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा इस सिद्धान्त से प्रारम्भ होती है कि उत्पादन तथा उसके वितरण की प्रणाली ही किसी भी समाज-व्यवस्था का आधार होते हैं, इस अवधारणा के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रांतियों के मूल कारणों को मानव-चेतना में अथवा शाश्वत सत्य एवं न्याय में पैंठते मानवीय विवेक में नहीं ढूँढा जा सकता है, अपितु इन परिवर्तनों व क्रांतियों के मूल कारणों को उत्पादन व वितरण की प्रणालियों के बदलते रूपों में पाया जा सकता है, ये मूल कारण दर्शन में नहीं पाये जाते हैं, अपितु सम्बन्धित काल के अर्थशास्त्र में पाये जाते हैं।''

मार्क्स की इतिहास सम्बन्धी उपरोक्त व्याख्या का संक्षिप्त निष्कर्ष निम्नलिखित है -

(अ) इतिहास के परिवर्तन अथवा विकास में 'विश्वात्मा की चेतना' की कोई भूमिका नहीं होती है, क्योंकि इस प्रकार की चेतना का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

(ब) इतिहास के परिवर्तन अथवा विकास में मानवीय चेतना की कोई स्वतंत्र व निरपेक्ष भूमिका नहीं होती है, क्योंकि मानवीय चेतना सदैव ही इतिहास में मौजूद भौतिक परिस्थितियों से प्रभावित, नियंत्रित व संचालित होती है।

(स) किसी समाज में उत्पादन की जैसी प्रणाली होती है, वैसा ही उस समाज का ढाँचा होता है। मार्क्स के अनुसार, ''मानव के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की प्रणाली ही सामाजिक, राजनीतिक व बौद्धिक जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया का निर्धारण करती है।'' यदि उत्पादन की प्रणाली में परिवर्तन आ जायेगा तो समाज के संगठन में भी परिवर्तन आ जायेगा। अत: मार्क्स का निष्कर्ष है कि इतिहास में परिवर्तन की भूमिका उत्पादन की प्रणाली ही निबाहती है।

5.2.9 वर्ग-संघर्ष की अवधारणा (Concept of Class-Struggh)

मार्क्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त उसकी इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का ही एक अभिन्न अंग है। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त मार्क्स के इस विचार के अनुकूल है कि दर्शन का प्रमुख कार्य अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था को बदलना है। वस्तुत: वर्ग-संघर्ष ही वह सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक साधन है जिसके द्वारा कष्टकारी व अन्यायपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था का अंत करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा सकती है। मार्क्स के अनुसार वर्ग-संघर्ष की उत्पत्ति का मूल कारण निजी सम्पत्ति की व्यवस्था है, जो समाज को सम्पन्न तथा विपन्न वर्गों में बांट देती है। इन दोनों वर्गों को मार्क्स क्रमश: शोषक वर्ग एवं शोषित वर्ग कहता है। इन दोनों वर्गों के हितों में तीव्र विरोध होता है और यही विरोध वर्ग-संघर्ष के रूप में दीख पड़ता है। उसका निष्कर्ष है कि जब समाज में निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का अंत हो जायेगा तो वर्ग-विहीन समाज की स्थापना होगी, ऐसे समाज में वर्ग-संघर्ष भी नहीं होगा। संक्षेप में वर्ग-संघर्ष पर मार्क्स के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं -

5.2.9.1 वर्ग-संघर्ष आर्थिक द्वन्द्व की अभिव्यक्ति है - मार्क्स के अनुसार आदिम साम्यवादी अवस्था के बाद क्रमश: स्थापित दास-अवस्था, सामन्ती अवस्था तथा पूँजीवादी अवस्था में आर्थिक द्वन्द्व (संघर्ष) दीख पड़ता है और इस आर्थिक द्वन्द्व की बाहरी अभिव्यक्ति ही वर्ग-संघर्ष है। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के कारण उपरोक्त तीनों समाज दो विरोधी आर्थिक वर्गों में बंट जाते हैं, जिन्हें मोटे तौर पर शोषक वर्ग तथा शोषित वर्ग कहा जाता है। शोषक वर्ग का उत्पादन के साधनों पर अधिकार एवं स्वामित्व होता है। शोषित वर्ग गरीब होता है और उसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार नहीं होता है। शोषित वर्ग उत्पादन के लिए श्रम करता है और शोषक वर्ग इसके श्रम के लाभ को हड़प जाता है। इस प्रकार उपरोक्त तीनों समाजों में परस्पर विरोधी आर्थिक हित वाले दो वर्ग बन जाते हैं, जिनमें परस्पर संघर्ष स्वाभाविक होता है, यही वर्ग-संघर्ष है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष उपरोक्त तीनों समाजों की उत्पादन-प्रणाली में मौजूद आंतरिक विरोध की बाहरी अभिव्यक्ति है।

5.2.9.2 इतिहास वर्ग-संघर्ष का विवरण है - मार्क्स से पूर्व सम्पूर्ण मानव-इतिहास को समझने के लिए विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये थे, उसने इन सभी सिद्धान्तों का खण्डन किया और बताया कि इतिहास को समझने की कुँजी वर्ग-संघर्ष है। मार्क्स का कथन है, ''अब तक के सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है। स्वतंत्र व्यक्ति व दास, भू-स्वामी तथा भू-दास,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रेणीपति तथा दस्तकार, एक शब्द में शोषक व शोषित एक-दूसरे का गुप्त रूप में अथवा प्रकट रूप में, विरोध करते रहे हैं, यह संघर्ष बिना किसी विराम के लगातार होता ही रहा है। हर बार इस संघर्ष का अंत या तो समाज के पुनर्गठन में हुआ है, अथवा संघर्षशील वर्गों के सामान्य विनाश में।'' इस प्रकार इतिहास का सम्पूर्ण विवरण वर्ग-संघर्ष की धुरी के चारों ओर घूमता है और इसे समझे बगैर इतिहास का वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

5.2.9.3 परिवर्तन में वर्ग-संघर्ष की भूमिका - सैद्धान्तिक दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन का मूल कारण उत्पादन के परम्परागत उपादान (साधन व तकनीक) में बदलाव आना होता है। मार्क्स के अनुसार जब किसी समाज में आर्थिक उत्पादन के उपादान में परिवर्तन आ जाता है तो इससे उस समाज की अवस्था में भी परिवर्तन आ जाता है, किन्तु इसके साथ ही वह बताता है कि समाज की अवस्था में यह परिवर्तन स्वत: ही नहीं होता है, अपितु इसके लिए वर्ग-संघर्ष के रूप में मानवीय प्रयत्न की आवश्यकता होती है। वर्ग-संघर्ष के द्वारा ही शोषित वर्ग शोषक वर्ग का विरोध करता है और सामाजिक परिवर्तन को संभव बनाता है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ग-संघर्ष करना, धरना, प्रदर्शन, घेराव, असहयोग आदि के रूप में हो सकता है, किन्तु अपनी अंतिम अवस्था में वर्ग-संघर्ष क्रांति का रूप धारण कर लेता है। वर्ग-संघर्ष पर आधारित क्रांति ही नये समाज की दाई होती है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में वर्ग-संघर्ष की विशिष्ट भूमिका होती है।

5.2.9.4 वर्ग-संघर्ष में राज्य की भूमिका - राज्य शोषक वर्ग द्वारा बनायी गयी एक वर्गीय संस्था है। राज्य पर शोषक वर्ग का अधिकार होता है, अत: वर्ग-संघर्ष के दौरान राज्य शोषित वर्ग का क्रूर दमन करता है, ताकि शोषक वर्ग के हितों की रक्षा की जा सके। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष के दौरान राज्य की भूमिका तटस्थता एवं निष्पक्षता की नहीं होती है, अपितु शोषित वर्ग के विरुद्ध शोषक वर्ग के समर्थन की होती है। मार्क्स यह भी बताता है कि जब वर्ग-संघर्ष द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का अंत हो जायेगा और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होगी तो पहली बार इतिहास में राज्य-सत्ता पर शोषित वर्ग सर्वहारा वर्ग का अधिकार होगा और सर्वहारा के अधिनायकतंत्र (मजदूरों की तानाशाही) की स्थापना होगी। इस स्थिति में इतिहास में पहली बार शोषित वर्ग द्वारा राज्य-सत्ता का प्रयोग शोषक वर्ग (पूँजीपति वर्ग) के दमन एवं अंत के लिए किया जायेगा।

5.2.9.5 पूँजीवादी व्यवस्था में वर्ग-संघर्ष का विवरण - मार्क्स पूँजीवादी युग का समाजवादी चिन्तक है, अत: उसने पूँजीवादी व्यवस्था के संदर्भ में वर्ग-संघर्ष की स्थिति पर विस्तार से विचार किया है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में शोषक वर्ग की भूमिका पूँजीपति वर्ग तथा शोषित वर्ग की भूमिका श्रमिक वर्ग (सर्वहारा वर्ग) निबाहता है। मार्क्स का मत है कि पूँजीवादी व्यवस्था में दोष पाये जाते हैं, अत: इसमें तीव्र वर्ग-संघर्ष का होना अनिवार्य है।

उपरोक्त कारणों से पूँजीवाद में खूनी क्रांति के रूप में वर्ग-संघर्ष होगा और इसमें श्रमिक वर्ग की विजय होगी। मार्क्स के अनुसार, पूँजीपति वर्ग का नाश और सर्वहारा की विजय दोनों ही बातें अवश्यम्भावी हैं। पूँजीपति द्वारा अधिकतम लाभ कमाना, अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त, पूँजीपतियों की संख्या में कमी तथा श्रमिकों की संख्या में वृद्धि, आर्थिक संकटों से पूँजीवाद का कमजोर होना, उद्योगों के नवीकरण के कारण श्रमिकों की छँटनी, श्रमिकों के कष्टों में लगातार वृद्धि, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिकों के क्रांतिकारी संगठनों की स्थापना तथा साम्राज्यवादी विश्व-युद्धों के द्वारा पूँजीवाद का कमजोर होना आदि।

5.2.10 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value)

मार्क्स के राजनीतिक व आर्थिक चिंतन में उसके अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का आधारभूत महत्त्व है। वह इस सिद्धान्त द्वारा पूँजीवाद के गंभीर अन्याय तथा श्रमिकों के शोषण को प्रकट करता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि मार्क्स का 'अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त' स्वयं उसके एक अन्य सिद्धान्त 'मूल्य के श्रम सिद्धान्त' पर आधारित है। उसने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के आधार के रूप में मूल्य के श्रम सिद्धान्त की निम्नलिखित मान्यताओं को स्वीकारा है -

1. विनिमय मूल्य की उत्पत्ति श्रम से होती है - मार्क्स का मत है कि किसी वस्तु का विनिमय मूल्य (बाजार मूल्य) सदैव उतना होता है जितना उस वस्तु के उत्पादन में श्रम लगता है।
2. विनिमय मूल्य को श्रमिक उत्पन्न करता है - क्योंकि किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम का व्यय केवल श्रमिक करता है, अत: मार्क्स बताता है कि किसी वस्तु में विनिमय मूल्य भी केवल श्रमिक धारा ही उत्पन्न किया जाता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. श्रम एक वस्तु है – मार्क्स के अनुसार श्रमिक का श्रम भी एक वस्तु है, जिसे श्रमिक बेचता है और पूँजीपति खरीदता है। उपरोक्त विचारों के आधार पर मार्क्स दो निष्कर्ष निकालता है –

(अ) क्योंकि श्रमिक के श्रम द्वारा ही किसी वस्तु में विनिमय मूल्य उत्पन्न होता है, अत: विनिमय मूल्य पर श्रमिक का ही अधिकार होना चाहिए, पूँजीपति का नहीं।

(ब) श्रमिक को वस्तु के विनिमय मूल्य के बराबर ही वेतन पगार मिलना चाहिए।

मार्क्स ने अपने मूल्य के श्रम सिद्धान्त से प्राप्त उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर ही अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का विकास किया है। वह बताता है कि व्यवहार में पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिक को विनिमय मूल्य के बराबर वेतन नहीं मिलता है, अपितु उसकी तुलना में श्रमिक को बहुत कम वेतन दिया जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विनिमय मूल्य के एक भाग को ही श्रमिक वेतन के रूप में प्राप्त कर पाता है और इसके शेष बड़े भाग को पूँजीपति अपने पास रख लेता है। वस्तुत: पूँजीपति विनिमय मूल्य के जिस बड़े भाग (अतिरिक्त भाग) को अपने पास रख लेता है, उसे ही मार्क्स (अतिरिक्त मूल्य) कहता है। मार्क्स के अनुसार, ''अतिरिक्त मूल्य उन दो मूल्यों का अंतर होता है, जिसे श्रमिक उत्पन्न करता है और जिसे वह वास्तव में पाता है।'' सरल शब्दों में, यदि हम विनिमय मूल्य में से श्रमिक के वेतन को घटा दें, तो जो राशि मूल्य बचती है, उसे ही अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है।

मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। मान लीजिए एक श्रमिक आठ घण्टे श्रम करके एक दरी का उत्पादन करता है जिसका विनिमय मूल्य 80 रुपये है, किन्तु श्रमिक को मात्र 30 रुपये वेतन पगार के रूप में दिये जाते हैं। इसका अर्थ है कि श्रमिक को कुल तीन घण्टे के श्रम के बराबर वेतन प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसके अन्य पाँच घण्टे के श्रम के मूल्य 50 रुपये को पूँजीपति स्वयं अपने पास रख लेता है। मार्क्स के अनुसार यह पचास रुपये ही अतिरिक्त मूल्य है, जिस पर श्रमिक का अधिकार होना चाहिए, किन्तु व्यवहार में पूँजीपति इसे हड़प जाता है। मार्क्स अपने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष निकालता है –

(अ) सम्पूर्ण विनिमय मूल्य पर केवल श्रमिक का अधिकार होता है, किन्तु व्यवहार में उसे वेतन के रूप में इसका एक छोटा भाग ही प्राप्त होता है,

(ब) अतिरिक्त मूल्य विनिमय मूल्य का वह भाग है जो श्रमिक को नहीं दिया जाता है तथा जिसे स्वयं पूँजीपति अपने पास रख लेता है। यह पूँजीपति द्वारा श्रमिक के धन की चोरी है और इस चोरी के कारण ही पूँजीपति को बड़ा मुनाफा प्राप्त होता है और उसके पास पूँजी का संचय बढ़ता है।

(स) यह सिद्धान्त बताता है कि पूँजीवाद श्रमिकों के क्रूर शोषण पर खड़ा है, यह एक अन्यायपूर्ण अवस्था है और इसके विरुद्ध क्रांति की जानी चाहिए।

5.2.11 मार्क्स के पूँजीवाद पर विचार

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के अन्तर्गत पूँजीवादी व्यवस्था को सामन्तवादी व्यवस्था की तुलना में श्रेष्ठ माना है, किन्तु इसके साथ ही उसने पूँजीवाद के अमानवीय पक्ष को भी प्रकट किया है। पूँजीवाद के अन्तर्गत सम्पत्ति में आश्चर्यजनक वृद्धि होती है, किन्तु समाज के एक बड़े भाग में निर्धनता का भी विस्तार होता है। मार्क्स ने 19वीं सदी में मौजूद पूँजीवादी व्यवस्था का गहन अध्ययन किया और इसकी प्रकृति तथा विशेषताओं को प्रकट किया। उसने पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करके बताया कि अपने अन्तर्विरोधों एवं कमियों के कारण पूँजीवादी व्यवस्था का नाश अवश्यम्भावी है और इसके स्थान पर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना होगी, जो पूँजीवाद से श्रेष्ठ एवं न्यायपूर्ण भी होगी। वस्तुत: मार्क्स ने पूँजीवाद के विश्लेषण द्वारा इसकी कमियों, दोषों एवं अन्तर्विरोधों को प्रकट किया है। मार्क्स ने पूँजीवाद का विश्लेषण निम्नलिखित रूप में किया है –

निजी लाभ के लिए उत्पादन होता है – पूँजीवादी व्यवस्था में निजी लाभ के लिए उद्योगों का संचालन करता है। अत: पूँजीपति उन सभी साधनों को अपनाता है जो उसके निजी लाभ में वृद्धि करते हैं, चाहे वे साधन अनैतिक ही हों। इस प्रकार पूँजीवाद में सामाजिक दायित्व, न्याय व नैतिकता की भावना का अभाव रहता है और श्रमिकों के शोषण में वृद्धि होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

श्रमिकों के धन का हरण किया जाता है – मार्क्स का मत है कि वस्तुओं में विनिमय मूल्य की उत्पत्ति श्रमिकों के श्रम द्वारा होती है, अत: सम्पूर्ण विनिमय मूल्य पर श्रमिकों का ही अधिकार होना चाहिए। किन्तु पूँजीपति विनिमय मूल्य का एक छोटा अंश श्रमिकों को वेतन के रूप में देते हैं और विनिमय मूल्य के बड़े भाग (अतिरिक्त मूल्य) को लाभ के रूप में अपने पास रख लेते हैं। मार्क्स इसे पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों के धन की चोरी व लूट मानता है और इस आधार पर पूँजीवाद को अन्यायपूर्ण व अमानवीय व्यवस्था बताता है।

पूँजी का निरन्तर संचय – अतिरिक्त मूल्य तथा लाभ के अन्य उपायों द्वारा पूँजीपति को अत्यधिक धन की प्राप्ति होती है, जिसके एक भाग को वह अपने जीवन–यापन पर खर्च करता है और शेष बड़े भाग को पूँजी के रूप में संचित करता है। इस संचित पूँजी से वह अपने उद्योगों का विस्तार करता है और इस प्रक्रिया द्वारा उसे पुन: नयी पूँजी की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पूँजीपतियों के पास पूँजी का निरन्तर संचय होता रहता है।

पूँजी का केन्द्रीयकरण – पूँजीवाद में खुली प्रतियोगिता के कारण अनेक छोटे पूँजीपति नष्ट हो जाते हैं औ उनके कारखानों को बड़े पूँजीपति खरीद लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप समाज की समस्त पूँजी थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है।

आर्थिक संकटों की पुनरावृत्ति होती है – मार्क्स बताता है कि पूँजीवाद में समय–समय पर आर्थिक संकट आते रहते हैं, जो अति–उत्पादन अथवा मंदी के दौर के रूप में होते हैं। आर्थिक संकट के दो प्रभाव पड़ते हैं –

(अ) उद्योगों को घाटा होने लगता है, अत: कई पूँजीपति दिवालिया हो जाते हैं और वे स्वयं श्रमिक वर्ग की भीड़ में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार पूँजीपति वर्ग की संख्या में कमी और श्रमिक वर्ग की संख्या में वृद्धि होती है।

(ब) इन पूँजीपतियों के कारखाने बंद होने के कारण श्रमिक वर्ग में बेरोजगारी बढ़ती है और उसके कष्टों में वृद्धि होती है।

नवीकरण से श्रमिकों की दुर्दशा में वृद्धि – पूँजीपति उद्योगों में उत्पादन बढ़ाने के लिए नयी मशीनों व तकनीकों का प्रयोग करते हैं, किन्तु उद्योगों के इस नवीकरण के कारण श्रमिकों की छँटनी होती है। इससे श्रमिकों में बेरोजगारी बढ़ती है और इस प्रकार श्रमिकों की गरीबी व कष्टों में वृद्धि होती है।

विशिष्ट क्षेत्रों का औद्योगीकरण होता है – पूँजीवाद में देश के कुछ विशेष क्षेत्रों में उद्योगों का केन्द्रीयकरण हो जाता है। इस प्रकार जिन क्षेत्रों का औद्योगीकरण होता है, उनमें बड़ी संख्या में श्रमिक भी एकत्रित हो जाते हैं। देश के ऐसे औद्योगिक क्षेत्रों में एक ओर तो श्रमिकों की संख्या में लगातार वृद्धि होती है और दूसरी ओर वे बेरोजगारी, गरीबी, शोषण व कष्टों से पीड़ित भी होते हैं। इस स्थिति में श्रमिकों के बीच तेजी से वर्गीय एकता पैदा होती है और उनके स्थानीय मजदूर संगठनों का जन्म होता है। धीरे–धीरे श्रमिकों के स्थानीय संगठनों से उनके राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण होता है। इसके परिणाम स्वरुप श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के बीच राष्ट्रीय स्तर पर वर्ग–संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

श्रमिक आंदोलनों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण होता है – पूँजीवादी अवस्था में वस्तुओं का इतना अधिक उत्पादन होता है कि राष्ट्रीय स्तर पर खपत होने के बाद भी वह शेष रहता है। पूँजीपति इस अति उत्पादन को विश्व के अन्य देशों में बेचने की कोशिश करते हैं और इस दृष्टि से वे साम्राज्यों की स्थापना करते हैं। किन्तु साम्राज्यों की स्थापना के परिणामस्वरूप पूँजीवादी देशों में युद्ध होते हैं। इन युद्धों के कारण इन पूँजीवादी राज्यों के श्रमिकों के जीवन–स्तर में गिरावट आती है और उनके कष्टों में वृद्धि होती है।

यह उल्लेखनीय है कि जब उपरोक्त तरीके से पूँजीवाद का विकास अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक होता है, तो उसके साथ–साथ श्रमिक आंदोलन का विकास भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो जाता है। विभिन्न देशों के पीड़ित श्रमिक एक–दूसरे के सम्पर्क में आते हैं और उनमें पारस्परिक सहयोग की भावना विकसित होती है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रमिक आंदोलन संगठित होता है। इस स्थिति में श्रमिक वर्ग तथा पूँजीपति वर्ग के बीच वर्ग–संघर्ष भी अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक फैल जाता है।

पूँजीवाद का नाश सुनिश्चित है – मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी व्यवस्था में अनेक दोष एवं अन्तर्विरोध होते हैं, जिनके कारण यह व्यवस्था स्वयं अपने ढाँचे को कमजोर करती है, अथवा पूँजीवाद स्वयं अपनी कब्र खोदता है। पूँजीवाद में खुली प्रतियोगिता एवं आर्थिक संकटों के कारण पूँजीपतियों की संख्या में लगातार कमी होती जाती है और श्रमिकों की संख्या तथा कष्टों में लगातार वृद्धि होती है। दु:खी व शोषित श्रमिक वर्ग लगातार संगठित होता जाता है। श्रमिक वर्ग की एकता एवं संघर्ष करने की शक्ति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहले राष्ट्रीय स्तर पर और फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रकट होती है। मार्क्स का निष्कर्ष है कि श्रमिक वर्ग एवं पूँजीपति वर्ग के बीच क्रांतिकारी व हिंसक वर्ग-संघर्ष होना सुनिश्चित है और इस संघर्ष में अल्प-संख्यक पूँजीपति वर्ग पर बहु-संख्यक व संगठित श्रमिक वर्ग की विजय भी सुनिश्चित है।

राष्ट्रवाद पर मार्क्स के विचार

मार्क्सवाद मूलत: एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा है जो वर्गीय संदर्भ में सम्पूर्ण मानव-समाज पर विचार करती है। मार्क्स का मत है कि राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की अवधारणायें पूँजीवादी समाज व्यवस्था की देन हैं और सर्वहारा श्रमिक वर्ग को इनसे कोई लगाव नहीं होता है और होना भी नहीं चाहिए। उसका निष्कर्ष है कि सर्वहारा का अपना कोई राष्ट्र नहीं होता है और उसे केवल अपने वर्ग से ही लगाव रखना चाहिए। अपने इन विचारों के अनुसार ही मार्क्स ने 'कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र' में कहा है मजदूरों का कोई देश नहीं होता है और यह भी कहा है विश्व के मजदूरों एक हो जाओ। मार्क्स राष्ट्रीय सरकारों के विरुद्ध क्रांति की आवश्यकता पर बल देते हुये कहता है, यदि शासक वर्ग साम्यवादी क्रांति से काँपता है तो उसे काँपने दो। मजदूरों के पास अपनी बेड़ियों के अलावा खोने के लिए कुछ भी नहीं है, जीतने के लिए सारा संसार है।'' मार्क्स ने राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद को पूँजीवाद पर आधारित माना है और राष्ट्रों के बीच विवादों एवं युद्धों को वह पूँजीवाद का अन्तर्विरोध मानता है। अत: उसका निष्कर्ष है कि जब विश्व स्तर पर पूँजीवाद का अंत हो जायेगा तो राष्ट्र एवं राष्ट्रवाद की अवधारणाओं का भी स्वत: ही अंत हो जायेगा। पूँजीवाद के अंत के साथ ही समाजवादी समाज की स्थापना होगी जिसमें समाज के आंतरिक स्तर पर शोषण एवं उत्पीड़न का अभाव होगा और इसके परिणामस्वरूप विश्व स्तर पर भी शोषण एवं उत्पीड़न का अंत होगा, युद्धों की आवश्यकता नहीं रहेगी और विश्व-शांति की स्थापना होगी।

धर्म पर मार्क्स के विचार

मार्क्स एक भौतिकवादी विद्वान है और उसके द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में धर्म जैसे प्रत्ययवादी विचार के लिए कोई स्थान नहीं है। अत: मार्क्स ने धर्म और उसकी उपयोगिता या महत्त्व का खण्डन किया है इस सम्बन्ध में मार्क्स के प्रमुख विचार निम्नलिखित हैं -

ईश्वर का अस्तित्व नहीं है - सभी धर्म किसी एक ईश्वर अथवा एक ऐसी सर्वोच्च चेतन सत्ता में विश्वास रखते हैं जो समस्त सृष्टि का निर्माता, पालक तथा संहारक है। सभी धर्म विश्व की प्रकृति तथा इतिहास की व्याख्या ईश्वरीय सत्ता को केन्द्र बनाकर प्रस्तुत करते हैं। सभी धर्म मानते हैं कि उनके धर्म-ग्रंथों का निर्माण स्वयं ईश्वर अथवा ईश्वर के अवतारों पैगम्बरों द्वारा हुआ है। मार्क्स एक भौतिकवादी विद्वान है और सृष्टि का परम तत्त्व पदार्थ को मानता है। अत: उसका मत है कि सृष्टि में ईश्वर जैसी कोई सत्ता नहीं है। उसका दावा है कि ईश्वर ने मनुष्य नहीं बनाया है, अपितु स्वयं मनुष्य ने ईश्वर की धारणा को जन्म दिया है। मानव एवं उसकी चेतना की उत्पत्ति पदार्थ से हुई है और मानव अपने अज्ञानवश ईश्वर की कल्पना को जन्म देता है। मार्क्स के अनुसार ईश्वर के आधार पर सृष्टि एवं इतिहास की व्याख्या की पद्धति एक आदिम पद्धति है, जो मनुष्य के अज्ञान के युग की देन है। सृष्टि का मूल तत्त्व पदार्थ है अत: सृष्टि की उत्पत्ति उसी से हुई है और सृष्टि की उत्पत्ति की व्याख्या भौतिक विज्ञान द्वारा ही संभव है, धर्म द्वारा नहीं। उसका मत है कि मानव इतिहास में आधारभूत परिवर्तन मानव समाज की भौतिक परिस्थितियों के कारण होते हैं। अत: इतिहास की व्याख्या भी भौतिक परिस्थितियों के प्रसंग में की जानी चाहिए। मार्क्स का यह भी मत है कि जब ईश्वर का ही अस्तित्व नहीं है तो उसके द्वारा किसी धर्मग्रंथ का निर्माण भी संभव नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर के प्रतिनिधि के रूप में किसी अवतार या पैगम्बर की कल्पना भी असत्य है।

धर्म एक हानिकारक संस्था है - प्राय: धर्म की संस्था की प्रशंसा इस आधार पर की जाती है कि व्यक्ति एवं समाज के जीवन में उसकी भूमिका सकारात्मक है। यह कहा जाता है कि धर्म मानव जीवन को नैतिक मूल्य देता है एवं व्यक्ति को सद्गुणी बनाता है और उसे शांति प्राप्त होती है। धर्म व्यक्ति को कष्ट सहन करने की शक्ति देता है। मार्क्स ने धर्म के इस पक्ष का विरोध करते हुए बताया है कि धर्म शोषित व पीड़ित वर्ग के लिए अत्यन्त हानिकारक संस्था है। उसकी नजर में धर्म शोषक वर्ग द्वारा शोषित वर्ग के विरुद्ध एक सुनियोजित षड़यंत्र है। धर्म की रचना शोषक वर्ग के जुल्मों को छुपाने के लिए की गई है। धर्म सद्गुणों को निरपेक्ष एवं शाश्वत नैतिकता के रूप में प्रस्तुत करता है, जबकि नैतिकता सदैव ही वर्ग सापेक्ष होती है। धर्म नम्रता, अहिंसा एवं प्रायश्चित्त जैसे मूल्यों पर बल देता है और शोषित वर्ग को सब कुछ सहन करने की शिक्षा देता है। वस्तुत: ऐसे सभी गुण शोषित वर्ग को अन्याय एवं अत्याचार को सहन करने का अभ्यस्त बनाते हैं और उसकी चेतना को कुण्ठित करते हैं। अत: मार्क्स धर्म को अफीम की गोली कहता है। धर्म से प्राप्त शांति मात्र एक भ्रम व धोखा होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मार्क्स का निष्कर्ष है कि धर्म शोषक वर्ग के हाथ में शोषित वर्ग के शोषण का घातक हथियार है। और इतिहास में धर्म की भूमिका प्रतिक्रियावादी रही है। धर्म ने अतीत के सभी बौद्धिक एवं प्रगतिशील आंदोलनों के मार्ग में बाधायें प्रस्तुत की है। अत: सर्वहारा को किसी धर्म की आवश्यकता भी नहीं है। मार्क्स का मत है कि समाजवादी समाज की स्थापना होने पर धर्म की संस्था अत्यन्त शिथिल हो जायेगी। जब साम्यवादी समाज की स्थापना होगी तो यह समाज केवल वर्ग-विहीन व राज्यविहीन समाज ही नहीं होगा। अपितु यह धर्मविहीन समाज भी होगा।

5.2.12 मार्क्स की कार्य-पद्धति तथा कार्यक्रम

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या से प्राप्त निष्कर्षों के आधार अपने कार्यक्रम तथा उसके क्रियान्वयन की पद्धति को तय किया है। उसके कार्यक्रम का प्रथम भाग है पूँजीवादी व्यवस्था का अंत। कार्यक्रम का द्वितीय भाग है समाजवादी समाज की स्थापना तथा तृतीय व अंतिम भाग है साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना।

पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध क्रांति - मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को एक शाश्वत एवं अकाट्य सिद्धान्त के रूप में अपनाया है और जब पूँजीवादी व्यवस्था के संदर्भ में इस सिद्धान्त को लागू किया जाता है तो निष्कर्ष यही निकलता है कि पूँजीवाद का अंत सुनिश्चित है। पूँजीवाद स्वयं एक वाद बन जाता है और उसके अन्तर्विरोध प्रतिवाद का रूप धारण कर लेते हैं। जैसे-जैसे पूँजीवाद में अन्तर्विरोध बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही प्रतिवाद की शक्ति में भी वृद्धि होती है। मार्क्स के अनुसार वाद एवं प्रतिवाद का द्वन्द्व अपने उत्कर्ष को प्राप्त होगा और तब विस्फोट (क्रांति) द्वारा एक नये संवाद (समाजवादी व्यवस्था) की उत्पत्ति होगी। यहाँ तक मार्क्स एक ऐतिहासिक नियतिवादी (भाग्यवादी) जैसा दीख पड़ता है, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। उसका मत है कि पूँजीवादी अवस्था से समाजवादी अवस्था में परिवर्तन अपनी प्रकृति से एक गुणात्मक परिवर्तन होगा। और उसके लिए विस्फोट तथा क्रांति भी होगी। किन्तु इस क्रांति का आयोजन श्रमिक वर्ग को करना होगा। पूँजीपति वर्ग किसी भी स्थिति में पूँजीवाद का अंत नहीं चाहेगा और ऐसे प्रत्येक प्रयत्न का कड़ा विरोध करेगा। अत: श्रमिक वर्ग को पूँजीवाद के नाश और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हेतु क्रांति का ऐतिहासिक दायित्व निभाना होगा।

मार्क्स मानता है कि क्रांति एक अत्यन्त कठिन कार्य है और इसके लिए श्रमिकों को एक लम्बी तैयारी करनी होगी। मार्क्स का मत है कि क्रांति के लिए निरंकुश पूँजीवादी शासन की तुलना में लोकतांत्रिक पूँजीवादी शासन अधिक अनुकूल होता है। अत: श्रमिकों को सर्वत्र निरंकुश पूँजीवादी शासन का विरोध करना चाहिए और इस दृष्टि से श्रमिकों को उन दलों एवं नेताओं के साथ सहयोग करना चाहिए जो लोकतांत्रिक पूँजीवादी शासन की स्थापना के समर्थक होते हैं, चाहे वे दल एवं नेता श्रमिक वर्ग से भिन्न वर्ग के ही हो।

लोकतांत्रिक पूँजीवादी शासन में श्रमिकों को वे सभी कार्य करने चाहिए जो उनकी वर्ग चेतना, एकता एवं शक्ति में वृद्धि करने वाले हों। उन्हें अपने ऐसे राजनीतिक दल की स्थापना करनी चाहिए जो उनके वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व कर सकें तथा श्रमिकों की स्थितियों में सुधार के लिए आंदोलन चला सकें। इन आंदोलनों का अंतिम उद्देश्य श्रमिकों के हित में सुधारों की प्राप्ति मात्र नहीं होना चाहिए, अपितु इन आंदोलनों का उद्देश्य श्रमिक संगठनों तथा वर्गीय चेतना का विस्तार होना चाहिए। इन आंदोलनों के द्वारा श्रमिकों में वर्ग-संघर्ष की चेतना निरन्तर उग्र होनी चाहिए और उनके इस विश्वास में मजबूती आनी चाहिए कि श्रमिकों का हित तब तक पूर्णरूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब तक कि पूँजीवादी व्यवस्था का पूर्ण अंत नहीं हो जाता है। इस सम्बन्ध में क्रांति की अनिवार्यता को स्पष्ट करते हुए मार्क्स व एंजिल्स ने साम्यवादी घोषणा पत्र (1848) में कहा है साम्यवादियों को अपने विचारों व उद्देश्यों को छुपाने से घृणा है। वे खुले रूप से ऐलान करते हैं कि ''उनके उद्देश्यों की प्राप्ति वर्तमान में मौजूद समस्त सामाजिक परिस्थितियों को बलपूर्वक समाप्त करके ही की जा सकती है। यदि शासक वर्ग साम्यवादी क्रांति से काँपता है तो उसे काँपने दो। मजदूरों के पास अपनी बेड़ियों के अलावा खोने को कुछ भी नहीं है जीतने के लिए सारा संसार है।''

यद्यपि मार्क्स की सभी प्रमुख रचनाओं में पूँजीवाद के विनाश और समाजवाद की स्थापना के लिए क्रांति की अनिवार्यता पर बल दिया गया है किन्तु उसकी कुछ रचनाओं में यह भी स्वीकारा गया है कि उपरोक्त कार्य के लिए सदैव ही क्रांति अनिवार्य नहीं है। संभवत: इग्लैण्ड व अमेरिका की लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के गहरे अध्ययन के बाद वह इस तथ्य को स्वीकारने लगा था कि कुछ स्थितियों में क्रांति के बिना भी उद्देश्य की प्राप्ति संभव है। मुख्यत: अपने बाद के जीवन में उसने ऐसा अनुभव किया। सन् 1872 ई. सन् में हेग हालैण्ड के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में मार्क्स ने अपने इस विचार को प्रकट करते हुए कहा कि हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विभिन्न देशों की संस्थाओं, आचार-विचार एवं रूढ़ियों को भी ध्यान में रखना चाहिए और हम इस बात से इंकार नहीं करते हैं कि ऐसे भी देश हैं जहाँ श्रमिक शांतिपूर्ण तरीकों से अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है किन्तु सब देशों में ऐसा नहीं हो सकता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि मार्क्स ने पूँजीवाद के अंत के लिए क्रांतिकारी पद्धति को एक सामान्य नियम के रूप में स्वीकारा है और इस बारे में उसने विकासवादी पद्धति को इस सामान्य नियम के अपवाद के रूप में मान्यता दी है।

समाजवादी व्यवस्था की स्थापना - पूँजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध क्रांति की सफलता के साथ ही राज्य-सत्ता पर श्रमिक वर्ग का अधिकार हो जाता है और इस प्रकार मार्क्स के कार्यक्रम के द्वितीय अंग अर्थात् समाजवादी समाज व्यवस्था की स्थापना का कार्य प्रारम्भ होता है। इस समाजवादी व्यवस्था के सफल संचालन के लिए सर्वहारा के अधिनायक तंत्र मजदूरों की तानाशाही की स्थापना होगी।

साम्यवादी समाज की स्थापना - मार्क्स के कार्यक्रम का तृतीय भाग साम्यवादी समाज की स्थापना है। वह बताता है कि समाजवादी समाज में ऐसी भौतिक परिस्थितियों का जन्म होगा जो समाजवादी समाज को क्रमशः साम्यवादी समाज में बदल देगी। समाजवाद एक अस्थायी व संक्रमणकालीन अवस्था है जो स्वतः ही साम्यवाद में परिवर्तित हो जायेगी। इस प्रकार समाजवाद के साम्यवाद की अवस्था में परिवर्तित होने के लिए किसी द्वन्द्ववादी क्रांति की आवश्यकता नहीं है। अपने कार्यक्रम के इस भाग के लिए मार्क्स मूलतः विकासवादी पद्धति का समर्थक है।

5.2.13 मार्क्स का महत्त्व, देन एवं औचित्य

यद्यपि मार्क्स के राजदर्शन की आलोचना की जाती है, किन्तु मार्क्स के सम्पूर्ण राजदर्शन के अनेक ऐसे पक्ष हैं जिनके कारण उसकी प्रतिभा व ज्ञान की पर्याप्त प्रशंसा भी की जाती है। वेपन के अनुसार, ''अपने संदेश की शक्ति अपनी शिक्षा की प्रेरणा और अपने द्वारा भविष्य के विकास पर डाले गये प्रभाव के आधार पर विश्व के महान् राजनीतिक चिंतकों के किसी भी संग्रह में मार्क्स का स्थान सुरक्षित है।'' मार्क्स के चिंतन के महत्त्व, उसकी देन एवं उसके औचित्य के बारे में प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं -

मार्क्स का संदेश वर्ग व शोषण का अंत है - मार्क्स शोषण व अन्याय का विरोधी है और वह इस शोषण व अन्याय का कारण स्वर्ग अथवा भाग्य के रहस्य में नहीं अपितु भौतिक परिस्थितियों में ढूँढता है। वह इतिहास की आर्थिक व्याख्या द्वारा बताता है कि शोषित वर्ग के कष्टों व दुःखों की एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। ऐतिहासिक दृष्टि से शोषित वर्ग के दुर्भाग्य को समाज की वर्गीय रचना में निहित शोषण में देखा जा सकता है। मार्क्स बताता है कि आदिम साम्यवादी व्यवस्था के बाद समाज निम्नलिखित तीन अवस्थाओं से होकर गुजरा है - दास अवस्था, सामन्ती अवस्था तथा पूँजीवादी अवस्था। वह इन तीनों समाजों में शोषण व अन्याय की वर्गीय पृष्ठभूमि को स्पष्ट करता है। उसका मत है कि इनमें से प्रत्येक समाज का दो परस्पर विरोधी हितों वाले आर्थिक वर्गों शोषक व शोषित वर्ग में विभाजन ही शोषण व अन्याय का मूल आधार है। मार्क्स का निष्कर्ष है कि मानव समाज में शोषण व अन्याय का अंत तभी हो सकता है जब एक वर्गहीन समाज की स्थापना की जाये। वह समाज की ऐसी अवस्था को साम्यवादी अवस्था कहता है, जो वर्गविहीन व राज्यविहीन अवस्था होगी। इस अवस्था में किसी भी प्रकार का शोषण व अन्याय नहीं होगा और मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होगा। मार्क्स के इस आदर्श ने विश्व के शोषित जनों में अपार उत्साह पैदा किया है और उन्हें अपने आदर्शों का समाज बनाने की प्रेरणा दी है।

मार्क्स की शिक्षा की प्रेरणा - मार्क्स ने अपने चिंतन द्वारा जो शिक्षा दी है, उसमें निम्नलिखित प्रेरणाएं निहित हैं -

(अ) समस्याओं का मूल भौतिक जगत् है - मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को बताया कि उसे अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए पारलौकिक जीवन की चिंता नहीं करनी चाहिए। मनुष्य इस पृथ्वी का प्राणी है और उसकी समस्त समस्याएं इहलौक अर्थात् भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखती है।

(ब) दर्शन एक सक्रिय शक्ति है - मार्क्स ने बताया कि दर्शन एवं चिंतन का कार्य केवल इतिहास की व्याख्या करना नहीं है, अपितु इसका एक प्रमुख कार्य यह बताना भी है कि अन्यायपूर्ण समाज व्यवस्था के स्थान पर एक न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना किस प्रकार की जा सकती है।

(स) मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है - मार्क्स ने बताया है कि मनुष्य का स्वर्ग इसी पृथ्वी पर संभव है और इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने भाग्य पर नहीं अपितु अपने पुरुषार्थ पर भरोसा करना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(द) सर्वहारा वर्ग के लिए कार्यक्रम – मार्क्स ने अपने युग की पूँजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करके बताया कि यह व्यवस्था सर्वहारा वर्ग के क्रूर शोषण पर खड़ी है। अत: अन्यायपूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था का अंत किया जाना चाहिए और इसके स्थान पर एक न्यायपूर्ण समाज व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए। उसका मत है कि इस कार्य के लिए सर्वहारा वर्ग को संगठित होकर एक सशस्त्र एवं खूनी क्रांति का आयोजन करना होगा। उसकी इस शिक्षा ने उसके बाद के सभी श्रमिक आंदोलनों व क्रांतियों को प्रेरित किया है।

मार्क्स द्वारा अंधविश्वास का विरोध

धर्म सम्बन्धी अंध विश्वास का विरोध

धर्म स्वयं में अंधविश्वास है – मार्क्स का मत है कि सृष्टि का मूल तत्त्व पदार्थ है, अत: ईश्वर तथा पारलौकिक जीवन जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु धर्म की सम्पूर्ण धारणा इन्ही काल्पनिक तत्त्वों पर आधारित है, अत: धर्म स्वयं में अंध-विश्वास के अलावा कुछ भी नहीं है। इस आधार पर मार्क्स ने धर्म का विरोध किया है।

धर्म विभिन्न अंध-विश्वास को जन्म देता है – मार्क्स का मत है कि अतीत में धर्म ने विभिन्न अंध-विश्वासों को जन्म देकर समाज के विकास में गंभीर बाधा डाली है। धर्म ने राजपद को दैवी बताकर राजाओं के अत्याचार का सैद्धान्तिक समर्थन किया है, इसने व्यक्ति को भाग्यवादी बनाकर सामाजिक अन्याय को शांतभाव से सहन करने की प्रेरणा दी है और वैज्ञानिक सत्यों के प्रसार में बाधा डाली है। अत: मार्क्स अंध-विश्वासों के जनक के रूप में धर्म का विरोध करता है।

नैतिकता सम्बन्धी अंध-विश्वास का विरोध –

मार्क्स से पूर्व शाश्वत नैतिकता का सिद्धान्त प्रचलित था, जिसका आधार ईश्वरवादी दर्शन था। यह माना जाता था कि नैतिकता तथा इस पर आधारित जीवन-मूल्य, परम्परायें तथा सामाजिक व राजनीतिक संस्थायें शाश्वत व स्थायी हैं और इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन न तो संभव है और न उचित ही। मार्क्स ने शाश्वत नैतिक को असत्य बताते हु इसे एक अंध-विश्वास माना और इसका विरोध किया। उसने बताया कि नैतिकता सदैव समाज-सापेक्ष होती है। जब किसी समाज की भैतिक परिस्थितियाँ बदल जाती हैं तो उसकी नैतिकता एवं मूल्य भी बदल जाते हैं। उसने शाश्वत नैतिकता के सिद्धान्त को बुर्जुआ वर्ग का सिद्धान्त बताया और सर्वहारा वर्ग के लिए समाजवादी नैतिकता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया।

मार्क्स की समाजवाद को देन मार्क्स से पूर्व समाजवादी विचारधारा तो थी किन्तु यह मात्र काल्पनिक व आदर्शवादी थी। मार्क्स ने सम्पूर्ण समाजवादी दर्शन को एक वैज्ञानिकता, क्रमबद्धता एवं व्यवस्था दी। वस्तुत: उसने सर्वप्रथम वैज्ञानिक समाजवाद की धारणा को प्रस्तुत किया। जार्ज कैटलीन के अनुसार, ''मार्क्स का सम्पूर्ण दर्शन बहुत ही क्रमबद्ध है। लुइस वाशरमैन का कथन है'' मार्क्स ने समाजवाद को एक षड्यंत्र के रूप में पाया और उसे एक आंदोलन के रूप में छोड़ा। उसने समाजवाद को एक दर्शन और दिशा दी।

मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के दो प्रमुख आधार हैं – द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धान्त तथा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या। समाजवादी विचारधारा के इतिहास में मार्क्स का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

मार्क्स का इतिहास दर्शन मार्क्स ने इतिहास को मानव-विकास की एक सतत् धारा माना और इतिहास में होने वाले परिवर्तनों का कारण आर्थिक परिस्थितियों को बताया। उसके इतिहास सम्बन्धी दर्शन को इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कहा जाता है। मार्क्स का कथन है, इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा इस सिद्धान्त से प्रारम्भ होती है कि उत्पादन तथा उसके वितरण की प्रणाली ही किसी भी समाज व्यवस्था का आधार होते हैं इस अवधारणा के अनुसार सभी सामाजिक। परिवर्तनों तथा राजनीतिक क्रांतियों के मूल कारण दर्शन में नहीं पाये जाते हैं, अपितु उस युग के अर्थशास्त्र में पाये जाते हैं।

मार्क्स के इतिहास दर्शन का निष्कर्ष है कि समाज की कोई भी अवस्था शाश्वत व चिर-स्थायी नहीं है। जब किसी समाज में उत्पादन के उपादान साधन व तकनीक में परिवर्तन आ जाता है तो उस समाज के परम्परागत संगठन में भी परिवर्तन हो जाता है। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या द्वारा अतीत की सामाजिक अवस्थाओं का विवरण तो प्रस्तुत किया ही है, उसने भविष्य के सामाजिक विकास की दिशा भी बतायी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

औद्योगिक समाज और पूँजीवाद का विस्तृत अध्ययन मार्क्स ने अपने युग के औद्योगिक समाज का गंभीर अंध्ययन किया था। उसने सामाजिक व आर्थिक जीवन पर औद्योगिकीरण के प्रभाव को स्पष्ट किया। वह पहला अर्थशास्त्री था जिसने व्यापार-चक्र, अति-उत्पादन तथा बेरोजगारी के आंतरिक सम्बन्ध का स्पष्ट किया। उसने एक ही स्थान पर उद्योगों के केन्द्रीयकरण से उत्पन्न सामाजिक प्रभावों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अलावा उसने यह भी सर्वप्रथम बताया कि औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप साम्राज्यवाद, विश्व-युद्धों तथा श्रमिकों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को जन्म होता।

मार्क्स द्वारा भविष्य पर डाला गया प्रभाव सभी विद्वान् एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि मार्क्स ने अपने बाद के मानव-समाज को अत्यधिक प्रभावित किया है। यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण मानव-इतिहास में कोई ऐसा विचारक नहीं हुआ है जिसने विश्व की जनसंख्या के इतने बड़े भाग और विश्व के प्रत्येक महाद्वीप को इतना अधिक प्रभावित किया हो, जितना कि मार्क्स ने किया है। उसने चिंतन का एक ऐसा नया दृष्टिकोण दिया है जिसने समस्त समाज विज्ञानों के साथ ही कला व संस्कृति के मूल्यों पर अपनी छाप स्थापित की है। उसने सामाजिक संगठन तथा राज-व्यवस्था को नये आधार दिये हैं। समाजवादी चिंतन पर तो मार्क्स का अत्यधिक प्रभव पड़ा ही है, उसने पूँजीवादी व्यवस्था को भी अत्यधिक प्रभावित किया है। सर्वप्रथम विश्वस्तर पर उसके प्रभाव को गंभीरता के साथ तब लिया गया जब सन् 1917 ई. में रूस में समाजवादी क्रांति हुयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के अनेक देशों में समाजवादी राज्य-व्यवस्था की स्थापना हुयी और विश्व के एक बड़े भाग में साम्यवादी आंदोलन चले।

प्रारम्भ में पूँजीवादी व्यवस्था ने मार्क्सवादी चिंतन का तीव्र विरोध किया और समाजवादी राज्यों के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय गुटबंदी की। इसके साथ ही पूँजीवादी व्यवस्था ने अपने स्वरूप में भी ऐसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये जो श्रमिक क्रांति की संभावनाओं को सीमित करने वाले थे, अर्थात् पूँजीवाद ने श्रमिक कल्याण की योजनायें स्वीकारीं और लोक-कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त को मान्यता दी।

5.2.14 मार्क्स के नीतिपरक सिद्धान्त

मार्क्स की यह निश्चित धारणा थी कि जो वस्तुओं के अधिकारी होते हैं उन्हीं के हाथों में राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक शक्ति निहित होती है। ऐसे ही व्यक्ति अपनी आवश्यकता और सुविधानुसार समाज को वशीभूत करने के लिए नैतिक नियम गढ़ लेते हैं। मनुष्य द्वारा निर्मित सभी नियमों का मूल प्रेरणा-स्रोत मनुष्य और वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध है। इतिहास के समस्त घटनाक्रमों में परिवर्तन का कारण उत्पादन एवं भौगोलिक स्थितियाँ होती हैं। मनुष्य का विचार भी इन्हीं से प्रभावित होता है। वह स्वतंत्र नहीं है। समस्त परिवर्तन और प्रगति को नियंत्रित करने वाली शक्ति भौतिक एवं वस्तुगत सत्ता है, मानव का विचार भी परिस्थितिजन्य होता है समाज का समस्त सांस्कृतिक विकास आर्थिक भित्ति पर टिका है। इसलिए सभी नैतिक नियम जो अमूर्त आदर्शों पर टिके हैं, जिन्हें यथार्थ उत्पादन से नहीं जोड़ा गया है, अस्पष्ट और झूठे हैं। आदर्श कभी भी यथार्थ से अलग होता नहीं है। निरपेक्ष आदर्श कोई हो नहीं सकता। जो कल तर्कसंगत था वह आज मूर्खतापूर्ण है। इस भाँति मार्क्स ने अपनी अर्थशास्त्रीय नियतत्ववादी धारणा के आधार पर कई उन प्रत्ययों को नवीन रूप दे दिया जिन्हें नैतिकता के इतिहास ने शाश्वत माना। इन विचारों में समता का सिद्धान्त, स्वतंत्रता का सिद्धान्त, साधन और साधन की एकता का सिद्धान्त, प्रगति का सिद्धान्त एवं हिंसक क्रांति का सिद्धान्त प्रमुख हैं।

समता का सिद्धान्त मार्क्सवाद प्रत्येक बिन्दु पर समता का पोषक नहीं है। इसके अनुसार सभी मनुष्य एक से नहीं होते हैं। निर्बल, बलवान, विवाहित, अविवाहित, कवि, इंजीनियर, आदि की शक्तियों और क्षमताओं में भेद होता है। समता का एकमात्र अर्थ ही सार्थक है और वह यह कि आर्थिक वर्गों का उन्मूलन कर दिया जाये। सभी नागरिक बराबर काम करें और समान वेतन पायें। इस प्रकार केवल श्रम की समता और वेतन की समता साम्यवाद का अंतिम लक्ष्य है। परन्तु इसके पूर्व समाजवादी व्यवस्था में शारीरिक और बौद्धिक श्रम और तत्सम्बन्धित वेतन में अंतर रहेगा। धीरे-धीरे आर्थिक वर्गों के मिटने से आर्थिक समता स्थापित होगी।

स्वतंत्रता का सिद्धान्त मार्क्सवाद स्वतंत्रता का अर्थ किसी तात्विक अर्थात् आत्मिक स्वतंत्रता से नहीं लगाता है। स्वतंत्रता का अर्थ संकल्प की स्वतंत्रता या राजनीतिक स्वतंत्रता भी नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ आवश्यकता की पूर्ति है अत: यह आर्थिक स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता के मिलते ही मनुष्य दार्शनिक, नैतिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं राजनीतिक विकास कर सकता है। स्वतंत्रता का अर्थ अपने को नियंत्रित रखते हुए सामाजिक सम्बन्धों पर सामूहिक आधिपत्य स्थापित करना है। परिस्थितियों पर अधिकार, इच्छाओं की तृप्ति और सुखी जीवन व्यतीत करना स्वतंत्रता का लक्षण है। वैयक्तिक स्वतंत्रता सामाजिक स्वतंत्रता से अभिन्न है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य समृद्धि और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुखी समाज से ही प्राप्त हो सकता है। इसलिए शोषक संस्थाओं – धर्म आदि का उन्मूलन स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता जीवन के विभिन्न श्रेयों की एकमात्र शर्त है। इसके अभाव में मानव की प्रगति असंभव है।

साध्य और साधन – आचरण–शास्त्र में यह प्रश्न विवादास्पद रहा है कि पवित्र और उन्नत साध्य की प्राप्ति के लिए साध्य का उत्तम और पवित्र होना आवश्यक है या नहीं। आधुनिक युग में गांधी एवं अब तक अध्यात्मवादी नैतिक विचारकों ने साधन की पवित्रता पर बहुत बल दिया है। मार्क्सवादी साधन का औचित्य साध्य की प्राप्ति पर आधारित करते हैं। साम्यवादी नीतिशास्त्र के अनुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य आर्थिक समतायुक्त एक वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। इसके लिए सशस्त्र विद्रोह आवश्यक है। सशस्त्र विद्रोह एक कला है। यह विद्रोह दृढ़ संकल्प के साथ सभी शक्तियों से युक्त होकर मृत्यु की परवाह न करते हुए करना होता है। हालाँकि लेनिन ने सशस्त्र विद्रोह की रूप–रेखा को परिस्थिति–भेद से परिवर्तित कर लेने की छूट दी है फिर भी सशस्त्र क्रांति मार्क्सवाद में एक सीधा–सा स्वीकृत विचार है।

मार्क्सवाद हिंसक क्रांति को एक सैद्धान्तिक आधार देता है। उसके अनुसार साध्य और साधन दो तथ्य नहीं हैं। द्वन्द्वन्याय में प्रत्येक वस्तु साध्य और साधन की एकता है। साधन और साध्य में आंतरिक ऐक्य और वैषम्य है। एकता वैषम्य को दूर करती रही है। जिस प्रकार स्वतंत्रता का अर्थ काम के घण्टों की कमी है। परन्तु यह स्वयं में साध्य होते हुए अन्य मानवीय विकास का साधन है। इसी प्रकार हिंसक क्रांति से स्वतंत्रता की उपलब्धि होती है अत: ऐसी क्रांति न्यायोचित है। मार्क्स का तर्क है कि पूँजीवादी वर्ग प्रार्थना से पूँजी पर एकाधिकार को समाप्त नहीं कर सकता। ऐसा करना उसके लिए आत्मघात होगा। इसलिए नैतिकता के उचित प्रसारण के लिए साम्यवादी समाज की स्थापना पहला कदम है। इसके लिए सशस्त्र विद्रोह करना आवश्यक है। वैसे भी यह अनुभवसिद्ध सिद्धान्त है कि उत्तरवर्ती समाज पूर्ववर्ती समाज के निषेध पर ही जन्म लेता है।

प्रगति का सिद्धान्त मार्क्स और ऐन्जिल्स ने भौतिक आधार को मान्यता देते हुए बताया कि आर्थिक अवस्थाओं एवं आर्थिक सम्बन्धों पर सामूहिक अधिकार द्वारा मानवीय गुणों का विकास। इस प्रगति का अर्थ निरन्तर पराधीनता से स्वतंत्रता की ओर बढ़ते जाना है। थोड़े श्रम से इतना अधिक उत्पादन करने की स्थिति में हो जाना कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम एवं ग्राम व शहर के भेद मिट जायें। इस प्रकार श्रेयों की विपुल राशि के उपलब्ध होने के साथ ही मानवीय गुणों का विकास होता जायेगा। मानव के व्यक्तित्व का विकास उपर्युक्त प्रगति के साथ कहाँ तक होगा, यह अभी कल्पना की बात है परन्तु मार्क्सवाद नित्य प्रगति में विश्वास रखता है।

हिंसक क्रांति का सिद्धान्त – यद्यपि इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है परन्तु हिंसक क्रांति का अर्थ केवल शांतिमय तरीकों या संसदीय प्रणाली का मात्र विरोध नहीं है। इस प्रकार मार्क्सवाद सशस्त्र क्रांति को स्वतंत्रता और समता–प्राप्ति का एक यथार्थवादी एवं सफल साधन मानता है।

संक्षेप में मार्क्सवादी नीतिशास्त्र व्यक्तिवादी, संतवादी, धर्माधारित प्राचीन नीतिशास्त्र का विरोधी है। कोई नीतिशास्त्र नित्य व अटल नहीं हो सकता। प्रत्येक नीतिशास्त्र युग–सापेक्ष होता है और द्वन्द्वन्याय के अनुसार प्रत्येक नवीन नीतिशास्त्र प्राचीन नीतिशास्त्र का निषेध बनकर ही विकास पाता है। अन्यथा विकास का कोई अर्थ नहीं है। सच्चा नीतिशास्त्र यथार्थ के धरातल पर पनपता है। यथार्थ जगत् में अर्थ ही निर्णायक तथ्य है। इसलिए नैतिक मापदण्ड वही होगा जो आर्थिक विकास–क्रम के अनुकूल हो। सत्कर्म वही है जो मानव–कल्याण में सहायक हो। मानव–कल्याण का धर्म सभी व्यक्तियों की पूर्णता की संभावनाओं की अधिकतम प्राप्ति करना है। यही नैतिक शुभ है। मानव की भौतिक और मनोवैज्ञानिक प्रकृति तथा उसके सामाजिक इतिहास को देखते हुए इसके अतिरिक्त और कोई नैतिक शुभ नहीं हो सकता। इस नैतिक शुभ की प्रामाणिकता स्वयंसिद्ध है। प्रश्न केवल यह है कि इस आदर्श को कैसे प्राप्त किया जाये। मार्क्स के अनुसार उत्पत्ति के साधनों पर सशस्त्र विद्रोह द्वारा शोषकों द्वारा अधिकार करना और सर्वहारा वर्ग के हाथ में शासन आना प्रथम शर्त है।

5.2.15 मार्क्सवादी नीतिशास्त्र की आलोचना

मार्क्सवाद की कठिनाइयों और उसके दोषों को समझने के पूर्व दो तथ्यों को स्वीकार करना आवश्यक है। पहला तथ्य यह है कि मार्क्स ने अपने औद्योगिक युग की अप्रकट हिंसा और विषमता को भली–भाँति समझा और भौतिक घटनाएँ एवं समाज का आर्थिक ढाँचा किस प्रकार मनुष्य की कला, संस्कृति, नैतिकता और उसके धर्म व दर्शन को प्रभावित कर सकते हैं, इसे पहली बार उसी ने समझने की कोशिश की। अभी तक अर्थ के महत्त्व को किसी विचारक ने इतनी गहराई से नहीं समझा था। क्षुधातुर व्यक्ति को धर्म नहीं चाहिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गांधीजी के शब्दों में भूखे व्यक्ति का ईश्वर रोटी ही है। अत: जिस प्रकार फ्रायड के बाद मनोविज्ञान के क्षेत्र में सभी विचारकों ने काम-वृत्ति को उपेक्षित करना अनुचित समझा उसी प्रकार मार्क्स के बाद अर्थ के महत्त्व को राजनीति में भली-भाँति समझा जाने लगा।

दूसरा तथ्य यह है कि मार्क्स के पहले अधिकांश नीतिशास्त्र अध्यात्म से जुड़ा होने के कारण केवल पुस्तकों की धरोहर या विचारकों की कल्पना का अंग बन गया था। मार्क्स का भौतिकवाद प्रतिशोध स्वरूप एक उचित प्रतिक्रिया थी। प्रकृति-विकास में यह एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में उदय हुआ। अध्यात्मवादी विचार प्राय: इस कल्पना में मग्न रहा कि अध्यात्मवाद या आदर्शवाद की यह सुन्दर मान्यता है कि जो मेरा है वह तुम्हारा है कृपया लीजिये। इस पर भौतिकवाद ने मानो यह प्रतिक्रिया की, कि तुमने देने का सदैव वादा किया किन्तु दिया कभी नहीं, इसलिए जो तुम्हारा है वह मेरा है मैं इसे छीनूंगा। संभवत: इतिहास का यह स्वाभाविक लेकिन कड़वा सत्य था। इसीलिए मार्क्सवाद ने मानव-समाज के एक बड़े अंश को प्रभावित किया। अत: समाजवादी मानववाद के विचार को समूल उखाड़ फेंकना संभव नहीं है। फिर भी निम्नलिखित कठिनाइयाँ विचारणीय हैं -

1. मार्क्स ने जिस तत्त्व-दर्शन पर अपने नीतिशास्त्र को आधारित किया है वह नीतिशास्त्र और नैतिकता का विरोधी है। नैतिक उत्तरदायित्व और मानव सम्बन्धों में विकास की कल्पना बिना संकल्प-स्वातंत्र्य के धूमिल हो जाती है। मार्क्स के द्वन्द्वात्मक जड़वाद में मनुष्य भौतिक एवं विशेष रूप से आर्थिक नियतत्ववाद से नियंत्रित है। यह सही है कि मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है फिर भी यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। मनुष्य अपने दृढ़ संकल्प एवं उच्च आदर्शों से परिस्थितियों को बदल देता है। महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और गांधी इस बात के प्रमाण हैं कि प्रबल संकल्पशक्ति मानव में है ओर वह सभी नियंत्रणों को तोड़कर अपनी सत्ता स्थापित करती है। मार्क्सदर्शन में नैतिक विकास और मानव की पराधीनता का व्याघात है। साथ ही मार्क्स आर्थिक स्वतंत्रता की बात तो करते हैं लेकिन विचार-स्वतंत्रता को रूढ़िवाद कहकर समाप्त कर देते हैं। यह सच है कि आर्थिक समानता से मानव का विकास होगा फिर भी मात्र यही समानता पर्याप्त नहीं है। विरोधी विचार व आस्थाएँ, यश की भूख, शक्ति का लोभ एवं विशिष्ट गुण-सम्पन्नता समानता के विरोध में रहती है। आर्थिक समानता की परिधि में पति-पत्नी, माँ-बेटा, व्यक्ति-समाज, आदि के सम्बन्ध नहीं समा सकते। ये एवं अन्य सम्बन्ध मानवीय होने के कारण आर्थिक समानता से उत्पन्न नहीं होते हैं। परन्तु मार्क्स ने इन सभी सम्बन्धों को आर्थिक स्वतंत्रता से समझाने का प्रयत्न किया और यह उनकी भूल थी।

2. मार्क्स ने अर्थ की आधारशिला पर समानता, स्वतंत्रता और बन्धुत्व की भावनाओं को समझाया है। परन्तु आर्थिक सम्पन्नता आंतरिक चेतना का निर्देशन नहीं करती। क्या आर्थिक दृष्टि से समान व्यक्ति मानसिक रूप से समान हो सकते हैं? स्नेह और भ्रातृत्व की सहज मानसिक चेतना आर्थिक समानता का कारण बन सकती है परन्तु आर्थिक समानता स्नेह की चेतना की समानता नहीं उत्पन्न कर सकती। आंतरिक चारित्रिक पवित्रता से ही नैतिक बनना संभव है। इसमें संदेह नहीं है कि आर्थिक विषमता ने चारित्रिक दोष उत्पन्न किये परन्तु आर्थिक समानता समाज को नैतिक बना देगी यह नहीं कहा जा सकता है। बाह्य समानताएँ कभी भी आंतरिक समानताएँ उत्पन्न नहीं करती हैं। क्या आर्थिक दृष्टि से समानता प्राप्त परिवार आपस में नैतिक रहते हैं? संभवत: इसीलिए गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा मानसिक पवित्रता पर बल दिया ताकि स्वत:स्फूर्त नैतिकता बाह्य समानताओं को ला सके।

3. मार्क्सवादी नीतिशास्त्र में शारीरिक और आर्थिक मूल्यों पर बड़ा बल है। आर्थिक मूल्य महत्त्वपूर्ण भी है परन्तु नैतिक लक्ष्य के रूप में यह मूल्य एक साधन ही है। चेतन प्राणी होने के कारण मनुष्य ज्ञान, सदाचार वृत्ति, सौन्दर्य, आदि उच्चतर मूल्यों को भी प्राप्त करना चाहता है। इस दृष्टि से मार्क्स ने मानव-स्वभाव को संकुचित रूप में ही समझा और इसीलिए जीवन की एकाकी व्याख्या की। जीवन सदैव ऊर्ध्वगामी होना चाहता है। वह शारीरिक सुख के परे वैचारिक व आत्मिक सुख की खोज करता है। यह समस्त मानव-प्राणियों में छिपी हुई पूर्णता की भावना है जो अदम्य है और वैयक्तिक स्वतंत्रता व विभिन्नता की अपेक्षा रखती है। लेकिन मार्क्सवादी नीतिशास्त्र में सामूहिकता के लिए वैयक्तिकता का हनन किया जाना उचित माना जाता है। लेकिन यह सत्य केवल अपवाद स्वरूप ही ग्राह्य हो सकता है। इस कारण से मार्क्स का नीतिशास्त्र यद्यपि सभी नैतिक समस्याओं को उठाता तो है परन्तु आर्थिक समानता के एकमात्र समाधान से उसे अत्यन्त संकुचित बना देता है।

4. मार्क्सवादी मानव-कल्याण अर्थात् सभी व्यक्तियों के जीवन की संभावनाओं के अधिकतम विकास के लक्ष्य को स्वीकार करता है परन्तु व्यवहार में पूँजीपतियों को नष्ट करके सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित करता है। यह अधिनायकवाद शासक को पूँजीपति बनाता है। अभी तक किसी मार्क्सवादी देश में वर्गहीन समाज नहीं बन पाया है और न आशा ही है। केवल सम्पत्ति का

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थानान्तरण हो रहा है। फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के अनुसार निषेध का निषेध होना सदैव आवश्यक भी है। अत: यह मानना पड़ेगा कि वर्गहीन समाज की अवस्था भी कायम न रह सकेगी और नैतिक समस्या दूसरे रूप में उठेगी। अत: आर्थिक समानता शाश्वत हल नहीं बन सकता है।

5. मार्क्स द्वारा प्रस्तुत साधन-साध्य की व्याख्या भ्रामक है। अच्छे साध्य को बुरे साधन से प्राप्त किया जा सकता है परन्तु यह राजनीति में चाहे उचित हो लेकिन नीतिशास्त्र इसे स्वीकार नहीं कर सकता है। नीतिशास्त्र परिणामवादी बनकर दूषित हो जाता है। नैतिकता परिस्थिति पर विजय का नाम है। इसीलिए महान् विचारकों ने साधन और साध्य दोनों की ही पवित्रता पर बल दिया है। साथ ही राजनीति को धर्म और नैतिकता पर आधारित करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से मार्क्स द्वारा हिंसा पर बल देना प्रतिशोध की ज्वाला को जागृत बनाये रखना है। प्रेम ही प्रेम को जन्म देता है और हिंसा हिंसा को जन्म देती है। शक्ति से रक्तपात करके शांति स्थापना क्षणिक होगी और पुन: अशांति उमड़ेगी। इस प्रकार मार्क्सवादी नीतिशास्त्र शत्रुता का नीतिशास्त्र है और यह उदार संस्कृति और सभ्यता का विनाशक होगा।

6. मार्क्सवाद नैतिकता को सापेक्ष मानता है और भिन्न-भिन्न सामाजिक संदर्भों में यह बात सही भी है। फिर भी नैतिक नियम निरपेक्ष भी होते हैं। यह निरपेक्षता शुद्ध बुद्धि एवं पवित्र अन्तरात्मा पर आश्रित होती है। मात्र सामाजिक प्रचलन के प्रारम्भ होने या समाप्त होने को नैतिकता की सापेक्षता नहीं कहेंगे। प्रचलन नैतिकता नहीं है प्रथा है। क्या सारा समाज चोर हो तो इसे नैतिक कहा जायेगा? प्रश्न यह नहीं है कि क्या होता है वरन् यह है कि क्या होना चाहिए। इसीलिए सुकरात, कान्ट और गांधी ने निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त दिये। गांधी जी ने तो यहाँ तक कहा कि निरपेक्ष नीतिशास्त्र की वैधता को अस्वीकार करना समुद्र में जलपोत से उसका दिशासूचक यंत्र छीन लेना है। आशय यह है कि निरपेक्ष नैतिकता के अभाव में सही निर्देश नहीं मिलता है। हमें याद रखना चाहिये कि किसी परिस्थिति का सत्य सदैव एक होता है मत अनेक होते हैं।

7. मार्क्स की इतिहास की व्याख्या कि वर्ग संघर्ष सदैव अर्थ के कारण हुए हैं गलत है। भारत में अनेक युद्ध केवल स्त्री या प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए हुए। साथ ही राजा-प्रजा में कटुता भी नहीं थी, जैसी मार्क्स ने कल्पना की है। भारत में इसीलिए अशोक को देवों का प्रिय सम्राट माना जाता था। इस प्रकार विभिन्न देशों के इतिहास में मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। सचमुच मार्क्स ने अतिवादी रूप में अर्थ व वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त का सामान्यीकरण किया है।

8. मार्क्सवादी नीतिशास्त्र एक प्रतिक्रियात्मक प्रक्रिया है जो युग सापेक्ष है। नीत्शे, फ्रायड व अन्य एकांगी विचारकों की भाँति मार्क्स ने अपने युग में व्याप्त आर्थिक विषमता को उसके विकृत रूप में देखा, इसलिए उन्होंने विद्रोह किया था।

5.2.16 कार्ल मार्क्स एवं सर्वोदय

यह निश्चित रूप से सत्य है कि समाजवाद पर लिखने वालों में मार्क्स सबसे पहले व्यक्ति नहीं थे। उनके समय से पहले भी समाजवादी विचारों की अच्छी फसल उत्पन्न हो चुकी थी। प्लेटो और अरस्तु जैसे प्राचीन महापुरुषों को छोड़ भी दें तो सेन्ट साइमन (St. Simon) और गुइजोट (Guizot) थे, जिन्होंने वर्ग-संघर्ष के विचार को फैलाया था। प्रोउधान (Proudhon) ने 'सम्पत्ति एक चोरी है', इस विचार की पुष्टि की, फोरियर (Fourier) ने मध्यवर्ग को व्यापारिक अत्याचार की संज्ञा दी थी, सिसमौण्डी (Sismondi) के विचार में व्यापारिक उन्नति और मंदी अनिवार्य संकटकाल के सहायक हैं तथा ओवेन (Owen) की व्यवस्था थी कि औद्योगिक युग प्रतियोगिता पर आधारित न होकर सहयोगिता पर आधारित होगा। मार्क्स इन सभी सिद्धान्तों से ऊपर उठ गये, इसका कारण यह है कि इन समाजवादी विद्वानों ने गंभीर रूप से अपने विचारों के अनुरूप समाज के गठन की चेष्टा न की, और न ही इससे सम्बन्धित दूसरे प्रश्न पर ही विचार किया कि यदि उनके विचार कार्यरूप में परिणत भी हुए तो इनका व्यावहारिक रूप क्या होगा, प्रो. सी.इ.एम. जोड कहते हैं कि ''ओवन एवं फोरियर सहित उनमें से अधिकतर विद्वान् सामाजिक सिद्धान्तवादी प्रेरणा से ओतप्रोत होकर इस अखण्ड विश्वास से भरे हुए थे, कि उन्हें सिर्फ लोगों का ध्यान अपनी योजनाओं की पूर्णता की ओर आकर्षित कर देना है और ऐसी स्थिति स्वयं ही आयेगी जब मनुष्य स्वत: अपनी इच्छाओं के दबाव में आ उन योजनाओं को कार्यान्वित कर देंगे। उन विचारकों के सभी अनुसंधान असफल सिद्ध हुए, किन्तु मार्क्स सफल रहे। वे पहले समाजवादी लेखक हैं, जिन्हें वैज्ञानिक कहा जा सकता है, कारण उन्होंने समाज की रूपरेखा को ही सिर्फ अंकित नहीं किया वरन् जिन स्तरों पर और चरणों से होकर इसका विकास होगा, इसकी विवेचना भी की।'' इस रूप में मार्क्स को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राजनैतिक तथा आर्थिक सिद्धान्तों के वैज्ञानिक प्रणेता के रूप में एक विस्फोटक पदार्थ की तरह माना जाता है, या यों कहें कि वे जर्मन लोगों की पूर्णता एवं अंग्रेजों के न्यायालय-सम्बन्धी योग्यता के बेजोड़ मिश्रण थे। अपने पूर्ववर्ती समाजवादी चिंतकों के लिए उनके मन में तिरस्कार की भावना ही थी।

अत: मार्क्स पूर्णरूप से मौलिक थे। मार्क्सवाद एवं सर्वोदय विचार और कार्य दोनों ही वह क्रांति है जिनका जन्म समाज में वर्तमान असमानता तथा उत्पीड़न की प्रतिक्रियास्वरूप ही हुआ। दोनों ही उस गहन मानवता के संक्षिप्त रूप हैं जो लोगों को अपने सहयोगियों के कष्टों को दूर करने की प्रेरणा देते हैं। यह भी सत्य है कि मार्क्सवाद और सर्वोदय दोनों एक-दूसरे के समानान्तर दौड़ रहे हैं और इनका मिलन कभी भी संभव नहीं हो सकता। मार्क्सवाद मानव-मस्तिष्क का सबसे शक्तिशाली प्रयास है, जिसके द्वारा संसार के मौलिक पापों को कम किया जा सकता है, अर्थात् यह दरिद्रता एवं असमानता को दूर करने का प्रयत्न है, जो असमानतावाद और औद्योगीकरण की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुए हैं। सर्वोदय का उद्देश्य भी यही है पर वह इसे बिना हिंसा के या सामाजिक ढाँचे में तोड़-फोड़ लाये पूरा करना चाहता है। सामन्तवाद या पूँजीवाद को इतनी शक्ति नहीं, इतना सामर्थ्य नहीं कि वह सर्वोदय के तेज को धूमिल कर सके।

मार्क्सवाद का जन्म फ्रांसीसी क्रांति की विफलता, एवं औद्योगिक क्रांति के द्वारा रोपे गये असमानता के फलस्वरूप हुआ। फ्रांस की क्रांति मार्क्स के मतानुसार उच्चवर्गीय क्रांति थी। मध्यवर्ग के लोगों द्वारा जमींदार एवं पुरोहितों के राजनैतिक प्रधानता को नष्ट करने का ही यह प्रयत्न मात्र था। मध्यवर्ग अपना राजनैतिक अधिकार प्राप्त करना चाहता था और सामन्तवादी अवशेषों को धो डालना चाहता था जो बढ़ती हुई पूँजीवादी उत्पादन के मार्ग में रुकावट बन रहे थे। किन्तु हर क्रांति की यह प्रकृति है कि वह एक वर्ग की शक्ति छीन कर दूसरे वर्ग को सौंपती है और शोषित वर्ग के मूल समस्याओं का कोई समाधान नहीं निकाल पाती। यह हिगेल के अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता नहीं वरन् अभावात्मक स्वतंत्रता है। किसी महान धर्म की तरह राजनैतिक क्रांति भी मनुष्यों को स्वतंत्रता का छलावा दिखाकर सच्ची दासता में जकड़ देती है। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में जो औद्योगिक विकास हुआ, उसने सर्वप्रथम तो एक सुविधाजनक छोटे से वर्ग को, जिनके पास उत्पादन के साधन थे, आगे बढ़ाया और दूसरा काम इसने यह किया कि बहुत बड़ी संख्या में सम्पत्तिहीन गरीब मजदूरों को भी जन्म दिया। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक विवेचन के दौरान यह सिद्ध किया कि एक ऐसी संस्था है जो अनवरत उस सम्पत्तिहीन वर्ग का विस्तार करता जा रहा है। ऐसे लोग सिर्फ मजदूरी द्वारा ही जीवन-यापन कर सकते हैं और इनका अपने मालिकों के साथ सिर्फ वेतन पाने तक का ही सम्बन्ध है। मार्क्स यह अच्छी तरह जानते थे कि औद्योगिक क्रांति के पहले भी मालिक एवं मजदूर होते थे। उस समय भी छोटे पैमाने पर पूँजीपति होते थे, पर जिस तथ्य ने उनका ध्यान सबसे अधिक आकर्षित किया, वह था वर्तमान समाज की एक अजीब विशेषता अर्थात् पूँजीपतियों का एक वर्ग के रूप में प्रधानता और महत्ता। राज्य के संगठनों द्वारा भी पूँजीपतियों की महत्ता को प्रश्रय देना तथा पूँजीपतियों का पूरी आर्थिक प्रक्रिया में गरीब मजदूरों द्वारा विरोध किया जाना। पूँजीवाद वर्तमान समाज के ऐतिहासिक विकास के पथ पर मील-स्तम्भ की तरह दृढ़ है, परन्तु इस पूरे मार्ग में जीवन से विमुख लोग और सीमित विकास तथा दुखी और दरिद्र लोगों के दर्शन होते हैं जो लम्बी कार्यावधि तथा कम मजदूरी के परिणाम हैं। अत: मार्क्स ने फ्रांस की क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति - दोनों के द्वारा उत्पन्न बुराइयों को दूर करना चाहा। उन्होंने समाज में सर्वाधिक महत्ता से परिपूर्ण एक ऐसा परिवर्तन लाना चाहा जैसा संसार ने अब तक कभी भी न देखा था। दूसरे शब्दों में यो कहें कि औद्योगिक मजदूरों या सामान्य भाषा में सर्वहारा लोगों के बीच जागरूकता लाना तथा फिर उन्हें राजनैतिक सत्ता के प्रति उन्मुख करना उनका लक्ष्य था। प्रकृति उन्हें मनुष्य के प्रतिकूल नहीं वरन् सहायता प्रतीत हुई। आदर्शवादी आत्मा को मान्यता देते हैं, उनकी मान्यता है कि जागरूकता है, क्रियाशील है, एक गतिशील आधार है, वे पदार्थ पर जागरुकता की प्रधानता स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। उनके मतानुसार प्रायश्चित्त या शुद्धिकरण आत्मा को स्वतंत्र करता है मोक्ष के लिए पथ प्रशस्त करता है, और इस प्रकार मनुष्य को सच्ची आजादी मिलती है। वे प्रकृति को आत्मा के प्रतिकूल तत्व में बदल देते हैं लेकिन मार्क्स का विश्वास दूसरा था। उनके लिए प्रकृति ही विश्व है जो पदार्थ है, जिसका नाना रूपों में आविर्भाव हुआ है। मनुष्य का इस संसार में प्रादुर्भाव इसलिए नहीं हुआ कि पदार्थ को अपने अस्तित्व के लिए मनुष्य की आवश्यकता थी।

मनुष्य की उत्पत्ति विकास के प्राकृतिक नियमों के द्वारा ही हुई है। प्रकृति सदा से ही मनुष्य के लिए मित्रवत एवं उदार रहा है। मनुष्य भी अपने जीवन-यापन के सभी साधन प्रकृति से ही प्राप्त करता है। मनुष्य प्राकृतिक उत्पादनों का सार तत्त्व सामाजिक श्रम में प्रकृति के साथ उत्पादक बंधन में मानता है, अन्य लोगों के साथ भी अपनी तरह सामाजिक सम्बन्धों एवं सच्चे लक्ष्य की अनुभूति में आस्था रखता है। आगे चलकर मार्क्स कहते हैं कि पूँजीवाद के सामाजिक ढाँचे का पुराने एवं अव्यवस्थित स्वरूप के कारण ही, भौतिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लाभों का विशाल एवं असीमित व्यवहार प्रकृति के गर्भ में अछूते पड़े हुए हैं और उन्हें मानवमात्र के सुख-सुविधा के लिए उपलब्ध नहीं किया जा सकता है। प्रकृति के पास यहाँ अभी भी वास्तविक प्रसन्नता है। मार्क्स व्यावहारिक एवं लौकिक विचारक थे। वे प्रकृति के अगाध शक्ति को सभी लोगों के लिए सफलतापूर्वक काम में लाना चाहते थे, प्रकृति के अनुदान का लाभ सबों को देना चाहते थे। विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान ने मानव समाज को महान आविष्कारों से युक्त किया है, जिनके द्वारा अभी भी यह संभव है। यदि हम समाज को सुसंगठित कर लें तो ऐसी सामाजिक विपदाओं - जैसे युद्ध, बेरोजगारी, दरिद्रता, भूख, रोग, भय और भविष्य की अनिश्चितता का नाश कर सकते हैं। मार्क्स ने कहा कि प्रकृति की सम्पदा पर महान् मानवीय लक्ष्य जनकल्याण के लिए अधिकाधिक विजय प्राप्त करने की कुँजी समाजवाद है। यही कारण है कि उन्होंने समाजवादी समाज के झंडे को ये शब्द दिये - 'जनकल्याण ही सर्वोच्च उद्देश्य हो'।

उन्होंने पूँजीवादी समाज के ढाँचे की गहराई में जाने का प्रयास किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हर राजनैतिक विवाद में एक न एक आर्थिक मसला निहित होता है। इस अनुभूति को चुनकर ही उन्होंने इतिहास का आर्थिक विश्लेषण किया। आदिकाल से ही समाज दो प्रतिकूल वर्ग को प्रतिबिम्बित करता रहा है। सम्पन्न वर्ग तथा विपन्न वर्ग और इनका सामान्य लक्ष्य नहीं होता है। इस प्रकार सम्पन्न वर्ग सदा से ही राजनैतिक और वैधानिक संस्थाओं के द्वारा विपन्न वर्ग की सभी सुख-सुविधाओं एवं विकास के संयोग का लाभ उठाता रहा है। इतिहास के मार्क्सवादी दर्शन के अनुसार इसी विभिन्नता के तत्त्व सामन्तवादी, पूँजीवाद या हर प्रकार के सामाजिक ढाँचे में मौजूद हैं और इसी कारण संघर्ष, क्रांति एवं परिवर्तन आते हैं। मार्क्स पिछले सभी सामाजिक वादों की तरह पूँजीवाद को भी क्षणभंगुर मानते थे, यह पूँजीवाद का विरोधाभाव उत्पादन के बदले सामाजिक एवं सहकारी प्रकृति का है जो उत्पादन की नई शक्ति में नितान्त आवश्यक बन गई है, कारण इन नई शक्तियों से मुक्त मनुष्य हो या फिर व्यक्तिगत मालिक ही उत्पादन के साधन बनते हैं। यह विरोधाभाव अपना अस्तित्व दोनों वर्गों में बनाये हुए हैं, पूँजीवादियों में भी और श्रमिक वर्ग में भी। पूँजीपति यदि उत्पादन के भौतिक साधन पर अधिकार रखते हैं तो दूसरा वर्ग और कुछ नहीं तो श्रमशक्ति उत्पादन के गतिशील साधन पर कब्जा किये हुए हैं। इन दोनों वर्गों के बीच अनिवार्य प्रतिकूलता ही संघर्ष के रूप में प्रतिफलित होता है, कारण इनके स्वार्थ भी परस्पर विरोधी ही हैं। दुर्भाग्यपूर्ण वर्ग को अपने अनुकूल मौके का इंतजार करना पड़ेगा। अतः ऐतिहासिक न्याय यह माँग करता है कि अगर समाज स्वाभाविक ढंग से पददलित वर्ग को सुख-सुविधा प्रदान न करे, तो आँधी आना अनिवार्य भी है, जिसमें पुरातन समाज ध्वंस होता है और समाज का पूर्णरूपेण परिवर्तन हो जाता है। अपने समय में भी मार्क्स ने अनुभव किया कि हर संभव कदम उठाना चाहिए ताकि समाज का अगला रूपान्तरण जल्द हो, ऐसा रूपान्तरण, जिसमें आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचे का आमूल परिवर्तन हो, जिसे लाने के लिए संघर्ष होना निश्चित है। संघर्ष भी ऐसा, जिसमें युद्धप्रिय मजदूर वर्ग हिंसा का सहारा लें ताकि वे पूँजीपतियों को बेदखल कर दें। यह प्रक्रिया तब तक चालू रहेगी जब तक कि संलग्न प्रतिवाद या विरोध नष्ट न हो जाय।

पूँजीपतियों के प्रति मार्क्स का इतना कड़ा रूख रहने का कारण उनकी यह खोज है कि हर काम के लिए श्रम की आवश्यकता पड़ती है, फिर भी श्रमिक ही श्रम के द्वारा उत्पन्न लाभ और सुख-सुविधा से वंचित रह जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन-यापन के साधनों का, सामाजिक उत्पादक कर्त्ता तथा समाज के अस्तित्व का आधार है। प्रकृति ने कुछ वस्तुओं और पदार्थों को, जो सार्वभौमिक है, मनुष्य को प्रदान किया है। फिर भी कुछ पदार्थों का सृजन मनुष्य प्राकृतिक उत्पादनों द्वारा अपनी बुद्धि की सहायता से स्वयं भी करता रहा है। मशीनों का आविष्कार एवं भाप तथा विद्युतीकरण शक्ति ज्ञान आदि अभावों पर विजय पाने के लिए किया गया। मार्क्स के अनुसार श्रम मानव अस्तित्व की स्वाभाविक स्थिति है, मनुष्य और प्रकृति को बनाये रखने की एक उपापच्य (Metabolism) अवस्था है और यह सभी प्रकार के सामाजिक प्रारूपों से स्वतंत्र है। श्रम वस्तुओं एवं चीजों का निर्माण करता है, जिससे मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती है। दूसरे शब्दों में श्रम इन वस्तुओं का प्रायोगिक मूल्य होता है। प्रायोगिक मूल्य उत्पादित वस्तुओं से भिन्न है, भिन्न-भिन्न अनुपात में श्रम एवं प्रकृति के उपादान निहित होते हैं और वे विशेषताएँ, जो किसी वस्तु को प्रायोगिक मूल्य प्रदान करते हैं वे ही पूँजीवादी प्रणाली में विनिमय मूल्य के भौतिक और ठोस वाहक भी है। एरिक रौल मार्क्स के कथनों के आधार पर ही उनके विचार को सही तरीके से व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि, ''किसी भी वस्तु का विनिमय मूल्य और कुछ भी नहीं वरन् मानवीय श्रम के जमाव का ही अंश मात्र है, इसका माप मूल्य निर्धारित करने वाला पदार्थ की मात्रा अर्थात् इसमें निहित श्रम ही है। श्रम की इस मात्रा का माप, वस्तु के उत्पादन पर व्यय हुए श्रमकाल से ही आँका जा सकता है। किसी वस्तु के विनिमय मूल्य का मापदण्ड उस वस्तु के उत्पादन के दौरान सामाजिक आवश्यकतानुसार खर्च किया गया श्रमकाल है। आवश्यक सामाजिक श्रमकाल वह श्रमकाल है, जो किसी भी वस्तु के प्रयोग मूल्य के उत्पादन के लिए समाज द्वारा निर्धारित किया जाता है। यह सामान्यतः समाज की औसत कार्यक्षमता और श्रम की गहनता के आधार पर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निर्धारित होता है। इस प्रकार आवश्यक सामाजिक श्रमकाल तथा विनिमय-मूल्य के सिद्धान्त पर मार्क्स बारम्बार बल दे रहे थे और अपने द्वारा प्रतिपादित शोषण के सिद्धान्त के लिए आधार बना रहे थे। कारण, यही सिद्धान्त आगे चलकर क्रांति का जयघोष बन गया। विनिमय-मूल्य के प्रतिपादन के तुरत बाद मार्क्स अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त की ओर बढ़े। संक्षेप में, जोड़ के शब्दों में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है, ''निरीह श्रमिकों के श्रम-शक्ति का क्रय पूँजीपति करते हैं और अपने कल-कारखाने तथा कच्चे माल के व्यवहार में इसे लगाते हैं, फलस्वरूप ऐसी चीजों का उत्पादन होता है, जो विनिमय-मूल्य से परिपूर्ण होता है। श्रमिकों के श्रम की मजदूरी एवं कल-कारखानों के रख-रखाव में जो खर्च बैठता है, उन सबसे कहीं अधिक कीमतों पर ये चीजें बेची जाती है। उत्पादित वस्तु के विनिमय-मूल्य एवं श्रमिकों को पारिश्रमिक के रूप में जो मजदूरी दी जाती है, इन दोनों के अंतर को ही अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। अत: अतिरिक्त मूल्य श्रमिकों के श्रम के द्वारा ही निर्मित होता है और मालिकों की नियुक्ति करने वाले पूँजीपति अपने लिए इसे सुरक्षित रखते हैं यथार्थ में यह वह उत्पादन है, जिसकी मजदूरी नहीं दी जाती है।''

एक अत्यन्त छोटा वर्ग-पूँजीपति वर्ग के द्वारा अतिरिक्त मूल्य को जबरन आत्मसात करना ही पूँजीपतियों द्वारा प्रभावित इस समाज में वास्तविक असमानता को जन्म देती है। वर्तमान प्रणाली में अतिरिक्त मूल्य को जबरन दखल कर लेना ही अन्याय का मुख्य स्रोत है और समाजवाद के सभी रूप या प्रकार इसे दूर करना चाहते हैं। वर्तमान श्रमिक गुलामों की तरह किसी प्रकार की अनिवार्यता के दबाव में आकर अतिरिक्त मूल्य का सृजन नहीं करते, यह सच है पर उनके पास इससे बचने का कोई दूसरा मार्ग भी नहीं है। उन्हें जानबूझकर परिस्थितियों के दबाव स्वरूप इस प्रकार का समझौता करना पड़ता है, इससे पूँजीपतियों को अधिक लाभ पहुँचता है और असहाय श्रमिक स्वयं किसी प्रकार अपना जीवन-यापन भर कर पाते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि भेड़िया उनके दरवाजे पर निरन्तर उपस्थित रहता है। मार्क्स इसे आर्थिक निर्धारणवाद कहते हैं। उनका कहना है कि ये सामाजिक सम्बन्ध ही समाज के आर्थिक ढाँचे का निर्माण करते हैं और इन पर राजनैतिक तथा वैधानिक संस्थाओं की उच्चरेखा निर्मित होती है। यहीं से विचार एवं विचार की श्रृंखला का जन्म होता है, जो अंत में समाज के आर्थिक ढाँचे में ही परिलक्षित होता है। पूँजीपतियों द्वारा मूलत: जो अन्याय किया गया वह बड़ा ही दारुण तथा सहनशक्ति के परे था। इस कारण विस्तृत क्रांति की आवश्यकता थी ताकि सर्वहारा वर्ग की बढ़ती हुई संख्या के लिए, भूमि को उपयुक्त बनाया जा सके।

वास्तव में मार्क्स का वह संदेश या पद्धति क्या है, जिसने आज भी सारे संसार को जकड़ रखा है? यदि पूँजीवाद मूलत: परान्नभोजी है और समाज के मानवीय तत्त्वों को ही आत्मसात् करता है, तब ऐसी अवस्था में इसकी गंभीर शल्य चिकित्सा होनी चाहिये। श्रमिकों के लिए एक क्रांतिकारी आह्वान समय की अनिवार्यता है। अत: मार्क्स ने इस नारे का उद्घोष किया संसार के श्रमिकों, एक हो। इस नारे को आशातीत समर्थन प्राप्त हुआ। इसकी सफलता का रहस्य यह है कि इसने श्रमिकों को यह आश्वासन दिया कि उनकी विजय निश्चित है, पूँजीपति वर्ग का सत्ताविहीन होना अवश्यंभावी है। पूँजीपतियों से यदि छुटकारा पाना है, तो श्रमिक वर्ग एक होकर अपने वर्ग के लाभों को ही अपना उद्देश्य मान कर कार्य करें। मार्क्सवाद के अनुयायियों को यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि मार्क्सवाद जितना क्रांतिकारी है उतना विकासशील नहीं। यह वैसे सुधार में आस्था नहीं रखता जो क्रमश: धीमी गति से चलने वाली प्रक्रिया के द्वारा अपना स्थान महत्त्वपूर्ण बनाता है, यह तो सर्वहारा वर्ग के लिए सम्पूर्ण एवं एकाएक परिवर्तन लाने की इच्छुक है। यदि जीवन को आरामदेह बनाना है तो समय के साथ चलना होगा, समय बड़ा ही बलवान है। यह किसी के लिए रुकता नहीं। इसी प्रकार क्रांति का ज्वार भी किसी व्यक्ति के लिए रुका नहीं रहेगा। यदि उस व्यक्ति के निष्कासन या ह्रास में ही गरीबों और दलितों की सामान्य भलाई निहित है तो क्रांति का ज्वाद भाटा उसे भी निगल कर रहेगा। अपनी सुविधा पर आश्रित नैतिकता के लिए मार्क्सवाद की कड़ी आलोचना की गयी है। आलोचकों द्वारा प्रदर्शित असंतोष की मात्रा युक्तिसंगत है या नहीं इसका विश्लेषण करना यहाँ पर हमारा लक्ष्य नहीं। हमारा उद्देश्य तो यह देखना है कि मार्क्सवाद ने किस हद तक जनसाधारण के कष्टों को दूर करने का प्रयास किया। मार्क्स के अनुसार वही एकमात्र असंगत एवं अनैतिक है जो सफल क्रांति के मार्ग को अवरुद्ध करता है। सर्वहारा वर्ग की क्रांति के प्रति अनन्त और अनवरत आस्था साम्यवादियों की अपनी विशेषता है। यह भिन्न-भिन्न देशों के बुर्जुआ नागरिकों के बीच की प्रतिद्वन्द्विता पर, यहाँ तक कि अपने देश के भी भिन्न-भिन्न बुर्जुआ समूहों के आपसी विरोध पर अपनी स्थिरता को आधारित किये रहता है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सर्वहारा वर्ग की भलाई और क्रांति का जो साथ देता है वही उनके विचार में नैतिक और सही है। इच्छित उद्देश्य की प्राप्त जिस साधन द्वारा होती है, वह सार्थक है, जो साधन इसे प्राप्त करने में असफल हो जाते हैं या उपयुक्त नहीं रहते उनका बहिष्कार करना चाहिये और साथ ही अन्य सहायक साधनों की खोज भी होनी चाहिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार मार्क्सवाद जीवन का एक सरल दर्शन था और लोगों ने इसका हार्दिक स्वागत किया। इसने लोगों को यह आश्वासन दिया कि आर्थिक एवं राजनैतिक झगड़ों का अंत निकट ही है। लोगों को इसके लिए दृढ़ संकल्प के साथ प्रयास करना चाहिए। मार्क्सवाद ने उन्नीसवीं सदी एवं बीसवीं सदी के विचार एवं प्रक्रिया को आप्लावित कर दिया और ऐसा करने में मंच पर उसके कई प्रतिद्वन्द्वी भी प्रकट हुए। इसकी सैद्धान्तिक आलोचना बहुतायत से की गयी। पाश्चात्य मस्तिष्क मार्क्सवाद के अधार्मिकता एवं सुविधा की नीति के स्वर में स्वर न मिला सका। कभी-कभी ऐंजेल्स भी मार्क्स के विचारों से सहमत नहीं होते थे। यदि श्रम का तात्पर्य, प्रयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य ही है तो श्रम का मूल्य कहने की जगह इसे मूल्य का समतुल्य भी हम कह सकते हैं, या ऐसा सोचना कि यदि हम शरीर के भार को निश्चित करना चाहें तो भार को ही निश्चित करना होगा। इसी प्रकार प्रकृति-प्रदत्त वस्तु के विनिमय-मूल्य को नापा नहीं जा सकता। मार्क्स उन्नीसवीं सदी के दुखान्त घटनाओं से न बच सके, जिसने परम्परा और आस्था को परीक्षा और प्रयोग से उच्च स्थान प्रदान किया और अधैर्यता को, स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया के ऊपर हावी होते हुए देखा।

राजनीति में भी मार्क्स ने आत्मविरोध की उक्ति का प्रदर्शन किया। एक ओर तो सामाजिक प्रतिमानों के आमूल परिवर्तन के लिए संस्था का संगठन चाहते रहे और दूसरी ओर समाजवाद की स्थापना के बाद राज्यविहीन अवस्था की कामना अराजकतावाद की तरह करते रहे। उनके व्यक्तित्व में ही विरोधाभाव था। सिद्ध पुरुष एवं वैज्ञानिक एक नहीं हो सकते। सिद्ध पुरुषों की तरह से उन लोगों पर क्रोधित थे, जो मार्ग में पुरुष और वैज्ञानिक कभी भी एक नहीं हो सकते। सिद्ध पुरुष की तरह वे उन लोगों की दुष्टता पर क्रोधित थे, जो मार्ग में रुकावट बने हुए थे और वैज्ञानिक के रूप में वे प्रजाति की प्रगति के लिए उन रुकावटों को हटाना भी आवश्यक समझते थे। फिर भी हम उसे नकार नहीं सकते कि मार्क्स ने एक उत्साह का संचार किया और लोगों की अनुरंजित निष्ठा प्राप्त की और वह विश्वासपूर्ण रूप से फैलाने में सफल हुए कि अन्त में सर्वहारा वर्ग विजयी होगा और पृथ्वी की सतह से पूंजीपतियों का नामोनिशान मिट जायेगा।

मार्क्सवाद का यही संसार व्यापी आह्वान ही इसे सर्वोदय के सम्मुख खड़ा करता है। भारत में मार्क्सवाद का अपना प्रभाव है, इसे अनादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता, परन्तु इसमें निहित हिंसा के कारण ही इसके प्रति घृणा की भावना पनपती है। विनोबाजी के शब्दों में गाँधीजी एवं मार्क्स दो माताओं की तरह हैं, कारण गाँधीवाद एवं साम्यवाद दोनों ही पददलितों के कल्याण की बातें माँ की ममता से परिपूर्ण होकर करते हैं। यही एकमात्र सम्बन्धित तथ्य है जो साम्यवाद को सर्वोदय के अध्ययन से संयुक्त करता है। डॉ. राधाकृष्णन ने अपने राजदूतीय पद को ग्रहण करने के लिए मास्को जाने के पहले ही कहा था कि साम्यवाद सभी बड़े मानव धर्मों में से एक है। वस्तुतः मार्क्सवादी दर्शन का केन्द्र बिन्दु मानव व्यक्तित्व ही है, यह मनुष्य के पद की मर्यादा की वृद्धि करता है। मनुष्य समाज या ईश्वर के सम्मुख अपने अनन्त एवं स्वाभाविक आवश्यकताओं के लिए प्रार्थी नहीं। मनुष्य दूसरों के परोपकार प्रवृत्ति पर निर्भर नहीं करता वरन् अपने व्यावहारिक मत पर आश्रित है। क्रांति का सम्पूर्ण मार्क्सवादी सिद्धान्त सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन के लिए सम्पूर्ण मार्क्सवादी कार्यक्रम, मनुष्य की मर्यादा को और भी अधिक सम्मानित करने का प्रयास है। साम्यवाद मनुष्य के अस्तित्व की रक्षा के लिए सामान्य जीवनदायक स्थितियाँ तथा परिवेश की स्थापना करना चाहता है, ऐसा परिवेश, जिसमें उसके निजी व्यक्तित्व की प्रतिभा का स्वाभाविक ढंग से प्रस्फुटन हो सके।

यही सभी धर्मों का और साथ ही सर्वोदय का भी मूलमंत्र है यद्यपि सर्वोदय कोई धर्म नहीं वरन् सभी महान धर्मों का सार तत्त्व है। साम्यवाद तथा सर्वोदय में अंतर भी है और यह अंतर कार्य-पद्धति का ही है। विनोबा जी ने स्वीकार किया है ''उनके साम्यवादियों और मेरे विचार में कुछ मतभेद भी हैं।'' वे आगे भी कहते हैं, ''दबाव तीन प्रकार के होते हैं - 1. हिंसा से डराकर दबाव डालना, 2. कानून के अनुदानों द्वारा दबाव का डालना तथा 3. सद्जन मत शक्ति का नैतिक दबाव, मैं तीसरे प्रकार के दबाव का स्वागत करता हूँ। यह मनुष्य में दिमागी परिवर्तन लाता है। कानून को शक्ति मनुष्य ही प्रदान करता है न कि अस्त्र-शस्त्र। मनुष्य को जागृत होना है, अपने विवेक को जागृत करना है। अपने स्नेह के श्रोत अनन्त शांति एवं समाज में संतुलन बनाये रखने के लिए प्लावित करना है। विधान और बन्दूक लोगों की भनभनाहट को तो दबा सकते हैं, पर अपनी स्वतंत्र इच्छा-शक्ति के द्वारा कुछ भी स्थापित नहीं कर सकते। साम्यवादी लोग इस आस्था से ही प्रारम्भ करते हैं कि संसार दो वर्गों में विभक्त है - गरीब और अमीर, अच्छे और बुरे। अमीर कभी भी अच्छे नहीं बन सकते और गरीब कभी बुरे नहीं हो सकते हैं। उनके लिए यह समझना बहुत ही गहन है। साम्यवाद इस आस्था को तनिक भी प्रश्रय देने को तैयार नहीं है कि दोनों वर्गों में भी अच्छे और बुरे लोग होते हैं। उनके लिए यह समझना कठिन है कि दुर्याधन के पक्ष में यदि भीष्म, द्रोण एवं कृपा थे तो इस कारण कि उस समय ये लोग परिस्थितियों के दास हो गये थे। बहुत-से ऐसे भी पूँजीपति लोग हैं जिनकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मा एक सुधारक की है, फिर भी वे ऐसी बन्द गाड़ियों में घूमते हैं जिसमें चालक का स्थान बिल्कुल अलग होता है और जनता के अभावों से वे अवगत नहीं होते तथा जनता के क्रोध को उभाड़ते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे धनी भी हैं जो गरीबों के नेता हैं, जिनके पास निजी कई भवन हैं, मोटरकार हैं, फिर भी वे पैदल ही चलते हैं, और गरीब-दु:खी जनता के लिए व्यवस्था में लगे रहकर प्रशंसा अर्जित करते हैं। साम्यवादी इस निष्कर्ष पर कदापि पहुँचने को तैयार नहीं कि मानव सभ्यता का इतिहास इतना चित्ताकर्षक नहीं होता यदि इसमें अपने समय के उदार धनी दाताओं की गाथाएँ गुथी हुई न होतीं। सर्वोदय साम्यवादी विचार की कमजोरियों पर ध्यान रखते हुए दोनों ही पक्षों की अच्छाइयाँ और सहानुभूति को प्राप्त करना चाहता है।''

साम्यवादियों द्वारा समृद्धशाली लोगों के बीच अच्छे लोग नहीं होते ऐसी मान्यता रखना बिना इस तथ्य की परीक्षा किये हुए, यह उनकी राजनैतिक निपुणता के अभाव का ही द्योतक नहीं वरन् मनुष्य की मौलिक एकता की भावना पर भी कुठाराघात है। समाज उद्विकास के पथ पर विभिन्न स्तरों को पार करते हुए प्रगतिशील है, और समाज में पाये जाने वाले अमीर तथा गरीब वर्ग का संस्तरण भी मनुष्य की मौलिक एकता का विरोध नहीं करता। सर्वहारा वर्ग के बीच क्रांति की परिकल्पना एक महत्त्वपूर्ण घटना है - इसमें दो राय नहीं, परन्तु स्त्री-पुरुष की बहुत बड़ी संख्या इससे लाभान्वित होने से वंचित ही रह गयी। अत: सर्वोदय स्वाभाविक फलाफल के रूप में आगे बढ़, जो भी उपेक्षित रह गये हैं उन्हें उठाना चाहता है। इस प्रकार साम्यवादी विचारधारा के रिक्त स्थान की यह पूर्ति करता है। जैसाकि मार्क्स ने कहा था कि प्रारंभ में राज्य की शक्ति गरीबों द्वारा अपहृत कर ली जायेगी, परन्तु अंत में राज्य मुर्झा जायगा, अत: विनोबा जी साम्यवादियों से यह जानना चाहते हैं कि आखिर किस आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निरुपित किया है कि राज्य अंत में मुर्झा जायेगा। क्या यह सत्य नहीं कि लोगों के हृदय में अच्छाइयाँ भी विद्यमान रहती हैं।

वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य में जिस प्रकार बुराइयों की जड़ें विद्यमान रहती हैं उसी प्रकार अच्छाइयों की एक बड़ी मात्रा भी उपस्थित रहती है। सर्वोदय सामयिक लिखित इतिहास से निरपेक्ष रह गये व्यक्तियों की मानसिकता का रूपान्तर करने का प्रयास करता है। मार्क्सवाद आवश्यकता पड़ने पर खून की नदी बहाकर भी वैधानिक साम्यता लाने का प्रयत्न करता है। सर्वोदय की प्रक्रिया धीमी भले ही हो, यह प्राय: अपने लम्बे पथ पर अस्पष्ट, सूक्ष्म एवं हतोत्साहित-सा दिखाई देता है। जहाँ साम्यवाद हर जगह ऊँची आवाज में अपना डंका बजा रहा है, वहाँ गलियों में लोग धीमे स्वर में आपस में उन संतों की चर्चा करते हुए दिखाई देते हैं, जो द्वार-द्वार घूमकर भूमिदान के लिए लोगों से आग्रह करते थे और भिक्षाटन से प्राप्त भूमि को भूमिहीनों में वितरित कर देते थे, जबकि अपने लिए उनके पास कुछ भी नहीं होता था। भारत के सामाजिक इतिहास में यह एक अपूर्व घटना है, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। गाँधीजी एवं विनोबाजी ने कभी भी साम्यवाद की निन्दा नहीं की। विनोबाजी ने तो यहाँ तक कहा कि यदि गाँधी महात्मा है तो मार्क्स महामुनी, महान् विचारक हैं। यदि मानवता के गत सौ वर्ष के सामाजिक जीवन का अर्क निकाला जाय तो दोनों महान् नामों - गाँधी और मार्क्स के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलेगा।

यद्यपि यह एक अद्भुत दृष्टान्त है। मार्क्स और गाँधीजी दोनों का उद्देश्य एक ही है पर उनके विचार एवं योजनाओं के केन्द्र भिन्न हैं, मानों एक उत्तर तो दूसरा दक्षिण। गाँधीजी के आदर्शवाद में अध्यात्मवाद का पुट है, उनका आदर्श नैतिकता के उच्चतम स्तर की कामना करता है। आत्मत्याग एवं समाज-सेवा की भावना ही उनका प्रथम सोपान है। दूसरी ओर मार्क्सवाद सामाजिक उद्विकास के लिए आडम्बरयुक्त वैज्ञानिक शब्दावली से समेकित है। एक मार्क्सवादी का मस्तिष्क शनै: शनै: इस विचार से भर दिया जाता है कि वह स्वयं आत्मविवेकी सामाजिक शक्ति है। शुद्धता एवं निष्कपटता का नैतिक पक्ष के प्रति पूर्ण अभिज्ञता ही मार्क्सवाद को प्रभावित करता है। अपने निम्नतर स्तर पर यह, व्यक्तिगत घृणा एवं द्वेष के लिए, नैतिक न्याय संगतता प्रदान करता है, उससे कुछ उच्चतर स्तर पर यह मूल, अन्याय एवं शोषण के प्रति घृणा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है और उच्चतम स्तर पर यह एक ऐसे समाज का दिग्दर्शन करता है जो पूर्णरूपसे बौद्धिक स्तर पर सुनियोजित है और जनसमूह के लिए भौतिक एवं बौद्धिक कल्याण अधिक से अधिक प्रदान करता है। अपने अनुयायियों के लिए मार्क्सवाद औद्योगिक परान्नभोजियों द्वारा निर्मित सामाजिक अन्याय के लिए पश्चाताप का अवसर प्रदान करता है। आदर्श धनी लोग आदर्श कुलीन लोगों के वर्तमान पर्याय मात्र ही हैं और किसी भी व्यवस्था में उनके द्वारा कार्य करने वाले लोगों के स्थान की पूर्ति लाभ के लिए की जा सकती है। अत: मार्क्सवाद गंभीरता के साथ, कट्टर नैतिक अतिउल्लास के स्तर तक, सभी आदर्शवादिता, शक्ति-परिचालन और अन्य निर्दयता की प्रतिभा, जो कुछ भी नैतिक उत्साह के अन्तर्गत संभव है इन सबों के साथ आगे बढ़ता है। गाँधीजी के विचार सदा ही विकसित होते रहे। यदि उनके अनुयायियों के विचारों में समानता न हो या उनके अपने विचारों में ही ऐक्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का अभाव है तो इसका कारण यही है कि उन्होंने विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग स्वयं भी किया और औरों को भी करने दिया। यदि उनके बाद के कथन या उद्घोष उनके पहले वाले विचारों का विरोध करते हैं तो इसके लिए वे कहते हैं कि दोनों विचारों में ऐक्य लाने की चेष्टा न कर पहले वाले का परित्याग करें और बाद वाले विचार को ही मान्यता देते हुए आगे बढ़ें। मनुष्य की पवित्रता में उनका अडिग विश्वास के फलस्वरूप ही उनके दर्शन में यह लचीलापन आ गया। मार्क्स या उन्हीं की तरह ख्यातिप्राप्त उनके मतावलम्बी, ऐसी पवित्रता का अनुमोदन कर ही नहीं सकते। यही कारण है कि मार्क्स ऐसे निष्कर्षों का – जैसे इतिहास का भौतिकवादी परिकल्पना, आर्थिक दृढ़ता, द्वन्द्ववाद आदि को सूत्रवत एवं जबरन ठूँसा हुआ प्रमाणित किया जा रहा है। भूत, वर्तमान एवं भविष्य निश्चय ही एक सूत्र में बंधे होते हैं, लेकिन यह सोचना कि सभी कार्यकलाप द्वन्द्वात्मक नियमों द्वारा पूर्व निर्धारित होते हैं, मानव–मस्तिष्क की महानता को नकारना एवं मानव मात्र की प्रतिभा का अपमान करना है।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त के विपरीत जिसमें पददलित लोगों की मुक्ति निहित है, गाँधीजी ने अपरिग्रह एवं असंग्रह के सिद्धान्तों में आस्था एवं सामाजिक जीवन के आदर्शों का निरूपण किया है। साम्यवाद का आदर्श है आसक्ति जबकि गाँधी जी का आदर्श है अनासक्ति और निरपेक्षता। साम्यवाद राज्यसत्ता की ओर ले जाता है जहाँ गाँधीवाद वर्ण–व्यवस्था, न्यासधारिता एवं विक्रेन्दीकरण की ओर प्रेरित करता है जिनमें परस्पर विश्वास एवं निर्भरता ही प्रमुख है। मार्क्स के दर्शन में न तो आत्मा का कोई स्थान है और न परमात्मा का ही, परन्तु गाँधीजी इन दोनों में से एक का भी त्याग नहीं कर सकते। इनके आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक विचारधारा के मूल स्रोत तो ये दोनों ही हैं। मार्क्स के लिए संघर्ष ही विचार का केन्द्रबिन्दु है, प्रेरणा–शक्ति है, पर गाँधीजी के लिए प्रेम ही मूलमंत्र है। इस प्रकार जहाँ मार्क्स क्रांति के द्वारा शक्ति छीन लेने का उपदेश देते हैं, वहाँ गाँधीजी प्रेम की गंगा बहा देना चाहते हैं, जिसमें अमीर–गरीब, अच्छे–बुरे – सभी समरूप हो गोता लगा सकें इस उद्देश्य से ही उन्होंने समाज–सेवा की योजना बनाने का निश्चय किया, जिसके द्वारा पूर्ण जागृत एवं विवेकशील सामाजिक जीवन का शुभारंभ हो सके। यह एक ऐसा जनसेवा का कार्यक्रम बना, जिसके द्वारा आत्मशुद्धि की महिमा को स्वीकारा गया। आत्मशुद्धि का आदर्श दोनों पक्षों के लिए आवश्यक माना गया है, उनके लिए भी, जो सेवा–कार्य में लगे होते हैं और उनके लिए भी, जिनके लिए यह सेवा–कार्य किया जाता है। गाँधीजी सुधार एवं हृदय–परिवर्तन में विश्वास करते थे। गाँधीवाद मानव एकता का दर्शन है – मार्क्सवाद वर्गवाद का द्योतक है। यद्यपि यह अंतर समय का ही अंतराल मात्र है, जो उन्नीसवीं सदी के बीच बना रहा। इस खास वर्ग के प्रति औद्योगीकरण के अन्याय, एवं इसके द्वारा निर्मित मानसिक अशांति, शोषण, दमन आदि भावनाओं ने मार्क्स को प्रतिक्रियावादी बना दिया।

5.3 हेनरी डेविड थोरो

5.3.1 परिचय

हेनरी डेविड थोरो का जन्म 12 जुलाई, सन् 1817 में गौरव–मंडित कानकोर्ड नगर में बसे थोरो परिवार के जान व सिंथिया के यहां वर्जीनिया रोड पर स्थित अपनी नानी के पुराने, बदरंग मकान में हुआ था। थोरो का परिवार इंगलिश चैनल में जर्सी के एशली नगर के फ्रेंच व्यापारियों का वंशज था। सर्वप्रथम हेनरी के दादा जीन थोरो बोस्टन नगर में सन् 1773 में आकर बसे। उसने कई नौकरियाँ करने के उपरान्त बोस्टन में चीनी का थोक व्यापार प्रारम्भ किया और अत्यन्त सम्पन्न व्यक्ति बन गया। हेनरी का सम्बन्ध उस शिक्षित, दृढ़ निश्चयी, साहसी, धार्मिक, कुलीन वंश से था जिसके स्त्री–पुरुष सिद्धान्तवादी, कर्मठ तथा अल्पसंख्यक होने पर भी निर्भीक थे। आधुनिक युग के 'प्रख्यात प्रकृतिवादी', 'समाज सुधारक', 'मौलिक कलाकार', 'महान् लेखक' तथा 'वाल्डेन के संत' हेनरी डेविड थोरो के विशिष्ट व्यक्तित्व को गढ़ने में तत्कालीन राजनीतिक प्रवृत्तियों तथा प्राकृतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक परिवेश का खासा हाथ रहा है। थोरो की बौद्धिक, भावनात्मक तथा सृजनात्मक शक्तियों वाले तेजस्वी व्यक्तित्व ने ही विश्व को सार्वकालिक एवं सार्वदेशीय रचनाएं प्रेषित की है जिनमें उसके जीवन से गुजरे अनुभव, अध्ययन, पर्यवेक्षण तथा सर्वेक्षण निहित है। उसकी सुविख्यात कृति 'वाल्डेन' में अभिव्यक्त मानवतावादी विचारों ने ही उसे सम्मान के शिखर पर पहुँचाया।

5.3.2 व्यक्तित्व

हेनरी डेविड थोरो की जीवनी तथा रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वे सौन्दर्य प्रेमी, मौलिक चिन्तक, पूर्णवादी, मानवतावादी आत्मकेन्द्रित, भावुक गहरे आस्थावान थे। थोरो के पिता जान बोस्टन में जन्मे तथा प्रारम्भिक रूप से वहीं शिक्षित हुए थे। पारिवारिक सम्पन्नता से मिली सभी सुविधाओं के होते हुए भी सौतेली मां तथा भाई–बहनों के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से वह स्वयं को

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

असुरक्षित पाता था। असुरक्षा भाव तथा स्नेहाभाव के कारण जान आत्म-केन्द्रित, एकान्तप्रिय, सहनशील, अध्ययनशील, हठी, तथा मितभाषी व्यक्तित्व वाला बन गया। वह अपना समय गौरव ग्रन्थों के अध्ययन करके तथा प्रकृति के सुरम्य आंचल में बैठकर बांसुरी बजाकर बिताता। अपनी परिवार विरोधी मानसिकता के कारण जान ने अपने पिता की मृत्यु के बाद उनके व्यापार को संभालने के बजाय एक स्टोर में क्लर्की की, अपनी दुकान खोली, सैनिकों के लिए रसद पहुंचाने का काम किया और एक स्टोर की मैनेजरी की। हेनरी डेविड थोरो ने पैंसिल के नये प्रकार के सिक्के का आविष्कार करके पिता को सर्वश्रेष्ठ पैंसिल निर्माता बना दिया।

थोरो की माँ सिंथिया उसके पिता के विपरीत बहुर्मुखी, अत्यन्त वाचाल, आत्मविश्वासी, आशावादी, सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने वाली, अतिअनुशासनप्रिय महिला थीं। और उसके साहस और स्वयं धैर्य ने ही परिवार को विपन्नता के दिनों में सम्भालकर एकजुट रखा। थोरो की माँ स्वभाव से दृढ़, उत्साही, परमार्थी, धर्मनिष्ठ, निष्कपट, स्पष्टवादी और प्रखर बुद्धि वाली प्रभावशाली महिला थी। हर हाल में वह जीवन सुखद बनाये रखने का प्रयास करती थी। हेनरी डेविड थोरो ने अपनी मां तथा पिता से कुछ गुण पाये थे। उसने अपनी देहयष्टि, शान्त स्वभाव, अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने का मौन हठ, असफलताओं में भी अपने लक्ष्य के लिए जूझने की सामर्थ्य, गौरव-ग्रन्थों को पढ़ने का शौक तथा एकांतप्रियता अपने पिता से लिये थे। अपनी मां सिंथिया से स्पष्टवादिता, बौद्धिकता, अन्वेषण में रुचि, न्यायप्रियता तथा आत्मानुशासन आदि पाये थे। इसी से थोरो भावुक, बौद्धिक, मितभाषी, स्पष्टवादी, परम्परावादी, स्वतन्त्रताप्रिय तथा प्रकृतिप्रेमी था।

जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में उसने अपने पिता को आर्थिक कठिनाइयों से जूझते, स्थान-स्थान पर भटकते तथा निवास स्थान बदलते देखा। बचपन की अस्थिरता ने उसके मानस में कहीं भी कोई विशेष स्थायी छाप नहीं छोड़ी, कानकोर्ड में स्थायी रूप से बसने के बाद से ही उसका स्मृतियों का काल प्रारम्भ होता है।

थोरो का पिता मौन-तटस्थ भाव से अपनी असफलताओं तथा परिवार की बनावट व जीवन को देखता। सुबह काम के लिए निकल जाता और रात को देर से लौटकर गौरव-ग्रन्थों में डूबा रहता। उस विरोधी व्यक्तित्वों से भरे परिवार को अनुशासन तथा एकता में बांधने तथा उसे व्यवस्था देने वाला रोबीला, हठीला व्यक्तित्व उसकी मां का था। उसके प्रभुत्व के वटवृक्ष के नीचे सभी दुबके रहते। आत्मकेन्द्रित होने के कारण थोरो अपना समय अध्ययन में व्यतीत करता था। पिता उसे गौरव ग्रंथ पढ़ने तथा माँ प्राकृतिक इतिहास पढ़ने को कहती। वह दोनों की रुचि लेकर पढ़ता था। हेनरी की मां अपनी सामाजिक व्यस्तता के कारण उसे आवश्यकता के समय उपलब्ध नहीं होती थी। इस प्रकार कारोबार में व्यक्त किन्तु तटस्थ पिता, मां की उपेक्षा, भाई की लोकप्रियता तथा घर की भीड़-भाड़ ने उसमें असुरक्षा का गहरा भाव विकसित किया जिससे उसमें आत्मरति की वृत्ति उत्पन्न हुई। उसकी मां एक ओर तो किशोर थोरो को शहर से बाहर जाकर काम करने को कहती और दूसरी ओर उसे बच्चे के समान निर्देश भी देती रहती। कोई भी निर्णय लेने से पूर्व थोरो को उसका अनुमोदन लेना आवश्यक था। इसलिए उसमें छोटी-छोटी बातों का भी निर्णय लेने का साहस उत्पन्न नहीं हुआ।

वह अपनी पहचान स्वयं बनाना चाहता था परन्तु यह देखकर कि जो स्त्री उसके जीवन का केन्द्र-बिन्दु है, वह कभी भी उसे स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती है, और वही उसके जीवन की दिशा का निर्धारण करती है, वह हीन भावना से ग्रस्त हो अपने में लीन रहने लगा। उसकी स्वतन्त्र होने की अन्त:प्रेरणा उसे मां व परिवार के मोह बन्धनों को तोड़ने के लिए उकसाती लेकिन वह ऐसा करने में स्वयं को असहाय पाकर मन मारकर रह जाता।

बचपन से माता-पिता द्वारा 'प्रयोजन की शुद्धता' की शिक्षा के कारण वह अपने दब्बू, असफल असामाजिक पिता को अपना आदर्श पुरुष न मानकर तथा उसकी आलोचना करते हुए भी, वह अपने को सफल बनाकर उसे नीचा नहीं दिखाना चाहता था क्योंकि ऐसा करने से वह अपने पिता के हृदय को दुखाएगा। शुद्धतावादी संस्कृति के प्रभाव तथा मां के कठोर नैतिक निर्देशों के कारण वह बाह्य रूप से नैसर्गिक काम उत्तेजनाओं का दमन कर अपनी आडंबरी पवित्र छवि बनाये रहा किन्तु स्वैर कल्पना विहार से उन्हें से उन्हें सन्तुष्ट करता रहा। उसके इस दोहरे व्यवहार ने भी उसके अपराध बोध को बढ़ाया। उसने अपने आदर्श पुरुष तथा मार्गदर्शक बड़े भाई के साथ कान-कोर्ड तथा मैरीमेक नदियों की साहसिक यात्रा की। थोरी की मितभाषी, गम्भीर तथा कर्त्तव्यपरायण बड़ी बहन हेलेन मां की व्यस्तता के कारण उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी। उसी ने उसे प्रारम्भिक शिक्षा में सहायता दी तथा अपने अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ उसे हार्वर्ड प्रवेश के लिए तैयार किया। उसने हावर्ड में कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। वहां पढ़ाई में परिश्रम करने तथा अच्छे अंक प्राप्त करने के पीछे भी अपने भाई की लोकप्रियता से अधिक प्रसिद्धि पाकर अपनी मां के मन में ऊँचा स्थान बना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लेने का भाव ही काम कर रहा था। हावर्ड से आकर थोरो ने पैंसिल के नये सिक्के का आविष्कार और अध्यापन कार्य किया लेकिन बच्चों को अनुशासित करने के हेतु छड़ी का प्रयोग न करने की जिद के कारण नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। अपने बड़े भाई बान के साथ स्कूल की स्थापना की जिसमें 'खेल के साथ पढ़ाई' की अध्ययन पद्धति अपनाने के कारण उनका स्कूल जल्दी ही प्रख्यात हो गया। लेकिन भाई की मृत्यु के कारण वह स्कूल शीघ्र ही बन्द हो गया।

हेनरी अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को ऊपर उठाने के लिए पैन्सिल फैक्टरी में दिन-रात मेहनत करके उसे सम्पन्नता की ओर ले जाता रहा लेकिन अपनी मां का स्नेह और निकटता नहीं पा सका जिसके लिए उसका अन्तर्मन विकल था। मां की दिन-प्रतिदिन बढ़ती व्यस्तता से विक्षिप्त-सा हेनरी सदा की तरह शांति पाने के लिए घंटों-घंटों जंगलों में भटकता रहता। उसने अपनी मां की इच्छानुसार प्राकृतिक अन्वेषण करने प्रारम्भ किए और अपनी माँ के अतिथियों की भीड़ को शालीनता से झेलना रहा। लेकिन मां को औरों के स्वागत-सत्कार तथा सुविधाओं की व्यवस्था करने में व्यस्त देख तथा अपनी प्रकाशन की आकांक्षा को असफल पाकर हेनरी उखड़ा, निराश तथा उदास रहने लगा। उसका घर छोड़कर वाल्डेन सरोवर पर रहने का निर्णय इसी हताशा के कारण था जिसे परिवार या बाहर का कोई व्यक्ति नहीं जान सका।

5.3.3 प्रकृति प्रेम

हेनरी को प्रकृति प्रेम माता-पिता की रुचि तथा कानकोर्ड की भौगोलिक स्थिति से ही नहीं मिला बल्कि परिवार के मन के प्रतिकूल वातावरण ने भी उसे माँ-प्रकृति की गोद में जाने के लिए विवश किया। वह शिशुवत् उसके आंचल में जाकर ही शक्ति पाता। वह घंटों अपने मन की बातें उसी से करता और उससे अपने रहस्यों को अनावृत करने की प्रार्थना करता। उसने पाया कि प्रकृति उसकी प्रार्थना सुनती है, उसके मन को जानती-समझती है और अपनी दयालुता से उसका ज्ञानवर्द्धन करती है। तभी उसने अनुभव किया कि सीमित सामर्थ्य तथा आत्मकेन्द्रित सांसारिक मां से कहीं अधिक विशाल हृदय वाली मां भी कहीं है। इसीलिए वह अपना अधिकांश समय यात्राओं तथा प्रकृति के अध्ययन में व्यतीत करने लगा। अब उसकी निकटता झरनों, नदी की धार, पेड़ों, पक्षियों तथा जानवरों के साथ बढ़ गई और वह सूक्ष्मता से उनकी ध्वनियों का अध्ययन करने लगा। पेड़ों की आयु तथा उत्तराधिकारी तथा पक्षियों की जीवन पद्धति का ज्ञान भी उसे वहीं से मिला।

5.3.4 व्यक्तिगत जीवन

थोरो ने यद्यपि जीवन पर्यन्त विवाह नहीं किया किन्तु नारी प्रेम ही उसमें सुकोमल अनुरागी भावनाओं को जगा सका जिसके फलस्वरूप वह हृदयस्पर्शी लेखन कर सका। थोरो में जिस महिला के प्रति सर्वप्रथम आसक्तिपूर्ण प्रेम जागा, वह थी एलेन सीवेल। इस परम सुन्दरी के रूपजाल में बिंधे थोरो ने प्रेम कविताएं भी लिखीं लेकिन पहले अपने बड़े भाई की प्रेम-प्रतिस्पर्द्धा और बाद में एलेन के माता के विरोध के कारण यह सुकोमल किशोर प्रेम-प्रसंग समाप्त हो गया। थोरो का दूसरा अनुराग अपने बौद्धिक गुरु इमर्सन की दूसरी पत्नी लिडियन के प्रति हुआ जिसके कारण थोरी ने प्रेम की गहनता और अनुशासनात्मक व्यवहार की गहरी सीख पायी। इस अन्तरंगता के कारण थोरो और इमर्सन के बीच तनाव भी पैदा हुआ लेकिन इस आदर्श प्रेम ने उसे मर्यादाओं का पालन सिखा दिया। लिडियन की पारिवारिक मर्यादाओं के कारण थोरो उससे विवाह नहीं कर सका किन्तु इस गहन प्रेम ने ही उसे शुष्क बौद्धिकता से बचाया भी।

थोरो के जीवन को प्रभावित करने वाले कई बौद्धिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, प्रकृति प्रेमी लेखक एवं समाज सुधारक मित्र भी थे। इनमें सबसे प्रमुख था प्रख्यात उपदेशक इमर्सन जिसने थोरो की प्रतिभा को पहचाता और उसे विकसित करने के प्रयत्न किये। इस बौद्धिक गुरु के माध्यम से ही थोरो का विश्व के प्रख्यात व्यक्तियों से परिचय संभव हुआ। इसी की पुस्तक 'नेचर' ने थोरो की बौद्धिकता को उद्वेलित किया। जिससे वह सत्य की खोज करने के लिए प्रेरित हुआ। इमर्सन के संसर्ग से थोरो का प्रख्यात व्यक्तियों से परिचय ही नहीं हुआ बल्कि प्रकाशन क्षेत्र में उतरने का ज्ञान और लिडियन का प्रेम प्राप्त हुआ। वह इस मोह तथा 'नेचर' पुस्तक से प्राप्त अन्तर्ज्ञानवाद से जीवन-भर मुक्त नहीं हो पाया।

थोरो के अन्य मित्र थे अलकाट, हौथार्न, होरेस गरीले, जार्ज मिनौट, वाइटमैन और ब्राउनसन। इन मित्रों ने थोरो के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया। किसी की सादगी, किसी का संत स्वभाव, किसी के जागृतिपूर्ण विचार थोरो के व्यक्तित्व को गढ़ने में अनजाने ही काम करते रहे। बाद में कुछ शिष्य भी बन गये। यद्यपि थोरो के सभी मित्र उसकी सामाजिक सीमाएं, उसकी विशिष्ट

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आदतों, अदम्य तर्कशीलता, भावनात्मक अलगाववादी रुख से परिचित थे किन्तु वे सभी उसके बाह्य शुष्क धरातल के नीचे बहती स्निग्ध रसधार तथा असाधारण क्षमताओं और उसकी प्रखर प्रतिभा से भी परिचित थे।

उसके कानकोर्ड प्रेम, पारिवारिक मोह और सैलानी स्वभाव के मध्य की द्वन्द्वात्मक वृत्ति ने भी उसके जीवन और कला के मध्य के द्वन्द्व को बढ़ाया। थोरो को विश्वास था कि कानकोर्ड के प्राकृतिक आंचल में छिपे रहस्य और सत्य अपने उद्घाटन के लिए उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बाद में उसने अनुभव किया, कानकोर्ड की प्रकृति में सभी विभिन्नताएं नहीं हैं और जब वह बोस्टन का उपनगर बन गया तो शहरीकरण के कारण जंगल कम हो गया और बहुत-से विभिन्न पशु-पक्षी वहां से अन्यत्र भी चले गये। 1853 में वहां के इस प्राकृतिक ह्रास के कारण उसका मन उचाट हो गया और वह भरभूर जंगलों की खोज में अन्य स्थानों पर भटकता रहा। मेन के घने जंगलों में वह तीन बार गया। जलवायु-परिवर्तन के डाक्टरी परामर्श के अनुसार वह कनाडा के शुष्क प्रदेश मिनीसोटा भी गया। अस्वस्थ होने पर भी उसका यायावर मन उसको जंगलों की ओर खींचता रहा, जहाँ उसने आदिम सभ्यता तथा रेडइंडियनों के जीवन को निकट से देखा। उसने पर्वतारोहण भी किया और फिलेडेल्फिया, न्यूयार्क तथा न्यूजर्सी के आसपास के इलाके देखे।

उसकी प्रारम्भिक यात्राओं का उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि अब भी प्रकृति का बहुत बड़ा भाग मनुष्य के शोषण से सुरक्षित है और अब भी मनुष्य में प्रकृति के साथ सौहार्दपूर्वक जीने की सामर्थ्य है। लेकिन उसके अन्तिम काल की यात्राओं का उद्देश्य स्थान-स्थान पर भाषण देकर जनता तक अपने विचारों को पहुंचाना, उन्हें शाश्वत सत्य की खोज के लिए प्रेरित करना तथा अन्वेषण व सर्वेक्षण करना था। उसने अपनी यात्रा-सम्बन्धी अनेक विवरण तथा 'दे मेन वुड्स', 'वाइल्स एपल' 'द कानकोर्ड ट्रवलर', 'ए वीक ऑन कानकोर्ड एण्ड मैरीमेक रिवर्स' आदि प्रख्यात रचनाएं विश्व को प्रदान की हैं।

5.3.5 थोरो लेखक के रुप में

थोरो अगर लेखक न होता और उसने अपनी रचनाएं तथा डायरियां न छोड़ी होती तो हम उसके विषय में कान्कोर्ड के अन्य लेखकों के विवेचन से सीमित जानकारी ही प्राप्त कर सकते थे। तब वह केवल इमर्सन के शिष्य, अमेरिका के सादे जीवन का आदर्श, साधारण प्रकृतिवादी तथा दासता विरोधी के रूप में ही जाना जाता। आज जिसने उसे अमेरिकी संस्कृति के प्रमुख एवं गणमान्य व्यक्तियों की श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है वह उसका अद्भुत लेखन-संघर्ष ही है।

थोरो के लेखन के सम्बन्ध में विरोधी धारणाएं देखने में आती हैं। यदि कुछ लोग थोरो के लेखन को 'ऊबड़-खाबड़ तथा नीरस' मानते हैं तो कुछ लोगों के मतानुसार ''अमेरिका में लिंकन को छोड़कर थोरो ने सर्वोत्तम गद्य लिखा है।'' सन्तुलित दृष्टि से देखने पर थोरो का गद्य पढ़ने और समझने में कठिन है और कहीं-कहीं अस्पष्ट भी। किन्तु उसका लेखन प्रकृति एवं मानव जीवन के अध्ययन, मनन तथा गहन अनुभूतियों से परिपूर्ण है। उसका लेखन परिपक्व तथा सांकेतिकता से युक्त है। थोरो स्वयं चिन्तक होने के साथ बहुत-सी पुस्तकों का अध्येता रहा और वह उस ज्ञान का प्रयोग करना भी जानता था। आज उसकी भाषा में अस्पष्टता का दोष नहीं देखा जाता क्योंकि अपने प्रिय एवं दुरूह विषय के अन्वेषणों की अभिव्यक्ति के लिए उसे विशिष्ट भाषा स्वयं गढ़नी पड़ी। अपने लेखन को परिमार्जित करने तथा पुनर्लेखन से भी वह नहीं चूकता था। 'वाल्डेन' का भी उसने कई बार परिष्कार किया था। उसकी लेखन-यात्रा प्रकाशन की आकांक्षा से अन्वेषण और अंत में धनोपार्जन तक गई। इसीलिए सन् 1844-55 तक वह जीवन को कला से श्रेष्ठ मानता था किन्तु 1856 के उपरान्त कला को जीवन से श्रेष्ठ मानने लगा। उसकी कला उसका जीवन बन गई।

थोरो विविध दर्शनग्राही था। अपने ज्ञान को पुष्ट करने के लिए उसने समकालीन अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन साहित्य की विविध विधाओं का गहन अध्ययन व मनन किया। उसने डी. क्वैन्सी से वाक्पटुता, कार्लाइल व कालरिज से पदार्थ में निहित आत्मा का ज्ञान, हैवेट से प्रकृति प्रेम, गिलपिन से कलाकार का प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण, गेटे से सर्वव्यापकता की अवधारणा, स्कॉट से मध्यकालीन प्रेमाख्यान, वुडवर्थ से प्रकृति-प्रेम का अर्न्तज्ञानवाद का ज्ञान प्राप्त किया। उसने 17 वीं शताब्दी के धर्म निहित गद्य व पद्य, ग्रीक नाटक, होमर की रचनाएं तथा वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति तथा भगवद्गीता जैसे पावन ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने ज्ञान को गहरा तथा विस्तृत किया। डान, हवर्ट, क्वैरलीज, सर थामस, ब्राउनी आदि लेखकों से उसने कुछ विशिष्ट लय सीखी जिनका प्रयोग उसने अपने काव्य में किया।

वह लेखन में सिद्धान्तों की सूक्ष्मता के स्थान पर अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता में विश्वास करता था जिससे प्रकृति में विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार से उत्पन्न भावनाओं को अभिव्यक्त किया जा सके। वह मानता था कि ''ग्रीक महान् रचनाकार हैं और हिन्दू महान्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विचारक।'' थोरो ने अपने अन्तर्बोध द्वारा प्रकृति के आदर्शवाद से जुड़े विचारों का प्रमाणीकरण हिन्दू ग्रन्थों में पाया। उसे लगा हिन्दू ऋषियों ने प्रकृति में परमात्मा की विद्यमानता की अनुभूति करने के लिए अपने जीवन को सरल तथा हृदय को शुद्ध किया था। उन्होंने बाह्य स्वरूप की ओट में छिपे परम सत्य को देखा और उसकी अनुभूति की थी जो उनके जीवन के विकास का सिद्धान्त ही नहीं बल्कि उनकी जीवन-पद्धति बन गई थी। उसकी मान्यता थी कि एक ही आत्मशक्ति मनुष्य तथा उसके वातावरण में समान रूप से प्रवाहित है जो समस्त विश्व को एकाकार करती है। किन्तु थोरो की आत्मा भारतीय ऋषियों के समान अतीन्द्रिय नहीं हो पाई, इसीलिए परमसत्ता-सम्बन्धी उसका ज्ञान केवल बौद्धिकता तक सीमित रहा, उसके जीवन में अवतरित नहीं हो पाया।

वाल्डेन का लेखन करते समय थोरो हिन्दू ग्रंथों तथा विचारकों के जीवन से प्रभावित था। उसने ब्रह्माण्डोत्पत्ति का विस्मयकारी दर्शन गीता से ग्रहण किया है। मनु के नियम, कन्फ्यूशियस के कथन, चीन की धर्म पुस्तकें, बुद्ध के उपदेश से प्रकृति के प्रति रहस्यवादी प्रेम पाया, किन्तु वह कभी भी हिन्दू निराशावाद, संन्यास तथा हठयोग का समर्थक नहीं रहा। इसका कारण सम्भवत: उसके जीवन की पश्चिमी पृष्ठभूमि थी। पश्चिमी लेखकों का मत है कि थोरो का लेखन केवल पूर्वी विचारों से ही भरपूर नहीं है बल्कि उसने पूर्वी प्रतीकों तथा बिम्बों का भी प्रयोग किया है।

थोरो की मानस-यात्रा बहुत ही ऊबड़-खाबढ़ स्थलों, मार्गों और नाना प्रकार के विरोधाभासों के बीच संपन्न हुई जिससे अंतत: थोरो प्रबुद्ध जिज्ञासु से प्रकृतिवादी, महान् लेखक, समाज-सुधारक, पक्षी विशेषज्ञ, सरोवर वैज्ञानिक तथा मानवतावादी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। अपने पराअहं के कारण वह किसी के सामने मनश: कभी नहीं झुका किन्तु परमसत्ता के साक्षात्कार के लिए उसकी संवेदना के समक्ष उसका पराअहम् भी समर्पित होता रहा।

थोरो की प्रमुख रचनाएं

कविताएं :'स्मीक','इन्स्पिरेशन','ब्लू बर्ड'।

लेख :'द नेचुरल स्टोरी आफ मैसाचुसेट्स', 'विण्टर वाक', 'द सक्सेशन आफ द फारेस्ट ट्वीस', 'फ्रेंडशिप', 'लाइफ विदाउट प्रिंसिपल','नाइट एण्ड मूनलाइट','स्लेवरी इन मैसाचूसेट्स','कारलाइल एण्ड हिज वर्क्स','ए प्ली फार कैप्टन जान ब्राउन', 'द सीजन्स'।

पुस्तकें :'सिविल डिसओबिडियन्स','ए वीक आन द कान्कोर्ड एण्ड मेरीमैक रिवर्स''वाइल्ड एपल्स','वाल्डेन'।

5.3.6 थोरो कालीन समाज

जब परम्परागत सामाजिक व्यवस्थाएं तथा संस्थाएं नवीन अन्वेषणों, जनसाधारण की इच्छाओं, विश्वासों, अभिवृत्तियों में परिवर्तन तथा संवेगात्मक प्रतीकों व रूढ़ युक्तियों के नवीनीकरण से प्रभावहीन रहती हैं तो समाज का संक्रमण काल उपस्थित होता है। इस काल में सामाजिक संरचना को स्थायी रखने वाली मान्यताएं समाप्त हो जाती हैं तथा सामाजिक व नैतिक एवं मूल्यों में भारी परिवर्तन आ जाता है। अमेरिका भी संक्रमण काल में अनिश्चितता, अस्थिरता और सुधारों व नवीन प्रयोगों के दौर से गुजरा। 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में थोरों के समान अमेरिका भी अपनी किशोरावस्था पार कर रहा था जो अपनी स्वतन्त्र पहचान के लिए भय मिश्रित आशा लिए संघर्षरत था। यद्यपि अमेरिका को राजनैतिक रूप से स्वतन्त्र हुए साठ वर्ष हो चुके थे और वह 1812 का युद्ध भी झेल चुका था लेकिन तब भी वह इंगलैण्ड के वर्चस्व से सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक विच्छेद नहीं कर पाया था। इसी समय इमर्सन ने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिए बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति का आह्वान किया।

इमर्सन का कथन था कि जिस अमेरिका में स्वतन्त्रता से अधिक समानता में विश्वास किया जाता था, उसके भौतिकवाद की दिशा में अग्रसर होने से व्यक्ति तथा संस्कृति के मूल्यों की रक्षा नहीं की जा सकती। भौतिकवाद समाज को विभक्त करता है तथा नवयुवकों को उनकी योग्यतानुसार काम देने में असमर्थ है। सभी समाजों में पीढ़ियों के मध्य अन्त: संघर्ष होता है किन्तु परम्परावादी तथा प्रभुत्ववादी समाज के क्रान्तिकाल में यह प्रखर रूप धारण कर लेता है। थोरो की पीढ़ी की मानसिकता पुरानी पीढ़ी की मानसिकता से भिन्न थी। इस संक्रमण काल में पिता का आदर्श रूप न रहने के कारण नवयुवकों के आत्म-अभियान के संकटों को बढ़ावा मिला। वे पिता के स्थान पर किसी अन्य आदर्श नेता तथा नवीन विचारधारा की खोज करने लगे। इसी समय परम्परावादी चर्च का विभाजन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

त्रित्ववादी तथा अद्वैतवादी समूहों में हो गया। अन्तर्ज्ञानवादियों ने परम्परावादियों के विरुद्ध एक ही परमसत्ता की सर्वव्यापकता का विचार अमेरिकी जनमानस में बो दिया।

5.3.7 थोरो पर प्रभाव

कानकोर्ड के यशस्वी नागरिकों में से हेनरी डेविड थोरो ही वहां पर जन्मा था। इमर्सन, हौथार्न, एलरी चेनिंग, अलकाट आदि प्रख्यात विभूतियां तो यहां के शांत, सौन्दर्यपूर्ण वातावरण, मैत्रीपूर्ण समुदाय, शांत व सरल जीवन तथा बोस्टन नगर की निकटता के आकर्षण से यहां आकर बस गई थीं। कानकोर्ड अमेरिका के मैसाचुसेट्स राज्य में बोस्टन नगर से बीस मील दूर मैरीमैक नदी की प्रमुख शाखा कानकोर्ड नदी और सहायक ऐसाबेट-सेडबरी नदियों के संगम पर स्थित है। इस नगर का मध्य भाग ऐसी घाटी है जिसमें से कई मंद-वक्राकार जलधाराएं प्रवाहित होती हैं। उनके उथलेपन में भांति-भांति के पशु-पक्षी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। कैम्ब्रिज की ओर का कानकोर्ड पहाड़ियों, झीलों, चीड़, देवदार, स्प्रूस तथा मेपल के घने जंगलों का प्रदेश है। प्रकृति के विभिन्न रूपों के समान वहां की जलवायु भी वैषम्यपूर्ण है। वहां जबरदस्त हिमपात, कड़ी सर्दी के साथ भीषण गर्मी भी पड़ती है।

कानकोर्ड की बौद्धिक व सांस्कृतिक जलवायु और भी वैषम्यपूर्ण थी। जब थोरो परिवार कानकोर्ड आया तब वहां न्यू इंग्लैण्ड का एकमात्र चर्च डॉ. रिपले के नेतृत्व में संचालित था। वही कस्बे की नैतिकता का निर्देशन करते थे। बाद में जब त्रित्ववाद की प्रतिक्रियास्वरूप अद्वैतवादी धर्मतंत्र स्थापित हुआ तो वहां के परिवारों की निष्ठायें विभक्त हो गई। थोरो परिवार ने परम्परावादी चर्च से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया।

वहां का समाज कृषकों तथा शहरी वर्गों में विभक्त था। नगर के वर्ग क्रम में होर वंश समूह, पुनर्जागरणवादी ग्रीक परिवार समूह नगर के मुख्य भाग में अन्य जातियों के वर्ग नगर के दूसरे भागों में, नीग्रो वाल्डेन सरोवर के निकट तथा रेड इंडियन जंगलों में रहते थे। सभी सम्प्रदाय अपनी-अपनी जाति एवं पारिवारिक संस्कृति के अनुसार जीवन यापन करते तथा आत्मनिर्भर होकर भी कानकोर्ड के सामुदायिक जीवन में योगदान देते थे। फिर भी उनका अपना विशिष्ट चरित्र था। वहां साधनों की शुद्धता, सच्चरित्रता, बौद्धिकता तथा ईमानदारी का सम्मान किया जाता था। कानकोर्ड में कृषि के अतिरिक्त जीविकोपार्जन के अन्य साधन भी स्थापित हो चुके थे। ऐसी स्थिति में थोरो की पीढ़ी के समक्ष यह संकट आ उपस्थित हुआ कि वे कानकोर्ड में उपयुक्त अवसरों की प्रतीक्षा करें अथवा वहां से निकलकर बोस्टन अथवा न्यूयार्क जैसे नगरों में जाकर अपना भाग्य आजमायें।

सन् 1823 में जब थोरो परिवार पांच वर्ष चेम्सफोर्ड तथा बोस्टन में व्यतीत करके कानकोर्ड लौटा तो उसका कायाकल्प हो चुका था। वहां एक बैंक, नागरिकों की भावी सुरक्षा के लिए बीमा कम्पनी तथा न्याय के लिए स्थानीय न्यायालय की स्थापना हो चुकी थी। नगर में यातायात के प्रचुर साधनों ने ग्रामीण तथा शहरी व्यापार केन्द्रों को निकट ला दिया था। मिलडान कम्पनी द्वारा नई-नई वस्तुओं की बिक्री, नये व्यापार केन्द्रों का खुलना, नये उद्योग-धन्धों की स्थापना, अखबारों का प्रवेश, नये-नये विज्ञापनों की भरमार तथा आधुनिक शिक्षा संस्थाओं ने प्रारम्भ में कानकोर्ड के सरल जीवन को आधुनिकता की ओर बढ़ा दिया था। इस परिवर्तन काल में वहां के निवासियों की निष्ठाएं घर व चर्च के दायरों से निकलकर नवनिर्मित संस्थाओं तक विस्तृत होने लगी थी। नगर वासी विग्स तथा टोरी दलों में विभक्त हो गये थे।

कानकोर्ड का समाज सुधारकों से भरा था। वहां वाइल्डर, जेलौट, जोजेफ पामर, आलकाट, डॉ. रिप्ले तथा इमर्सन आदि समाज सुधारक निवास करते थे। वहां श्रीमती रिप्ले, कु. मार्गरेट फुलर आदि कई शिक्षित तथा प्रतिभाशाली महिलायें भी रहती थीं। हेनरी डेविड थोरो के व्यक्तित्व निर्माण में कानकोर्ड की विशिष्टताओं का विशेष योगदान रहा है।

5.3.8 थोरो के विविध रूप

प्रकृतिवादी के रूप में - थोरो का जन्म नदियों, पहाड़ों, झरनों तथा विभिन्न पशु-पक्षियों से युक्त जंगलों से घिरे सुरम्य कानकोर्ड तथा प्रकृति-प्रेमी माता-पिता के यहां हुआ था। अपने चारों ओर फैली प्राकृतिक सुषमा उसके लिए केवल आकर्षण का ही नहीं बल्कि सुरक्षा, दुलार तथा अन्वेषण का स्थल भी थी। बचपन में उसके माता-पिता पिकनिक के दौरान पेड़ों, पक्षियों तथा जानवरों के विषय में जानकारी देते थे। कई बार थोरो घर से परेशान होकर अकेला जंगल में चला जाता और 'तारों के पीछे छिपे परमात्मा को देखने का प्रयत्न'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करता। किशोरावस्था में थोरो अपने भाई जान के साथ घंटों सेटबरी झील के उथले जल में मछलियों, कछुओं आदि जन्तुओं के जीवनवृत्त तथा आसपास के घने जंगलों में प्राप्त पशु-पक्षियों की विचित्रताओं का अध्ययन करता।

जंगल के एकान्त पथों पर चलना, जंगली सन्नाटे की झोली में अपनी हताशाओं को फेंकना, असाबेट के द्रुत वेग से अपने मनोबल को ऊँचा उठाने की प्रेरणा लेना, पशु-पक्षियों की ध्वनियों का सूक्ष्म अध्ययन करना थोरो का दैनिक क्रम बन गया था। वह नगरवासियों तथा सैलानियों द्वारा प्रकृति के किसी भी अंग के शोषण तथा जानवरों व पक्षियों को मारने का विरोधी था। वाल्डेन सरोवर के निवासकाल में उसने प्रख्यात ग्रंथ 'वाल्डेन' की रचना की। वहीं उसने भारतीय ग्रन्थों तथा ऋषियों के अनुकरण पर अपने जीवन को अत्यन्त सरल बना लिया तथा आवश्यकताओं को कम कर दिया। वह पूर्णतया शाकाहारी हो गया तथा आत्मविश्लेषण के द्वारा अपने हृदय को शुद्ध बनाने में प्रयत्नशील रहा। उसने ऋषियों से मां प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को अनावृत करने तथा परमात्मा से सत्य के साक्षात्कार के लिए प्रार्थना करनी सीखी। उसका विश्वास था कि बाह्य अस्तित्व के पीछे कहीं न कहीं शाश्वत सत्य विद्यमान है जिसमें प्रभु का वास है और जिसे पाना जीवन का प्रमुख लक्ष्य है। वाल्डेन सरोवर के अपने निवास काल में प्रकृति से संसर्ग स्थापित कर इसी सत्य का साक्षात्कार करना उसकी जिज्ञासा तथा खोज का लक्ष्य था। किन्तु धीरे-धीरे उसका झुकाव वैज्ञानिक अन्वेषण करने, आंकड़े एकत्र करने तथा सर्वेक्षण की ओर हो गया।

उसे अच्छा प्रकृतिशास्त्री माना गया है। उसके वनस्पति तथा ऋतुओं के पर्यवेक्षण आज के वैज्ञानिकों के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। 'अमेरिकी राष्ट्रीय मौसम सेवा' ने उसके द्वारा प्रतिपादित कानकोर्ड ऋतु-सम्बन्धी आंकड़ों को राष्ट्रीय आंकड़ों में सम्मिलित कर लिया है जिससे मौसम की सही भविष्यवाणियां की जा सकें। 'द सक्सेशन आफ द फारेस्ट ट्वीस' नामक उसकी पुस्तक में दिये गये पेड़ों के उत्तराधिकार के सिद्धान्त तथा उनकी आयु निश्चित करने के तरीकों को आज भी प्रामाणिक माना जाता है। उसे 'सरोवर विज्ञान का जनक' कहा जाता है जिसके अन्तर्गत ताजे पानी के विभिन्न बदलते रूपों का अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन उसके नदी, तालाब व झील के जल से सम्बन्धित विवरणों में निहित है। वह अमेरिकी 'परिस्थितिकी विज्ञान' तथा 'ऋतु जैविकी' के प्रारम्भकर्ताओं में से है। हमें थोरो की सफलता एवं असफलता का मूल्यांकन अपनी सफलता की परिभाषा के अनुसार न करके एक वैज्ञानिक के रूप में करना चाहिए। थोरो स्वयं को वैज्ञानिक न मानकर दार्शनिक मानता था। वह विज्ञान तथा दर्शन के पृथक्करण के स्थान पर उनके विलीनीकरण पर बल देता था। उसको विश्वास था कि पृथ्वी केवल मृत इतिहास का अंश नहीं है बल्कि जीवित काव्य है। उसका विश्वास था कि प्रकृति की भौतिक यथार्थता तथा उसमें निहित विचारों को पृथक नहीं किया जा सकता।

अन्तर्ज्ञानवादी के रूप में

थोरो के अन्दर का गहरा आस्तिक भाव उसे आडम्बरी चर्च तथा उसकी परम्पराओं से पृथक् करता रहा और सार्वभौमिक परमसत्ता की अनुभति तथा सत्य की खोज के लिए प्रेरित करता रहा। यही दार्शनिक जिज्ञासा उसे इमर्सन के निकट ले गई। थोरो अज्ञान के अंधेरे में आस्था और अनास्था के ज्वार-भाटे में समय खोने पर 'सत्य में जानने और होने' तथा 'सत्य को जानने और उसे जीने' में विश्वास करता था। थोरो यद्यपि इमर्सन के तर्क को त्यागने के परामर्श को स्वीकार नहीं कर सका, किन्तु उसने इमर्सन के सामान्य दर्शन का ज्ञान और अपनी सामाजिक तथा बौद्धिक स्वतन्त्रता की खोज का समर्थन अवश्य हासिल किया।

इमर्सन अन्तर्ज्ञानवादियों का नेता था जिनका नवीन अध्यात्म तथा ब्रह्मांड के विषय में द्वैतवादी दृष्टिकोण था। वे ब्रह्मांड को प्रकृति तथा आत्मा में विभक्त करते थे और व्यक्तियों को प्रकृतिवादी तथा आदर्शवादी दो वर्गों में रखते थे। वे जॉन लाक के इस सिद्धान्त के विरोधी थे कि मानव ज्ञान पूर्णतया ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित किया जाता है। अन्तर्ज्ञानवादियों का मत था कि मनुष्य कुछ जन्मजात विचारों तथा गुणों को बीज रूप में लेकर उत्पन्न होता है जो शिशु और परमात्मा के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अन्तर्ज्ञानवादियों के जीवन की सफलता का रहस्य तथा लक्ष्य भौतिकवादी विषयों से ऊपर उठकर नैतिक तथा आध्यात्मिक श्रेष्ठता प्राप्त करना था। जब भी समाज और व्यक्ति में द्वन्द्व हो तो व्यक्ति को सामाजिक धारणा के स्थान पर अपनी आत्माचेतना के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस विचारधारा ने थोरो की असमझौतावादी प्रकृति को सामाजिक अपेक्षाओं से पृथक् रहने की प्रेरणा दी।

थोरो जीवन-भर अर्न्ताज्ञानवादी रहा, परन्तु उसका अन्तर्ज्ञानवाद इमर्सन से भिन्न आधार पर टिका था। इमर्सन का अन्तर्ज्ञानवाद अद्वैत पर आधारित था जिसके अनुसार सारे ब्रह्मांड में एक ही आध्यात्मिक सत्ता व्याप्त है। उसने अपनी पुस्तक 'नेचर' का प्रारम्भ (मानव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शरीर सहित) तथा आत्मा के मध्य काल्पनिक विभाजन करके किया है। इमर्सन के अनुसार प्रभु, मनुष्य तथा प्रकृति सभी में अपनी पृथक्-पृथक् सृजनात्मक शक्ति है। थोरो का विश्वास था कि आदर्श भौतिक जगत् से परे आन्तरिकता में रहता है और वहीं से प्राप्त किया जा सकता है।

थोरो सुव्यवस्थित दार्शनिक न होकर अध्यवसायी, असमझौतावादी, मुमुक्षु तथा परम सत्य का जागरूक अन्वेषक था। यदि उसके लेखन का गहनता से अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि वह आज के पाठकों के लिए इसलिए मूल्यवान है कि उसमें परमात्मा एवं प्रकृति की अपार दयालुता की श्रेष्ठता का आशावाद निहित है। वह किसी भी विचार को, चाहे वह कितना भी विश्वासोत्पादक क्यों न हो अथवा उसमें विश्वास करने की उसकी कितनी भी तीव्र ललक क्यों न हो, स्वीकार करने से पूर्व उसका विभिन्न परिप्रेक्ष्यों से परीक्षण करता था। यहां तक कि 'प्रभु की दयालुता', 'प्रकृति की उदारता' जैसी अन्तज्ञानर्वाद की आधारभूत संकल्पनाओं के समक्ष भी उसने एक बार प्रश्नचिह्न लगाकर उनका विश्लेषण किया। उसके इसी साहस ने उसे जीवन को गम्भीर, दु:खद यथार्थो का सामना करने की सामर्थ्य प्रदान की और विचारक के रूप में उसकी प्रमुख निर्णायक शक्ति बना।

समाज सुधारक के रूप में

अपनी जन्मराशि के गुण तथा भारतीय ऋषियों का 'सादगी' का आदर्श थोरो के जीवन तथा विचारों का आधार था जिसने जनमानस में उसकी 'सादा जीवन उच्च विचार' की छवि अंकित की। जब भी व्यक्ति अपने भौतिकवादी, असन्तुष्ट एवं आडम्बरपूर्ण जीवन से उनका व्यवच्छेदन करता हुआ आध्यात्मिक तथा आधारभूत चिन्तन में लौटा है, थोरो के सादगी के आदर्श ने उसे अपनी ओर आकृष्ट किया है। थोरो का सात्त्विक जीवन ऐसा शान्त दार्शनिक बीहड़पन का आदर्श है जो हमारे व्यस्त जीवन को लुभाता तो है किन्तु हम उसके समान सूनेपन में जीवन यापन का वरण नहीं कर सकते।

गम्भीर एकान्तप्रिय जंगलों में घूमने वाला थोरो तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक स्थिति एवं सामाजिक सम्बन्धों के प्रति सदा जागरूक रहा। वह सामाजिक व राजनैतिक समस्याओं पर गहन विचार करता था। 'ए वीक आन कानकोर्ड एण्ड मेरीमैक रिवर्स' में उसने कपड़ा उद्योग तथा स्थापित चर्च की आलोचना, 'वाल्डेन' में अमेरिका के अर्थतन्त्र की, 'द मेन वुड्स' में धार्मिक आडम्बरों की, 'ए यंकी इन कनाडा' में कैथोलिक तथा कनाडा के सैनिक तन्त्र की आलोचना की है।

वह अपनी किशोरावस्था से ही सामाजिक तथा राजनैतिक सुधारों का समर्थक रहा। उसने अपने हावर्ड में अध्ययन काल में 'सभ्य राज्यों की बर्बरताएं तथा आज्ञापालन' जैसे निबन्ध लिखे। थोरो के सुधारों की जड़ें अन्तर्ज्ञानवाद के 'आत्मसंस्कृति' के आदर्श में निहित थी जिससे उसने इमर्सन के अद्वैतवाद से ग्रहण किया था। इस आदर्श के अनुसार दूसरों का सुधार करने से पूर्व स्वयं को सुधारना आवश्यक है। इस आदर्श का प्रभाव यह हुआ कि थोरो स्वयं को सुधारने में लग गया। इसलिए हृदय से सामाजिक सुधारों का समर्थक होकर भी वह सक्रिय समाज-सुधारक नहीं बन सका। आत्मसंस्कृति के आदर्श में विश्वास करते हुए भी वह सामाजिक अन्याय के प्रति कभी तटस्थ नहीं रहा। इसके उपरान्त थोरो ने जनजागरण की दृष्टि से अपने अपने में अमेरिका की सामाजिक-राजनैतिक संस्थाओं की आलोचना करनी प्रारम्भ की। उसके सुधार-सम्बन्धी सभी लेखों में तीन विषयों पर विशेष रूप से विचार किया गया है: सच्चे सुधारक की विशेषताएं, नागरिक तथा अमेरिकी अर्थतंत्र के सम्बन्ध तथा नागरिक एवं अमेरिकी राजनैतिक तंत्र के सम्बन्ध।

थोरो बाद में सामूहिक आन्दोलन की संभावना में संदेह करने लगा था। वह, दासता विरोधी अमेरिकी नेता पी. रोजर्स का प्रशंसक बन गया जो सामूहिक आन्दोलन के स्थान पर व्यक्तिगत आन्दोलन का समर्थक था। उसने प्रत्येक अनुचित बात का विरोध करने के रोजर्स के साहस की सराहना 'डायल' में छपे अपने लेख 'हेरल्ड आफ फ्रीडम' में की। उसने लाएड गैरिसन द्वारा प्रकाशित पत्र 'लिबरेटर' में समाज सुधारक वेण्डेल फिलिप की प्रशंसा में एक लेख में कहा, ''फिलिप सिद्धान्तों वाला व्यक्ति है जो केवल दासता विरोधी कार्य करने के लिए नहीं जन्मा बल्कि प्रत्येक उचित कार्य करना उसका ध्येय है।'' इन सुधारकों के प्रभाव से उसने 'द सर्विस' में सामाजिक व राजनैतिक बुराइयों के विरुद्ध व्यक्तिगत विरोध व्यक्तिगत विरोध का समर्थन किया। उसने 'रिफार्मस एण्ड रिफार्मर्स' में परंपरावादियों तथा सुधारवादियों में अंतर दर्शाया। उसका मत था कि सुधार व्यक्तिगत होने चाहिए। व्यक्ति समाज का एक साधन के रूप में प्रयोग करे, न कि समाज व्यक्ति का। तभी समाज कुछ सीमा तक सुधर सकता है। समाज सुधार में सामूहिक प्रयत्न तभी सफल हो सकते हैं जब सुधारकों के बल का स्रोत समाज न होकर कर प्राकृतिक कानून होवे। व्यक्ति को प्रकृति के समान सरल तथा सहृदय होना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.3.9 आर्थिक सुधार सम्बन्धी चिन्तन

थोरो ने आर्थिक सुधारों के विषय में बहुत कम लिखा है। इस सम्बन्ध में उसकी एकमात्र उपलब्ध रचना 'पैराडाइज रीगेण्ड' उल्लेखनीय है जो 'यूनाइटेड स्टेट्स मैगजीन एण्ड डेमोक्रेटिक रिव्यू' में छपी थी। थोरो का यह लेख इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें बहुत-से महत्त्व के प्रश्न उठाये गये थे और भविष्य के प्रति आशा व्यक्त की गई थी लेकिन वह 'आइजलर' के काल्पनिक स्वर्ग में अनेक दोष देखता था जैसे प्रकृति की शक्तियों पर यंत्रों द्वारा स्वामित्व प्राप्त करना, मानवीय श्रम को निरर्थक करना तथा प्रकृति को मानव इच्छा के समक्ष झुकाना। थोरो 'आइजलर' योजना इसलिए भी दोषपूर्ण मानता था क्योंकि उसमें नैतिक मूल्यों तथा आध्यात्मिकता के उच्च लक्ष्य को त्यागकर भौतिक सुख-सुविधाओं पर ध्यान दिया गया था। उसमें समय, धन तथा व्यक्ति जैसे अविश्वसनीय आधारों का सहारा लिया गया था तथा आत्मनिर्भरता की आवश्यकता की उपेक्षा की गई थी।

थोरो की भौतिक प्रयत्न के स्थान पर आन्तरिक सुधारों की मांग उस समय निरर्थक सिद्ध हो गई जब उसके वाल्डेन सरोवर के निवास काल में किसानों ने अपनी आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था त्यागकर अपनी फसलों को बेचना प्रारम्भ कर दिया और सरकार की औद्योगीकरण की नीति को स्वीकार कर लिया जिसके अन्तर्गत भौतिक सुखों की प्राप्ति सरल जीवन तथा प्राकृतिक सम्पदा के शोषण के मूल्य पर होनी थी। इस स्थिति के प्रति उसने 'वाल्डेन' प्रकाशन के उपरान्त 'गेटिंग लिविंग', 'वॉट शैल इट प्रोफिट', 'लाइफ विदाउट प्रिंसिपल' जैसे भाषणों द्वारा अपना प्रतिरोध व्यक्त किया। उसे यह देखकर दुख होता था कि उसके पड़ोसी अपने नैतिक विकास के स्थान पर व्यापार में दिन-रात लगे रहते हैं। उनका जीवन काम और कमाने में ही आन्तरिक उन्नयन के बिना समाप्त हो जाता है। व्यक्ति ऐसे साधन खोज रहा है जिनसे कम भाग्यशाली व्यकितयों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सके। धन कमाने के साधन लोगों को नीचे की ओर घसीट रहे हैं। उसने अमेरिका की आर्थिक विकृतियों को दूर करने के लिए सुझाव दिया कि श्रमिकों को इतने अच्छे वेतन दिये जायें जिससे वे सम्मानपूर्ण जीवन जी सकें, उच्च नैतिक तथा वैज्ञानिक लक्ष्यों की प्राप्त कर सकें, वही श्रेष्ठ व्यावहारिक-आर्थिक व्यवस्था है जो प्रभु तथा प्रकृति से साम्य रखती हैं।

5.3.10 थोरो की विचारधारा

राजनीतिक विचार - थोरो ऐसी सरकार के प्रति अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं मानता था जो अपने नागरिकों को हितों के विरुद्ध कार्य करती है। थोरो अमेरिकी सरकार की औद्योगीकरण, यन्त्रीकरण, पूंजीवाद तथा आधुनिकीकरण की ओर उन्मुख नीतियों की आलोचना करता था। वह उसके दास, नीग्रो तथा रेडइंडियन लोगों की समस्याओं के प्रति उपेक्षाभाव का भी विरोध करता था। उसका विचार था कि अमेरिका ऐसा आदर्श राज्य हो जिसमें गांव आत्मनिर्भर किसानों तथा शिल्पकारों द्वारा संगठित किए जायें जो सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक केन्द्रों का कार्य करें। उनके कार्यों तथा व्यवस्था में सरकार न्यूनतम हस्तक्षेप करे। थोरो अपने जीवन के अन्तिम काल में समझ गया था कि उसके आदर्श राज्य की छवि का अमेरिका में बढ़ते-फैलते व्यापारीकरण, औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण तथा शहरीकरण के कारण, साकार होना सम्भव नहीं है। फिर भी वह अपने वाल्डेन काल तक अपने विचारों की साकारता के प्रति आश्वस्त रहा।

अहिंसक अराजकतावादी

थोरो के आर्थिक विचारों के समान ही उसके राजनैतिक विचार भी 'आत्मसंस्कृति' की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। अगर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के सत्य को खोज में क्रियाशील रहे तो सरकार की कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। उसके इस लक्ष्य का अनुचित अर्थ लगाकर आलोचकों ने उसे 'अराजकतावादी' माना है। उस पर किये गये आलोचनात्मक प्रहारों का आधार उसके द्वारा सभी प्रकार की सरकारों को तुरन्त भंग करने तथा व्यक्तियों के बन्धनहीन समाज की मांग के पीछे निहित लक्ष्य के स्पष्टीकरण का सर्वथा अभाव है। वास्तव में थोरो आदर्शवादी के रूप में अराजकतावादी कहा जा सकता है। उसका विश्वास था कि व्यक्ति अपनी चेतना के माध्यम से आदर्श सत्य से जुड़ सकता है। अगर सभी इस आदर्श को प्राप्त कर लें तो वे परस्पर मैत्री से रह सकते हैं। वह सरकार की विशिष्ट कार्यों के लिए नहीं केवल सामान्य रूप से आवश्यकता स्वीकार करता है। जब सरकार व्यक्तियों की बुद्धि तथा शरीर को दास बनाकर उन्हें अनुचित कर अदा करने तथा मत देने के लिए बाध्य करती है तो ऐसी सरकार का समर्थन नहीं किया जा सकता।

सरकार उस समय अनावश्यक हो जाती है जब वह जनता की इच्छाओं की पूर्ति नहीं करती। सरकार अविश्वसनीय भी है लेकिन वह जनमत से अधिक अपनी निरंकुश शक्ति बनाये रखने का प्रयास करती है। उसके अधिकांश कार्यों के पीछे उसका अपना हित निहित होता है। वह वचन देकर भी उनका पालन नहीं करती। उसे जनता के मतों की चिन्ता होती है, उनके प्रति न्याय की नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

थोरो मताधिकार को राजनीति का खिलवाड़ मानता है। उसके अनुसार मताधिकार के अतिरिक्त व्यवस्थापन तथा आवेदन भी समाज तथा सरकार में सुधार ला सकते हैं किन्तु वे अत्यधिक समय लेते हैं जबकि व्यक्ति अल्पजीवी है। संख्या तथा न्याय का यह समीकरण अन्तर्ज्ञानवाद के इस विचार को स्वीकार्य नहीं है कि निरपेक्ष परोपकारिता कहीं अवश्य विद्यमान है। सरकार के अपने दोषों को दूर करने की इच्छा पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जब सरकार स्वयं को जनता की इच्छा से पृथक् कर मनमानी करती है, तब इस बुराई का जनता द्वारा विरोध किया जाना चाहिए।

5.3.11 सविनय अवज्ञा

थोरो ने 'सिविल डिसओबिडियेन्स' नामक लेख में सरकार के आडंबरी रुख को स्पष्ट किया है। एक ओर तो सरकार विद्रोहात्मक क्रान्ति की प्रशंसा करती है और दूसरी ओर सामयिक संदर्भों से परिवर्तन की मांग स्वीकार नहीं करती। सरकार के अन्याय के विरुद्ध क्रान्ति करने के अधिकार में राज्य के प्रति स्वामिभक्ति की समाप्ति तथा आवश्यकता होने पर हिंसा का प्रयोग आदि सम्मिलित हैं। यद्यपि वह इस साधन को अन्य साधनों की असफलता पर ही अपनाने में विश्वास करता था किन्तु उसने गांधी के समान हिंसा का सिद्धान्त रूप में प्रतिरोध किया।

स्वयं थोरो के शब्दों में, ''मैं हृदय से इस आदर्श वाक्य को स्वीकार करता हूँ कि ''वही सरकार सर्वोत्तम है जो न्यूनतम शासन करती है। मैं चाहता हूँ कि इस आदर्श को जल्दी से जल्दी और व्यवस्थित रूप से असली जामा पहनाया जा सके। यदि इस आदर्श को क्रियान्वित किया गया तो इसका अन्ततः अर्थ यह होगा कि 'वही सरकार सर्वोत्तम होती है जो शासन बिल्कुल नहीं करती। इस विचारधारा में मेरा विश्वास भी है। इसके लिए जब जनता अपने को तैयार कर लेगी तो उसकी सरकार इसी प्रकार की होगी। उस व्यवस्था में नियमन करने वाली एक आवश्यकता मात्र होगी लेकिन आमतौर पर अधिकांश सरकारें और कभी-कभी तो अधिकांश सरकारें अनावश्यक रूप से नियन्त्रण करने वाली होती हैं।''

वे मानते थे कि सरकार की एक स्थायी सेना हो, इसके विरोध में जो आपत्तियां उठाती जाती हैं वे अनेक हैं, वजनी हैं और उनको स्वीकार किया जाना चाहिए। ये आपत्तियां स्थायी सरकार के विरोध में भी उपस्थित की जा सकती हैं। लोक द्वारा अपनी इच्छा को क्रियान्वित करने की एक तंत्र ही तो सरकार हैं, लेकिन जब तक जनता अपनी इच्छा-आकांक्षाओं पर अमल करा सके, उससे पहले ही सरकार का दुरुपयोग किया जा सकता है और उसे विरूप भी किया जा सकता है। राजनैतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में वे तकनीकी पक्ष की अपेक्षा आत्मिक पक्ष पर बल देते थे। सरकार के स्वरूप निर्धारण का एक व्यावहारिक कारण यह है कि जब सत्ता एक बार लोगों के हाथ में आ जाती है तो बहुमत की बात चलती है। बहुमत वाले लोगों की सरकार बहुत दिनों तक चलती है। इसका कारण यह नहीं है कि बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्य लोगों के प्रति न्यायपूर्ण नीतियां अपनाते हैं, बल्कि बहुसंख्य शारीरिक एवं भौतिक रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली होते हैं। बहुमत से बनी सरकार सर्वांश रूप से न्याय पर आधारित नहीं होती। थोरो का कहना था कि न्याय उसकी प्रक्रिया से अधिक महत्त्वपूर्ण है। न्याय सरकार के विचारों पर नहीं, व्यक्ति की चेतना पर आधारित है। इसलिए नागरिकों का यह अधिकार ही नहीं, कर्त्तव्य भी है कि वे अन्यायपूर्ण कानूनों की अवज्ञा करें। किन्तु वह नागरिकों के कानून के प्रति स्वच्छंद व्यवहार का विरोध है। उसने अपने सबसे अधिक पुष्ट एवं सारगर्भित भाषण में कहा, ''कानून व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं बनाता बल्कि व्यक्ति कानून को स्वतन्त्र बनाता है, वे व्यक्ति ही कानून व व्यवस्था के प्रेमी हैं जो सरकार के तोड़ने पर भी कानून का पालन करते हैं।''

निष्कर्षतः यह स्वीकार किया जा सकता है कि थोरो ने ऐसे समाज एवं राज्य की संयपना प्रस्तुत की जो सामाजिक एवं प्राकृतिक प्रेम पर आधारित थी।

5.4 डॉ. मार्टिन लूथर किंग

5.4.1 परिचय

डॉ. मार्टिन लूथर किंग (जू) जिन्हें अमेरिका का गांधी भी कहा जाता है ने साठ के दशक में अमेरिका में व्याप्त रंग-भेद नीति का अहिंसक विरोध कर गांधी की मृत्यु पश्चात् अहिंसा को प्रतिष्ठित किया। अमेरिका के दार्शनिक हेनरी. डी. थोरो, रूसी विचारक लियो टालस्टाय तथा विशेषतः महात्मा गांधी के सविनय अवज्ञा के चिन्तन एवं कार्यक्रम से प्रभावित डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने अमेरिका के अलबामा राज्य में स्थित मॉण्टगोमरी नगर में रंगभेद को मिटाने के लिए गांधी विचार पर आधारित अहिंसक आन्दोलन (बस-

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आन्दोलन) का नेतृत्व किया था, जिस आन्दोलन को सविनय अवज्ञा आंदोलन की संज्ञा दी गई। सविनय अवज्ञा का साधारण अर्थ- कि हर नागरिक को राज्य के काले कानूनों के विरुद्ध अवज्ञा (आज्ञा पालन न करने) का नैतिक अधिकार है। वह हर अन्यायपूर्ण कानूनों की अवज्ञा कर सकता है, किन्तु इस अवज्ञा का स्वरूप भद्र एवं सविनय होगा, अभद्र या हिंसायुक्त नहीं।

अमेरिका समाज का तात्कालीन परिदृश्य शोषण एवं रंग-भेद की नीति पर आधारित क्रियाकलापों का था। विशेषत: मॉण्टगोमरी नगर के नीग्रो जाति और गोरे जाति के बीच कई क्षेत्रों में शरीर के रंग के आधार पर भेदभाव किया जाता था। नीग्रो लोगों को गोरे हमेशा हीन मानते थे तथा अपनी इस भावना का प्रदर्शन भी किया करते थे। गोरे और नीग्रो ये दोनों समुदाय मनुष्य-समाज के विभाजित अंग बने हुए थे। रंग के आधार पर भेदभाव स्कूलों में भी चलता था। यातायात के उपयोग, दुकानों व अन्य प्रतिष्ठानों में भी रंग के आधार पर भेदभाव व्याप्त था। विभिन्न तबकों एवं प्रकारों के संगठनों में ये भेदभाव देखने को मिलता था। चर्च में भी नीग्रो व गोरे पदारियों में आपसी सहयोग का अभाव था। अलबामा राज्य के कानूनों और प्रशासन के द्वारा ऐसी व्यवस्था की गई थी जिसमें बहुसंख्यक नीग्रो अधिकतर राजनैतिक अधिकारों से वंचित रह जाते थे। इन्हीं प्रकार के परिदृश्य में डॉ. किंग ने माण्टगोमरी में 'डेक्सटर एवेन्यू बैप्टिस्ट चर्च' के पादरी के रूप में कार्यभार संभाला। अब उन्हें कई सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक कार्य करने थे जिसमें प्रमुख था- रंगभेद को समाप्त करना और यहीं से उनका रंगभेद के विरूद्ध अहिंसक प्रतिकार शुरू होता है। वस्तुत: डॉ. किंग ने चर्च के दायित्वों के क्षेत्र में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन का विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने चर्च की गतिविधियों को सामाजिक न्याय के साथ जोड़ा। डॉ. किंग के विचार में धर्म मनुष्य की केवल प्राथमिक आवश्यकताओं पर भी विचार नहीं करता, बल्कि वह जीवन के अन्तिम छोर तक पहुंचाता है। जब धर्म का बुनियादी पहलू भुला दिया जाता है, तब वह मात्र नैतिक आचरण का एक प्रकार बन जाता है फिर आत्मिकता बाहरी क्रिया- कांडो में उलझ जाती है और ईश्वर मनुष्य की अर्थहीन कल्पना का विषय बन जाता है। परन्तु सच्चा धर्म मनुष्य की सामाजिक परिस्थितियों की भी अवहेलना नहीं कर सकता। धर्म का संबंध इहलोक से भी है तथा परलोक से भी है वह सामाजिक प्रश्नों को भी हल करता है और आध्यात्मिक प्रश्नों को भी केवल मनुष्य और ईश्वर के बीच ही एकता पैदा करना नहीं चाहता, बल्कि मनुष्य-मनुष्य के बीच भी एकता पैदा करने की कोशिश करता है तथा मनुष्य और उसकी आन्तरिकता को भी एकरूप करना चाहता है। इस चिन्तन के परिणीति-स्वरूप उन्होंने चर्च की गतिविधियों को सामाजिक न्याय के साथ जोड़ा तथा इस उद्देश्य को पूर्ति के लिये प्रारम्भ में सबसे पहले उन्होंने जो एक कमेटी गठित की उसको यह जिम्मेदारी सौंपा गई कि वह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर बुद्धिमानी के साथ डेक्सटर चर्च की धर्म परिषद को वाकिफ रखे। इस कमेटी का काम यह भी था कि वह अश्वेत लोगों के विकास की राष्ट्रीय समस्या के महत्त्व को स्पष्ट करे और अधिक से अधिक नीग्रो लोगों के नाम मतदाता सूची में दर्ज कराने की आवश्यकता को चर्च के सामने उपस्थित करें तथा प्रान्तीय और राष्ट्रीय चुनावों के समय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार प्रकट करने के लिये सभाओं और गोष्ठियों का आयोजन करे।

डॉ. मार्टिन लूथर किंग तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में स्वीकारते थे कि माण्टगोमरी में आम लोगों के बीच कभी भी वास्तविक शान्ति नहीं रही। जिस प्रकार की शान्ति की बात वहां की जाती थी उसका स्वरूप ही नकारात्मक रहा। इस शांति को नीग्रो लोगों ने भी प्राय: परतन्त्रता और विवशतावश स्वीकार कर लिया था लेकिन यह सच्ची शान्ति नहीं थी। सच्ची शान्ति तनाव का अभाव मात्र नहीं है। वह तो न्याय की उपलब्धि द्वारा ही संभव है। जो तनाव (गोरों की नीति के विरोध से उपजा) माण्टगोमरी में प्रचलित था, वह बहुत ही आवश्यक है और यह तनाव तब आता है, जब पददलित लोग खड़े होकर गति प्रारम्भ करते हैं, स्थायी और विधायक शांति की ओर प्रयाण करते हैं। डॉ. किंग कहते थे ''मैं शांति लेकर नहीं आया हूँ बल्कि एक तलवार लेकर आया हूँ'' निश्चय ही डॉ. किंग का मतलब यह नहीं था कि वे किसी बाहरी तलवार को लेकर आये हैं, बल्कि वे ऐसा कहते प्रतीत होते हैं- ''मैं यह पुराने ढंग से नकारात्मक शांति लेकर नहीं आया, जिसमें निष्प्राणता तथा शिथिलता व्याप्त हो। मैं तो निर्जीव शांति के विरूद्ध लोगों को हिलाने के लिए आया हूँ। तब नये और पुराने में संघर्ष छिड़ जाता है तथा न्याय, प्रेम और निश्चय ही ईश्वर का राज्य भी प्राप्त होगा।'' काले और गोरे के बीच माण्टगोमरी में जिस तरह की शांति चली आ रही थी, वह कोई क्रिश्चयन शांति नहीं थी, वह एक प्रस्तर-शांति थी, जो बहुत ऊँची कीमत देकर खरीदी गयी थी। डॉ. किंग का यह दृढ़ विश्वास था कि समाज की बुराईयों को देखकर उदासीन रहना तो अनुचित है ही साथ ही उन बुराईयों के उन्मूलन हेतु हिंसा का सहारा लेना भी अनुचित है। इसलिए एक ओर तो उन्होंने हर प्रकार के अन्याय, शोषण आदि के विरूद्ध संघर्ष करने की प्रेरणा दी, वहीं दूसरी ओर अहिंसक पद्धति से भी सभी प्रकार के संघर्षों के निराकरण का मार्ग प्रतिष्ठित किया, जिसमें उनके अहिंसा के प्रति दृढ़ विश्वास एवं परिपक्व चिन्तन ने उद्दीपन का कार्य किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5.4.2 अहिंसा एवं शान्ति दर्शन

डॉ. किंग के अहिंसा और शांति सम्बन्धी सिद्धान्त का मूल स्त्रोत बाईबल तथा गांधी की शिक्षा है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनके सिद्धान्त की अपनी कोई मौलिकता नहीं है, अपितु अपने अहिंसा के सिद्धान्त में बाईबल के प्रेम और गांधी के अहिंसक प्रतिकार के तत्त्वों का समन्वय स्थापित किया है।

डॉ. किंग के अनुसार सत्य के दो पक्ष हैं। एक उसका आन्तरिक पक्ष है और दूसरा बाह्य पक्ष है। आन्तरिक पक्ष का सम्बन्ध धर्म और अध्यात्म से है तथा बाह्य पक्ष का सम्बन्ध विज्ञान और समाज से है। उनके अनुसार सत्य के अन्तर्गत परस्पर विरोधी तत्वों का आपस में समन्वय होता है। अतएवं उन्होंने जैन दार्शनिकों की भांति सभी प्रकार के ऐकान्तिक सिद्धान्तों का खण्डन किया। उनकी दृष्टि में अध्यात्मवादी वास्तववादी नहीं होते तथा वास्तववादी अध्यात्मवादी नहीं होते। बाईबल की शिक्षा को ग्रहण करते हुए डॉ. किंग ने कहा कि मनुष्य के लिए न तो कठोर हृदय का होना वांछनीय है और न दुर्बल बुद्धि का होना ही वांछनीय है। उसे प्रखर बुद्धि और कोमल हृदय का होना चाहिए। बौद्धिक प्रखरता तथा आध्यात्मिक कोमलता ही उनके अहिंसा के सिद्धान्त का आधारभूत तत्व है अत: आवश्यक है कि डॉ. किंग की अहिंसा की अवधारणा को पूर्ण-रूपेण से समझने हेतु दोनों तत्वों पर विचार किया जाए। उनका मानना है कि विश्व का सत्य एक अन्तर सम्बन्ध संरचना है। हर मनुष्य परस्परता के आधार पर अनिवार्य रूप से सम्बंधित है। जो घटना किसी एक को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है, वही घटना अन्य को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। इन परस्परताओं को देखते हुए डॉ. किंग ने ईसाई धर्म के ईश्वरीय प्रेम (आध्यात्मिक कोमलता) के सिद्धान्तों को समर्थन किया और माना कि ईसा द्वारा प्रतिष्ठित प्रेम के बन्धनों में मनुष्य बन्धा हुआ है तथा इसी प्रेम को अनुभूत करना मानव जीवन का लक्ष्य है। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रेम से डॉ. किंग का क्या अभिप्राय है। ग्रीक भाषा में प्रेम शब्द के लिए तीन शब्दों का प्रयोग हुआ है। Eros, Philiya तथा Agapa, Eros संवेगात्मक या सौन्दर्यबोधक प्रेम का सूचक है जबकि Philiya उस प्रेम को कहते हैं, जहां अनुरोधी, अनुकूल या मित्रों के प्रति हमारा विशेष प्रकार का आकर्षण, राग या व्यवहार होता है। इस दृष्टि से प्रेम केवल मित्रों के लिए ही सार्थक है, शत्रुओं के लिए नहीं। Agova के सन्दर्भ में प्रेम का अर्थ है, शुभ संकल्प, पारस्परिक समझ, उद्वात भाव आदि। इस प्रकार के प्रेम में किसी से कुछ प्राप्त करने की इच्छा नहीं रहती है और न ही संवेगिकता या भावुकता ही परिलक्षित होती है। यह प्रेम बिना भेदभाव के सभी व्यक्तियों के प्रति व्यक्त होता है, क्योंकि इसका आधार ईश्वर है। ईसाई धर्म में ईश्वरमय प्रेम को सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित किया गया है। सेन्ट जॉन के शब्दों में ''हमें एक दूसरे से प्रेम करना चाहिए, क्योंकि प्रेम ही ईश्वर है। जो व्यक्ति प्रेम करता है वह ईश्वर की संतान है और वही ईश्वर को जानता है। जो प्रेम नहीं करता वह ईश्वर को भी नहीं जानता है। अत: यदि हम एक दूसरे से प्रेम करते है तो ईश्वर हम में निवास करता है।'' डॉ. किंग ने प्रेम को एक प्रकार की शक्ति माना है, जिस शक्ति को सभी धर्मों में सर्वोच्च जीवन की एकता के सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए प्रेम चरम सत्ता तक पहुंचने का सुलभ एवं शुद्ध साधन है। यह वह चरम शक्ति है जिसके कारण हम मृत्यु और अशुभ के स्थान पर जीवन और शुभत्व का वरण करते हैं।

डॉ. किंग का प्रेम किसी दुर्बल व्यक्ति का प्रेम नहीं है, यह शक्तिशाली का प्रेम है, जिसे स्पिनोजा के शब्दों में ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम कहा जा सकता है। यह वह प्रेम है जो प्रखर बुद्धि वाला व्यक्ति करता है। यह प्रेम किसी शक्ति के पलायन की अपेक्षा नहीं रखता अपितु वह उस शक्ति के पर्याय है जिसे गांधी और डॉ. किंग के शब्दों में प्रेम-शक्ति (Love Force) कहा जा सकता है। डॉ. किंग का यह मानना है कि शक्ति और प्रेम का आपस में समन्वय होना चाहिए। इस इतिहास का दुर्भाग्य है कि जो प्रेम में विश्वास करते है, वे सत्ता और शक्ति को त्याग देते हैं तथा जिन्हें सत्ता और शक्ति प्राप्त होती है वे प्रेम को तिलांजली देते हैं। डॉ. किंग के अनुसार शुद्ध रूप में सर्व के प्रति प्रेम भाव रखने का अर्थ है न्याय के प्रति, शांति के प्रति, स्वतन्त्रता के प्रति समर्थन करना। किन्तु सबको न्याय दिलाना, सबकी स्वतन्त्रता के लिए कार्य करना तब तक संभव नहीं है जब तक हमारे पास सत्ता और शक्ति नहीं है। यदि सत्ताधारी सबके न्याय के लिए कार्य करता है तो इसका अर्थ है कि वह शक्तिशाली भी है तथा उसमें प्रेम भी है। किन्तु यदि कोई निरंकुश शासक है तो इसका अर्थ है कि उसे शक्ति एवं सत्ता प्राप्त है किन्तु प्रेम नहीं। किन्तु यदि कोई सभी प्राणियों से प्रेम करता है और उसमें यह शक्ति नहीं कि सबको न्याय दिलाए तो वह वास्तविक प्रेम नहीं है, उसे केवल मंगलाभिलाषी प्रेम कहा जा सकता है। इस प्रकार डॉ. किंग ने अहिंसा के लिए प्रेम को सर्वोच्च तत्त्व माना है जो अहिंसक का लक्ष्य भी है तथा अहिंसा की शक्ति भी।

डॉ. किंग की अहिंसा का अन्य विचारणीय पक्ष अहिंसक प्रतिकार है, जिसे उन्होंने गांधी की प्रेरणा से ग्रहण किया था। उनका विश्वास था कि समाज में व्याप्त अन्याय शोषण व उत्पीड़न को दूर करने के लिए अथवा यों कहा जाए कि समाज परिवर्तन हेतु अहिंसक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एवं शुद्ध साधन अनिवार्य है। यद्यपि समाज परिवर्तन हेतु कानून व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण घटक है, तथापि कई परिस्थितियों में कानून आदि ही तनाव एवं हिंसा को जन्म देती है। इन प्रकार की परिस्थितियों में एक ऐसी पद्धति की खोज आवश्यक है जिसमें संघर्ष तो हो किन्तु हिंसा न हो। क्योंकि हिंसा का प्रतिकार हिंसा से वांछनीय नहीं है। विरोधियों का सम्मान करने से, उनके प्रति गरिमापूर्ण व्यवहार से संभव है कि उनमें वांछनीय परिवर्तन हो ताकि हमारे प्रति भी उनका व्यवहार मानवीय बन सके।

डॉ. किंग ने जिस अहिंसक पद्धति का अविष्कार किया उसमें संवैधानिकतावाद तथा शिक्षावाद दोनों का समन्वय है। संवेधानिकतावाद जहाँ एक और मात्र विधान और कानून के द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन में विश्वास करता है वही शिक्षावाद लोक शिक्षण के द्वारा समाज परिवर्तन के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। डॉ. किंग के अनुसार कानून और शिक्षा दोनों के समन्वय से अहिंसक पद्धति अपनाकर ही समाज का परिवर्तन उन्नयन हेतु किया जा सकता है। कानून मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं का परिवर्तन करने में सक्षम नहीं है, यह लक्ष्य आध्यात्मिक शिक्षा द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। मानव निर्माण हेतु प्रेम, धर्म और शिक्षा की अनिवार्यता है किन्तु विधान के द्वारा बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन लाकर शांति और व्यवस्था का निर्माण किया जा सकता है। डॉ. किंग हिंसक परिस्थितियों के परिवर्तन हेतु हृदय परिवर्तन में विश्वास करते है। हिंसा, अन्याय व शोषण का प्रतिरोध साहस एवं प्रेम शक्ति के द्वारा किया जाना अपेक्षित है। इस हेतु समस्त प्रकार की वेदना सहने तथा आत्मपीड़ा की क्षमता का विकास किया जाना चाहिए, जिसकी परिणति में हिंसक विरोधी के हृदय में लज्जा की भावना का प्रस्फुटन होगा तथा हृदय परिवर्तन की घटना घटित हो सकती है।

5.4.3 अहिंसक प्रतिकार : दर्शन

डॉ. किंग का अहिंसक प्रतिकार के दर्शन में गहरा विश्वास था। वे स्वीकार करते थे कि अहिंसक प्रतिकार कायरों की प्रतिकार पद्धति नहीं है। इसके विपरीत अहिंसक प्रतिरोधी सजग एवं विवेकशील होता है। उसमें आतुरता होती है और उसमें इतनी क्षमता होती है कि हिंसक व्यवस्था या व्यक्ति का वह डटकर मुकाबला कर सके। वह हर परिस्थिति में बिना हिंसा का सहारा लिए प्रतिकार की क्रिया में संलग्न रहता है। ऐसी प्रतिकार की पद्धति शारीरिक दृष्टि से अनाक्रमक किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से सशक्त आक्रमण है। अहिंसक प्रतिरोधी न तो अपने विरोधियों को पराजित करना चाहता है न ही उन्हें नीचा दिखाना चाहता है, अपितु परस्पर समझ के द्वारा मैत्री संबंध स्थापित करना चाहता है ताकि सामन्जस्यपूर्ण समाज का निर्माण किया जा सके। डॉ. किंग मानते थे कि उनका आन्दोलन काले और गोरों में तनाव करने हेतु नहीं अपितु न्याय और अन्याय, प्रकाश और अन्धकार की शक्तियों का संघर्ष है। इस प्रकार के आन्दोलन में विजय न्याय, सद्भावना और जनतंत्र की होती है।

अहिंसक प्रतिकार में विश्वास करने वाला व्यक्ति इस सत्य में अवश्य विश्वास करता है कि (The universe is on the side of the justice) विश्व न्याय का पक्षधर है। विश्व के अन्तर्गत कोई ऐसी शक्ति है जिसका स्पष्ट निर्देश न्याय और सत्य की पालना के लिए है। अत: अहिंसक प्रतिकार हेतु सत्य और न्याय में अटूट आस्था का होना अनिवार्य है। इसलिए डॉ. किंग ईश्वर से प्रार्थना करते है कि विश्व के नर नारियों को सारी बुराईयों के विरूद्ध मंगल भावना और प्रेम के साथ संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करे।

समाज परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ लोग संयम और विनम्रता की नीति का समर्थन करते है। डॉ. किंग का कहना है कि यदि संयम और विनम्रता का अर्थ संयम, शांति और विवेक से है तो ऐसी स्थिति में विनम्रता की नीति को अपनाना सद्गुण कहा जायेगा तथा इस नीति को किसी भी संक्रमण काल में सभी लोगों के द्वारा अपनाया जा सकता है। किन्तु यदि इस नीति का अभिप्राय यथास्थिति को बनाए रखना और निरंकुश शासकों के इच्छानुसार चलना है तो यह दुखान्तकारी नीति है जिसकी समस्त अहिंसावादियों द्वारा भर्त्सना होनी चाहिए। डॉ. किंग के अनुसार अहिंसक प्रतिकार टूटे हुए समाज को फिर से जोड़ने का एक मात्र विकल्प है। यह एक मात्र साधन है, जिसके द्वारा शांतिपूर्ण ढंग से निर्भिकता पूर्वक सम्मान के साथ न्यायपूर्ण नियम के अनुपालन में सफल हो सकते हैं। उनके अनुसार परन्तन्त्रता, आर्थिक शोषण, उपनिवेशवाद और युद्ध एक ही समस्या के विविध पहलु है जिसका एक मात्र निदान अहिंसक प्रतिकार और अहिंसक संरचनाओं के द्वारा ही किया जा सकता है।

अहिंसा की संस्कृति पर उनके दृढ़ विश्वास ने आधुनिक सभ्य मानव जाति के समक्ष समस्याओं से मुक्ति पाने हेतु तथा नवीन एवं उद्दात विकल्प प्रस्तुत किया। गोरों जाति से विरोध के अन्तराल में भी अहिंसा के प्रयोग के साथ विनम्रता, शालीनता एवं दृढ़ता बरकरार रखी। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा उनके पक्ष में निर्णय देने पर उन्होंने नीग्रो जाति से आह्वान किया कि ''सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय

Jan Kalyan Bhartati Institute (Deemed University), Ladnun

के कारण बसों में चलने वाले रंगभेद को समाप्त करने की जो सफलता हमें प्राप्त हुई है, उसे हम गोरे जाति पर अपनी विजय का प्रतीक न समझें, वरन इसे न्याय और जनतंत्र की विजय मानें यह नवीन व्यवस्था हमें एक विशेष उत्तरदायित्व सौपती है कि हम एक शांति और स्नेहपूर्ण वातावरण का निर्माण करें। अगर किसी दुखद घटना का भी सामना करना पड़े तो हमें अपनी शांति तथा भद्रता का परित्याग नहीं करना है। अगर शब्दों में या कार्यों में कहीं भी फूट पड़े तो भी उस हिंसा के करने वालों में हमारे लोग नहीं होने चाहिए।''

5.4.4 अहिंसक प्रतिकार : व्यवहार

गोरे और नीग्रो ये दोनों समुदाय मनुष्य-समाज के विभाजित अंग बने हुए थे। रंग के आधार पर भेद-भाव स्कूलों में भी चलता था। जबकि अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सन् 1954 में स्कूलों में भेद-भाव मिटाने का निर्णय हो चुका था। माण्टगोमरी के गोरे लोगों ने जानबूझकर उस निर्णय को अमान्य कर दिया था। एक गोरा और एक नीग्रो एक साथ टैक्सी में यात्रा नहीं कर सकते थे। वहाँ ऐसा कानून था कि एक गोरा ड्राइवर केवल गोरे यात्रियों को ही अपनी टैक्सी में ले जा सकता था। नीग्रो लोगों की अलग व्यवस्था थी। नीग्रो और गोरे मजदूर-मालिक की हैसियत से आपस में मिलते थे और एक ही बस में दो अलग-अलग निश्चित सिरों पर बैठकर यात्रा करते थे। इन दोनों समुदायों को अलग करने वाली एक निश्चित लक्ष्मण रेखा रहती थी। काले और गोरे लोग एक ही दुकान से सामान भी खरीदते थे, लेकिन काली चमड़ी वाले (नीग्रो) को मजबूर होकर तब तक प्रतीक्षा में खड़े रहना पड़ता था जब तक कि गोरी चमड़ी वाले (गोरे) सभी ग्राहक सामान लेकर चले नहीं जाते थे। काले को शायद ही कभी सौजन्य या आदरपूर्ण सम्बोधन मिलता था। शहर के अनेक हिस्सों में काले-गोरे लोगों की बस्तियां आपस में जुड़ी हुई थीं और कहीं-कहीं तो वे आपस में ही काफी घुली-मिली भी थी, परन्तु दोनों ही समाज अपने पड़ोसियों की तरफ पीठ फेर लेते थे तथा सामाजिक और सांस्कृतिक आचार-व्यवहार के लिए वे अपने ही रंग वाले समुदाय के साथ मिलते थे।

विभिन्न तबकों एवं प्रकारों के संगठनों में यह भेद-भाव देखने को मिलता था। शहर में ऐसा कोई संगठन नहीं था, जिसका सदस्य काला गोरा दोनों हो। डॉक्टरों, वकीलों, अध्यापकों के संगठनों में भी रंगभेद था। अगर राष्ट्रीय पैमाने के ऐसे संगठनों में कहीं दोनों रंग के सदस्य मिल भी जाते तो भी उनका आपसी सम्बन्ध अच्छा नहीं होता था। चर्च में भी नीग्रो गोरे पादरियों में आपसी सहयोग का अभाव था। माण्टगोमरी में कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो निग्रो और गोरों के आपसी सम्बन्ध को मधुर बनाती, दोनों में एकता स्थापित करती। अश्वेत (नीग्रो) लोगों के विकास की राजनीतिक संस्था (एन. ए. ए. सी. पी.) की माण्टगोमरी शाखा के सभी सदस्य नीग्रो ही थे। नीग्रो लोगों के लिए माण्टगोमरी में ऊँची शिक्षा का एक मात्र स्थान अलबामा स्टेट कॉलेज था, जिनमें 200 नीग्रो अध्यापक और 2000 नीग्रो विद्यार्थी थे। यद्यपि इस कॉलेज के अध्यापकों में श्री होरेश मेन बोंड तथा चार्ल्स थॉमसन जैसे प्रसिद्ध विद्वान भी थे और कॉलेज का शहर और राज्य के सांस्कृतिक जीवन में काफी प्रभाव था, फिर भी यह कॉलेज अपने खूबसूरत अहाते में बहुत ही कम दर्शकों को खींच पाता था। तथ्य यह है कि माण्टगोमरी में 'मानवीय सम्बन्ध परिषद्' की शाखा ही केवल ऐसी संस्था थी, जो दोनों रंगों के लोगों को अपनी समस्याएं सुलझाने के लिए नजदीक ला पायी।

अलबामा राज्य के कानून और प्रशासन के द्वारा ऐसी व्यवस्था की गयी थी, जिससे कि बहुसंख्यक नीग्रो बहुत सारे राजनीतिक अधिकारों से वंचित रह जाते थे। वोट देने का अधिकार बहुत कम नीग्रो लोगों को प्राप्त था। सन् 1940 तक नीग्रो मतदाताओं की संख्या पूरे अलबामा राज्य में दो हजार से अधिक नहीं थी। उसके बाद कुछ तरक्की हुई और सन् 1958 तक नीग्रो मतदाताओं की संख्या 50 हजार तक पहुँची, परन्तु यह तादाद कुल वयस्क नीग्रो जनसंख्या का दस प्रतिशत भी नहीं थी।

सन् 1954 में माण्टगोमरी जिले में वोट देने लायक उम्र के 30 हजार नीग्रो थे, लेकिन उनमें से केवल दो हजार ही मतदाता सूची में दर्ज थे। इसका कारण कुछ तो यह था कि स्वयं नीग्रो मतदाता को मतदान करने में दिलचस्पी ही कम थी और उनके चारों और जो बन्धन थे, उनको तोड़ने का प्रयत्न इन लोगों की तरह से कम हुआ था, परन्तु इसका सबसे बड़ा कारण तो वे कठिन बेड़ियाँ थीं, जिनका निर्माण वहां के गोरे प्रशासन ने किया था। अलबामा राज्य का कानून मतदाता सूची तैयार करने वाले रजिस्ट्रार को अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करने का बहुत बड़ा अधिकार प्रदान करता। रजिस्ट्रेशन ऑफिस में गोरे और काले लोगों के लिए अलग-अलग टेबुल होते थे तथा उन्हें अलग-अलग कतारों में खड़े होना पड़ता था। मतदाता सूची को तैयार करने वाला नीग्रो लोगों की कतार का काम इतने धीरे-धीरे निपटता था, कि अगर कतार में 50 व्यक्ति खड़े हो तो पूरे दिन में पन्द्रह व्यक्तियों का नाम सूची में दर्ज हो पायेंगे। मतदाताओं को एक आवेदन पत्र में स्पष्ट विवरण देने के लिए अनेक सवालों का उत्तर देना पड़ता था, इसके पहले कि वह स्वीकृति योग्य माना जा सके। इतनी सारी परेशानियों और कठिनाइयों के बावजूद माण्टगोमरी जिले या शहर में एक भी नीग्रो सरकारी अफसर नहीं था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

माण्टगोमरी के बसों में लम्बे काल से शांति संदिग्धावस्था में पड़ी थी। बसों में नीग्रो को प्रतिदिन अप्रतिष्ठापूर्ण रंगभेद की याद दिलायी जाती थी। गोरे ड्राइवरों में से यद्यपि कुछ तो मृदु व्यवहार वाले थे, फिर भी अधिकांश बहुत ही अशिष्ट एवं असभ्यतापूर्ण व्यवहार करते थे। उन ड्राइवरों के मुँह से नीग्रो यात्रियों के लिए 'निगर्स', 'काले जानवर' और 'काले बन्दर' जैसे अभद्र शब्दों को सुनना कोई असाधारण बात नहीं थी। रोज ही नीग्रो यात्री बस का किराया देने के लिए अगले दरवाजे से चढ़ने और किराया देने के बाद अन्दर से ही पीछे की सीटों पर नहीं जा सकते थे, बल्कि बस से नीचे उतरकर पिछले दरवाजे से चढ़ने के लिए उन्हें मजबूर किया जाता था। कई बार तो ऐसा भी होता था कि नीग्रो यात्री से किराया प्राप्त करके बस आगे चल पड़ती थी और उस बेचारे काले यात्री को इतना समय भी नहीं मिलता था कि अगले दरवाजे से उतरने के बाद वह पिछले दरबाजे से बस में चढ़ भी सके। इससे भी निर्दय व्यवहार तो वह था, जब नीग्रो यात्रियों को बस में पड़ी खाली सीटों के बावजूद खड़े रहने के लिए विवश किया जाता था। इन सीटों पर लिखा रहता था-'केवल गोरे यात्रियों के लिए।' भले ही गोरे यात्री बस में न हों। दस व्यक्तियों के बैठने की अगली चार सीटों पर नीग्रो को बैठने की मनाही होती थी। अगर गोरा यात्री अगली सुरक्षित सीटों पर भरे हुए हों और कुछ दूसरे यात्री बस में और चढ़ जायें तो बिना सुरक्षित सीटों पर बैठे हुए नीग्रो यात्रियों से कहा जाता था कि इन गोरे यात्रियों को बैठने दें और स्वयं खड़े हो जायँ। अगर नीग्रो यात्री सीट खाली करने से इन्कार कर दे तो कैद कर लिये जाते थे। इसलिए प्राय: नीग्रो यात्री बिना विरोध किये खड़े हो जाते थे।

दूकानों में रंगभेद की घटना का मार्टिन लूथर किंग ने उल्लेख किया है, जो घटना कि स्वयं उनके और उनके पिता के साथ घटी थी। वे लिखते हैं-''मैं पिताजी के साथ शहर की एक जूतों की दूकान पर गया था और वहां की कुर्सियों की अगली पंक्ति में बैठ गया। कुछ देर बाद एक श्वेतरंग (गोरों) युवक आया और धीरे से हमें कहा, मुझे आपकी सेवा करके बड़ी खुशी होगी, अगर आप यहाँ से उठकर पीछे के बेंचों पर चले जायँ। मेरे पिताजी ने कहा, इन कुर्सियों में भी तो कोई बुराई नहीं हैं। हम यहीं पर बड़े आराम से हैं। उस युवक ने कहा, मुझे अफसोस है, आपको यहाँ से हटना ही होगा। मेरे पिताजी ने प्रत्युत्तर में कहा, या तो हम यही बैठकर जूते खरीदेंगे, या फिर जूते खरीदेंगे ही नहीं। उसके बाद पिताजी ने मेरा हाथ पकड़ा और हम दुकान से बाहर चले गये।''

डॉ. किंग ने एक और घटना का जिक्र करते हुए लिखा है- ''मुझे याद है वह घटना जब हम कार से कहीं जा रहे थे और अचानक ही गलती से कार रोकने के निशान को हम पार गये। तब एक सिपाही ने आकर हमें रोका और कहा 'ऐ लड़के गाड़ी को पीछे लाओ' और मुझे अपना लाइसेंस दिखाओ। मेरे पिताजी ने गुस्से से भरकर उपेक्षा भरे शब्दों में कहा- 'मैं लड़का नहीं हूँ। मेरी ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा- यह एक 'लड़का' है और मैं एक आदमी हूँ। जब तक तुम अच्छी तरह बात नहीं करोगे, मैं तुम्हारी एक नहीं सुनूँगा। सिपाही घबरा गया और उसने जल्दी-जल्दी अभियोग का टिकट लिखा तथा झटपट हमें छोड़कर चला गया।'' डॉ. किंग कहते हैं कि उनके पिताजी ने कहा था-''मुझे इसकी परवाह नहीं कि कब तक मुझे इस भद्दी परम्परा के साथ जीना पड़ेगा, पर मैं इस परम्परा को कभी स्वीकार नहीं करूँगा। सचमुच उन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया।'' बहुत पहले से नीग्रो यात्रियों पर हुए एक निर्दय प्रहार को देखने के कारण क्रुध होकर किंग के पिताजी ने सिटी बस में यात्रा करनी ही छोड़ दिया था। रंगभेद का एक और उदाहरण- रीव्स नाम का एक नीग्रो बैंड में ढोल बजाने का काम करता था जो 16 वर्ष की उम्र में गिरफ्तार कर लिया गया था। उस पर एक गोरी युवती के साथ बलात्कार करने का आरोप था। एक अधिकारी उसे उस घर में ले गया, जहाँ मृत्यु-दण्ड दिया जाता था और उसे डराते हुए कहा कि अगर वह आरोप कबूल नहीं करेगा तो यहाँ पर जला दिया जायेगा। इस दबाव में पहले तो उसने आरोप स्वीकार कर लिया, पर बाद में यह स्वीकृति वापस ले ली। फिर तो उसने सात साल तक चलने वाले इस मुकदमों में आखिर अपने पर लगाये हुए आरोप को अस्वीकार किया। अंतत: उस युवक को प्राण-दण्ड दिया गया। यह दूसरी बात है कि जिन वर्षों में रीव्स जेल भुगत रहा था, अलबामा राज्य में अनेक गोरे बलात्कार के आरोप में पकड़े गये। इन गोरों ने नीग्रो युवतियों के साथ बलात्कार किया था। पहले तो वे गिरफ्तार ही नहीं होते थे, अगर गिरफ्तार हो भी जाते थे तो मुक्त कर दिये जाते थे।

डॉ. किंग के विचार में गोरे तथा नीग्रो लोगों के जीवन-स्तर में अत्यधिक वैषम्यता भी रंगभेद का कारण तथा माण्टगोमारी का नीग्रो समाज पिछड़ा हुआ था। उद्योगों की कमी के कारण गरीब नीग्रो घरेलू नौकरियों की तरफ आकृष्ट होते थे। 63 प्रतिशत नीग्रो महिलाऐं और 48 प्रतिशत नीग्रो पुरुष घरेलू काम-काज में नौकरी करते थे। सन् 1950 में लगभग 70 हजार गोरे लोगों की औसत आमदनी 1730 डॉलर थी, जबकि 50 हजार नीग्रो लोगों की आमदनी 630 डॉलर ही थी। शहर के 44 प्रतिशत गोरे परिवारों के घरों में स्वलाक्ष्य शौचालय थे, जबकि केवल 31 प्रतिशत नीग्रो परिवारों को ही ऐसी सुविधा थी। नीग्रो लोगों का अपनी आजीविका के लिए गोरे लोगों पर निर्भर रहना भी उन्हें किसी भी आंदोलन को करने में बाधक स्वरूप थी। इससे उसे नौकरी से निकाल देने का खतरा निश्चित था। नीग्रो समुदाय के

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पिछड़ेपन का कारण तथा आंदोलन में भाग नहीं लेने की कारण उसकी अशिक्षा भी थी। अशिक्षित नीग्रो समुदाय में फैली हुई सुस्ती, आलस्य और शिथिलता उसके दुर्भाग्य का मजबूत कारण बना हुआ था।

जहाँ थोड़े से नीग्रो रंगभेद के खिलाफ आवाज उठाने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे, वहाँ बहुजन समाज इस अन्याय को आँखे बन्द करके चुपचाप बर्दास्त कर लेता था। उन्होंने रंगभेद को न केवल एक परम्परा के रूप में स्वीकार कर लिया, बल्कि उनके साथ होने वाले अपमान और अप्रतिष्ठा को भी बिना विरोध किये ही मान्य कर लिया। 'डेक्सटर चर्च' के पूर्व पादरी श्री वर्नन जॉन्स एक दिन एक बस पर चढ़े तथा गोरे लोगों के लिए सुरक्षित आगे वाली सीट पर बैठ गये। बस चालक ने उन्हें पीछे जाने को कहा, परन्तु श्री जॉन्स ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। तब बस चालक ने उन्हें बस से उतर जाने का आदेश दिया। श्री जॉन्स ने उस आदेश को भी ठुकरा दिया। अन्त में जब बस चालक ने उनसे लिया हुआ किराये को पैसा वापस लौटाया, तब वह बस से उतरे। परन्तु उतरने के पहले बसे में बैठे हुए अनेक नीग्रो लोगों से उन्होंने पूछा कि उनमें से कितने व्यक्ति बस चालक के इस दुर्व्यवहार के खिलाफ अपना प्रदर्शन जताने के लिए बस से उतरने को तैयार होंगे? बस में बैठे हुए एक भी नीग्रो ने उनकी बात का उत्तर नहीं दिया। कुछ दिन बाद श्री जॉन्स ने चर्च में आयी हुई एक महिला से, जो कि उस दिन बस में भी थी, पूछा कि आखिर उसने बस चालक के दुर्व्यवहार का विरोध क्यों नहीं किया? वह महिला बोली उसके पास बैठे हुए एक अन्य यात्री ने कहा था कि पादरी महोदय को तो पहले से ही यह जानना चाहिए था कि उनके बैठने का स्थान कौन-सा है?

नीग्रो समाज के उपेक्षित पूर्ण स्थिति के लिए नीग्रो नेताओं में आपसी फूट भी जिम्मेदार थी। बहुत सी सामाजिक संस्थाएं काम कर रही थीं, पर हर एक संस्था, दूसरी संस्था के प्रति ईर्ष्यालु थी। श्री ई. डी. निक्सन के नेतृत्व में 'नागरिक-सभा' नाम की संस्था चला रही थी। श्रीमती मेरी फेयर बर्क्स तथा श्रीमती जोएन रॉबिन्सन 'महिला राजनैतिक परिषद्' नाम की संस्था चल रही थी और श्री आर. एल. मॅथ्यूस 'अश्वेत लोगों के विकास की राष्ट्रीय संस्था' का नेतृत्व कर रहे थे। इसके अलावा और भी अनेक छोटे-मोटे-संगठनों ने नीग्रो समाज को विभाजित कर रखा था। इन सभी संस्थाओं के संचालक और नेतागण बहुत योग्य और जी-जान से काम करने वाले थे, पर उनके अलग-अलग घरौंदे ने आपस में मिलकर किसी बड़ी संगठित शक्ति को पैदा करना असंभव बना दिया था।

नीग्रो समाज के सामने केवल नेताओं की फूट का ही प्रश्न नहीं था, बल्कि पढ़े-लिखे लोगों की उदासीनता भी समाज की उन्नति में बाधक बनी हुई थी। रंग-सम्बन्धों के सुधार की दिशा में किये गये किन्हीं भी प्रयत्नों से इसे पढ़े-लिखे समुदाय द्वारा भाग न लिये जाने से यह उदासीनता साफ प्रकट होती थी। यह समुदाय परिस्थितियों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेने का आदी हो गया था। यद्यपि रंगभेद मिटाने के लिये किये गये किसी भी संघर्ष में कुछ पढ़े-लिखे लोग सबसे आगे खड़े होते थे फिर भी उनकी संख्या अपवाद स्वरूप ही थी। अधिकांश शिक्षित समाज उदासीन और जैसी भी स्थिति हो, उसी में संतोष मानने वाला था। इस उदासीनता की जड़ कुछ हद तक भय में निहित थी। अनेक पढ़े-लिखे लोग ऐसे स्थानों में नौकरियाँ करते थे, जहाँ से उनकी नौकरियाँ समाप्त की जा सकती थीं, अगर वे रंगभेद मिटाने के आंदोलन में सामने आते। इसीलिए अपनी आर्थिक सुरक्षा को खतरे में डालने की अपेक्षा यथास्थिति को कायम रखने में ही उन्होंने अपना भला समझ रखा था। इस उदासीनता का कारण केवल यही नहीं था, बहुत से लोगों में जो उदासीनता व्याप्त थी, वह निरूत्साह जन्य थी। मतदाता सूची में अपना नाम दर्ज कराने जैसे निरापद कामों में भी, जिनमें कि चालू व्यवस्था और कानून को भंग करने की कोई बात नहीं थी, ये पढ़े-लिखे उत्साह शून्य थे। यहाँ तक कि नीग्रो पादरी भी किसी समस्या को सुलझाने की ओर से मुख मोड़े हुए थे। कुछ थोड़े से पादरियों ने सामाजिक प्रश्नों में बड़ी गहरी दिलचस्पी दिखलायी थी। पादरियों की यह उदासीनता बहुत हद तक दृढ़ धारणा में पैदा हुई थी कि उन्हें इस तरह के आंदोलनात्मक और विवादास्पद सामाजिक और आर्थिक मामलों में नहीं पड़ना चाहिए। उनका काम तो केवल उतना ही है कि वे धर्मोपदेश करें और मनुष्यों के दिमागों को दिव्यता की ओर केन्द्रित रखें।

डॉ. किंग यह मानते हैं कि नीग्रो लोगों की अकर्मण्यता का बुनियादी कारण उनके अन्दर घर किया हुआ हीन भाव था। उसी के कारण वे कभी अपने स्वाभिमान को प्रकट नहीं कर पाते थे। बहुत से लोगों के अवचेतन मानस में यह भी सवाल उठता था कि क्या वे इससे बेहतर अवस्था प्राप्त करने के हकदार भी हैं? उनकी आत्मा और मस्तिष्क रंगभेद की पम्परा के साथ इस तरह बंधे हुए थे कि उन्होंने अपने-आपको उसके अनुकूल बना लिया था। रंगभेद की समस्या का यही सबसे दु:खद परिणाम था। इस रूप में रंगभेद केवल बाह्य रूप में ही कष्टदायक नहीं था, बल्कि वह नीग्रो समाज को मानसिक रूप से भी आहत् कर रहा था। वह आत्मा को मार रहा था और व्यक्तित्व को बिखेर रहा था। यह भावना रंगभेद के शिकार लोगों के मनों में गहरा हीन भाव पैदा कर रही थी तथा रंगभेद को पैदा करने वाले के दिलों में अपने को ऊँचा मानने का झूठा अभिमान भी पैदा कर रही थी। यह एक ऐसा तरीका था, जिसके माध्यम से रंगभेद के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शिकार व्यक्ति के चेहरे पर घूर-घूरकर सदा ही यह कहा जाता है, ''हमारी अपेक्षा तुम छोटे हो!'' इस तरह नीग्रो समाज कई समस्याओं से जकड़ा हुआ था जैसे नेताओं को आपसी फूट, अनपढ़ लोगों की शिथिलता, पढ़े-लिखे लोगों की उदासीनता और उसकी गरीबी।

डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने अपनी पुस्तक 'आजादी की मंजिलें' (Stride towards freedom) में लिखा है कि स्कूल में 21 वर्ष तक लगातार रहने के बाद 1953 में मैं पीएच-डी. की उपाधि प्राप्त करने के लिए वहां रहने की शर्तों को सन्तोष जनक रूप से पूरा कर चुका था। अब मुख्य काम अपने प्रबन्ध को लिख लेने का ही बचा था। इसी बीच मैंने अनुभव किया कि मेरे लिए यह बुद्धिमानी होगी कि कोई काम ढूंढ़ लूं, ताकि 1954 तक उस काम पर लग जाऊँ। मासाच्युसेट्स और न्यूयार्क के चर्चों ने मुझे अपने यहाँ आमंत्रित करने की इच्छा जाहिर की थी। तीन कॉलेजों ने भी मुझे बहुत आकर्षक और चुनौती भरे कार्मों के लिए आमंत्रित किया था, जिनमें एक था पढ़ाने का काम, दूसरा था एक संस्था के 'डीन' का काम और तीसरा था प्रशासन का काम। मैं इन कामों के सम्बन्ध में सोच-विचार कर ही रहा था कि मुझे 'डेक्सटर एवेन्यू बैपिटस्ट चर्च' (माण्टगोमरी नगर से) के आधिकारियों का एक पत्र मिला, जिसमें यह लिखा था कि उनका चर्च बिना किसी पादरी के सूना पड़ा है और अगर मैं कभी उस ओर आऊं तो मेरा प्रवचन अपने चर्च में करवाकर वे बहुत प्रसन्न होंगे। ''डॉ. किंग प्रवचन करने डेक्सटर एवेन्यू चर्च गये और वहाँ से प्रवचन कर लौटने के बाद उन्हें डेक्सटर एवेन्यू चर्च का एक 'एक्सप्रेस डिलीवरी' पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि वहाँ की कमेटी डॉ. किंग को सर्वसम्मति से 'डेक्सटर एवेन्यू वैप्टिस्ट चर्च' का पादरी बनने के लिए आमन्त्रित करती है। सितम्बर-अक्टूबर 1956 में मार्टिर लूथर किंग ने माण्टगोमरी नगर में अवस्थित 'डेक्सटर एवेन्यू चर्च' के पादरी का कार्यभार अस्थायी रूप से सम्भाल लिया तथा पादरी का काम प्रारम्भ किया। अब डॉ. किंग को बहुत सारे सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक कार्य करने थे, जिसमें प्रमुख था रंगभेद को समाप्त करना और यहीं से डॉ. किंग द्वारा रंगभेद के विरुद्ध मुहिम शुरू होता है। उन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रारम्भ में सबसे पहले जो एक कमेटी गठित की उसको यह जिम्मेदारी सौंपी गयी कि वह सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक सवालों पर बुद्धिमानी के साथ डेक्सटर चर्च की धर्म परिषद् को वाकिफ रखे। इस कमेटी का काम यह भी था कि वह राष्ट्रीय चुनावों के समय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार प्रकट करने के लिए सभाओं और गोष्ठियाँ का आयोजन करे। इस कमेटी के सदस्य ऐसे लोग बनाये गये जिनको इस तरह की सामाजिक समस्याओं में रुचि हो और सामाजिक क्षेत्र में काम करने का थोड़ा अनुभव भी हो। यह कमेटी बहुत ही प्रभावकारी ढंग से अपने कार्यों में लग गयी। इस संस्था के कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए डॉ. किंग ने भी सक्रिय भूमिका निभाना प्रारम्भ किया। जब डॉ. किंग ने अश्वेत लोगों के विकास की राष्ट्रीय संस्था में काम करना शुरू किया सभी अलबामा राज्य की 'मानव सम्बन्ध परिषद्' ने भी उन्हें आमन्त्रित किया। मिले-जुले रंग के लोगों की यह संस्था अलबामा राज्य में मानवीय सम्बन्ध को सुधारने की दिया में काम कर रही थी और उसने अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शैक्षणिक तरीकों को अपनाया था।

यह संस्था सभी लोगों के लिए समान अवसर दिलाने का काम करने में काफी सचेष्ट थी। इस संस्था का आधारभूत सिद्धान्त यह था कि-''ईश्वर ने सभी मनुष्यों को एक जैसा बनाया है और उस ईश्वर ने हम सबको इस राष्ट्रीय जीवन को चलाने के लिए भेजा है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार राष्ट्रीय जीवन में अपना हिस्सा अदा करने के लिए समान अवसर प्राप्त करने का अधिकारी है। कोई भी व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह इन अधिकारी को किसी भी तरह सीमित करने का हकदार नहीं है।'' डॉ. किंग ने 'मानव परिषद' की सदस्यता स्वीकार कर ली, जिसमें वे बाद में इसके उपाध्यक्ष पद पर भी आसीन हुए। इस संस्था के सदस्य गोरे लोग भी थे, जिनको अपने जातियों का विरोध सहना पड़ता था। दूसरी ओर श्री बर्नन जॉन्स तथा श्री ई. डी. निक्सन जैसे कर्मठ व्यक्तित्व वाले अश्वेत समाज सुधार कार्यों में जुटे हुए थे। श्री निक्सन आशाओं के प्रतीक थे और अलबामा राज्य की दीर्घकाल से दबी हुई जनता के लिए वे प्रेरणा के सूत्र थे।

श्री जॉन्स और निक्सन जैसे व्यक्तियों के कार्य के माध्यम से अंदर ही अंदर नीग्रो लोगों के मन गोरों के प्रति असन्तोष की आग जलने लगी तथा नीग्रो लोगों पर रोज-रोज के अपमानों और अत्याचारों ने इसमें ईंधन का काम किया। ये ऐसे भय-मुक्त पुरुष थे, जिन्होंने सामाजिक क्रान्ति के वातावरण को तैयार किया। किन्तु यह असन्तोष अन्दर ही अन्दर छिपा हुआ था। उस समय नीग्रो और गोरे लोग रंगभेद के बंधे-बंधाये तरीकों को जीवन की वास्तविकता माने बैठे थे। शायद ही किसी ने इस पद्धति के विरुद्ध आवाज उठायी हो। माण्टगोमरी एक बने बनाये ढर्रे पर चलने वाला नगर था। इस नगर को एक शांतिपूर्ण नगर भी कहा जा सकता है। पर इस शांति के लिए मानवीय दासता का मूल्य चुकाया गया था। कई महीनों बाद एक प्रभावशाली गोरे नागरिक ने आकर डॉ. किंग के कामों का विरोध करते हुए कहा था-''यहाँ पर वर्षों से हम भिन्न रंगों के लोग शांतिपूर्वक रह रहे थे। आप और आपके साथी हमारी शांति की उस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लम्बी परम्परा को क्यों तोड़ रहे हैं?'' डॉ. किंग ने सीधा सा उत्तर देते हुए कहा था–''महोदय, माण्टगोमरी में आम लोगों के बीच कभी भी वास्तविक शांति नहीं थी। आप लोग जिस शांति की बात करते हैं, उसका रूप ही नकारात्मक है। इस शांति को नीग्रो लोगों ने भी अक्सर परतंत्रता और विवशतावश स्वीकार कर लिया था, लेकिन यह सच्ची शांति नहीं है। सच्ची शांति तनाव का अभाव मात्र नहीं है। यह तो न्याय की उपलब्धि द्वारा ही सम्भव है। जो तनाव आज हम माण्टगोमरीय में देख रहे हैं, वह बहुत ही आवश्यक तनाव है और यह तनाव तब आता है, जब पददलित लोग खड़े होकर गति प्रारम्भ करते हैं, स्थायी एवं विधायक शांति की ओर आगे प्रयाण करते हैं।'' डॉ. किंग ने आगे कहा– ''मैं यह पुराने ढंग की नकारात्मक शांति लेकर नहीं आया, जिसमें निष्प्राणता तथा शिथिलता व्याप्त हो। मैं तो निर्जीव शांति के विरुद्ध लोगों को हिलाने के लिए आया हूँ। जब मैं आता हूँ तब नये और पुराने में संघर्ष छिड़ जाता है तथा न्याय और अन्याय में भेद पड़ जाता है। मैं एक विधायक शांति लेकर आया हूँ, जिसमें से न्याय, प्रेम और निश्चय ही ईश्वर का राज्य भी प्राप्त होगा।''

5.5 सारांश

इस प्रकार डॉ. मार्टिन लूथर किंग ने ईसाई धर्म की शिक्षाओं का अमेरीका के हिंसक वातावरण में सफलतापूर्वक किया। डॉ. किंग के अहिंसा एवं शान्ति सम्बन्धी योगदान पर उन्हें शान्ति का नोबल पुरुस्कार भी प्राप्त हुआ।

5.6 अभ्यास प्रश्नावली

(अ) बहुवैकल्पिक प्रश्न

1. कार्ल मार्क्स का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 1818 ई. (ब) 1820 ई. (स) 1822 ई.
2. मार्क्स के मार्गदर्शन कौन थे?
   (अ) हीगेल (ब) इमर्सन (स) टॉलस्टॉय
3. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की कितनी विशेषताएं हैं?
   (अ) 4 (ब) 5 (स) 6
4. मार्क्स इतिहास की व्याख्या किस आधार पर करता है।
   (अ) सामाजिक (ब) आर्थिक (स) धार्मिक
5. हेनरी डेविड थोरो का जन्म कब हुआ था?
   (अ) 1817 ई. (ब) 1818 ई. (स) 1819 ई.
6. 'वालडेन' किस का नाम हैं?
   (अ) ग्रन्थागार (ब) सरोवर (स) विद्यालय
7. मार्टिन लूथर किंग (जू) का व्यवसाय क्या था?
   (अ) पादरी (ब) व्यवसायी (स) वकील
8. मार्टिन लूथर किंग (जू) के अनुसार प्रेम के कितने रूप हैं?
   (अ) 3 (ब) 5 (स) 7

(ब) लघु निबंधात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के मार्गदर्शन पर एक लेख लिखें।
2. अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त में किस प्रकार हिंसा समाहित होती है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. वर्ग–भेद समाप्ति हेतु मार्क्स क्या सुझाव देता है?
4. धर्म–सम्बन्धी मार्क्स के विचारों को संक्षेप में वर्णन करें।
5. सामाजिक व्यवस्था को मार्क्स की क्या देन है?
6. हेनरी डेविड थोरो का जीवन कैसा था तथा प्रकृति–प्रेम उनमें कैसे जागा?
7. थोरो का सविनय अवज्ञा सम्बन्धी चिन्तन क्या है?
8. डॉ. मार्टिन लूथर किंग (जू) किस प्रकार के समाज के सदस्य थे।
9. डॉ. किंग ने समाज परिवर्तन हेतु क्या चिन्तन किया।
10. डॉ. किंग के अनुसार ईसाई धर्म की शिक्षाओं का सार क्या हैं?

(स) निबंधात्मक प्रश्न

1. मार्क्स के दर्शन के मूलभूत अवधारणाओं का वर्णन करें।
2. समतामूलक समाज की स्थापना हेतु मार्क्स ने किस प्रकार के विचार प्रकट किए।
3. मार्क्सवाद एवं सर्वोदय पर एक लेख लिखें।
4. हेनरी डेविड थोरो किस प्रकार एक अहिंसक अराजकतावादी थे?
5. थोरो के सविनय अवज्ञा पर एक विस्तृत लेख लिखें।
6. डॉ. मार्टिन लूथर किंग का परिचय देते हुए अहिंसा शांति के क्षेत्र में उनके योगदान का वर्णन करें।
7. डॉ. किंग के अनुसार अहिंसक प्रतिकार का दर्शन एवं व्यवहार क्या है?

*** ** ***

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन विश्वभारती संस्थान

ykMu¡ &341306 ¼jkt LFkku½

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (द्वितीय वर्ष)

विषय : अहिंसा एवं शांति

प्रथम पत्र :

भारतीयेत्तर दृष्टि

lox

संवर्ग – 1 :	यहूदी धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति
संवर्ग – 2 :	ईसाई धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति
संवर्ग – 3 :	इस्लाम धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति
संवर्ग – 4 :	प्रमुख विचारक (प्रथम) : (क) सन्त ऑगस्टाइन, (ख) सन्त थामस एक्विनस, (ग) लेव टॉलस्टाय
संवर्ग – 5 :	प्रमुख विचारक (द्वितीय) : (क) कार्ल मार्क्स, (ख) हेनरी डेविड थोरो, (ग) मार्टिन लूथर किंग (जू)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

fo'k"kK lfefr

1- ik- jk/kkÑ".k] fnYyh
2- ik- t ; idk'ke] enjb
3- ik- t-,u- 'kek] p.Mhx<
4- ik- cPNjkt nxM] ykMu
5- Mk- vfuy /kj] ykMu
6- Mk- lR; iKk] ykMu

y[kd
डॉ. अनिल धर

liknd
Mk- f'koukjk; .k tk'kh

dkihjkbV
tu fo'oHkkjrh lLFkku] ykMu

uohu lLdj.k % 2014

efnr ifr;k % 500

idk'kd %
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ–341 306 (राजस्थान)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पाठ्यक्रम

स्नातक (बी.ए.) द्वितीय वर्ष

विषय - अहिंसा एवं शान्ति

प्रथम पत्र - भारतीयेतर दृष्टि

पूर्णांक - 100

संवर्ग - 1 : यहूदी धर्म-ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति

संवर्ग - 2 : ईसाई धर्म-ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति

संवर्ग - 3 : इस्लाम धर्म-ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति

संवर्ग - 4 : प्रमुख विचारक (प्रथम) :
(क) सन्त ऑगस्टाइन
(ख) सन्त थामस एक्विनस
(ग) लेव टॉलस्टाय

संवर्ग - 5 : प्रमुख विचारक (द्वितीय) :
(क) कार्ल मार्क्स
(ख) हेनरी डेविड थोरो
(ग) मार्टिन लूथर किंग (जू)

उद्देश्य :

प्रिय विद्यार्थियों प्रथम वर्ष में हमने अहिंसा एवं शान्ति के सन्दर्भ में भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण पर विचार किया। द्वितीय वर्ष के इस पाठ के अन्तर्गत अहिंसा एवं शान्ति के गैर भारतीय परम्परा के दृष्टिकोण पर विचार करेंगे, तथा अहिंसा एवं शान्ति की अवधारणा के परिवर्तित एवं क्रमिक विकसित हुए स्वरूप पर भी प्रकाश डालेंगे। इस के अन्तर्गत हम -

(अ) गैर भारतीय धर्म - दार्शनिक परम्परा में प्रचलित अहिंसा एवं शान्ति का स्वरूप का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

(ब) गैर भारतीय परम्परा में अहिंसा एवं शान्ति संबंधी चिन्तन के क्रमिक विकास का अध्ययन कर सकेंगे।

(स) अहिंसा एवं शान्ति सन्दर्भों दार्शनिक एवं व्यवहारिक पक्ष का गैर भारतीय धर्म-दर्शन के सन्दर्भ में अवलोकन कर सकेंगे।

(द) आधुनिक जगत के परिवर्तित परिवेश में अहिंसा एवं शान्ति के विचारों की सार्थकता सिद्ध कर सकेंगे।

(य) वैषम्यपूर्ण समाज में समन्वय स्थापित करने हेतु विभिन्न दार्शनिकों के विचारों का संबल प्राप्त कर सकेंगे तथा

(र) एक नवीन अहिंसक वैश्विक-अन्तर्राष्ट्रीय-राष्ट्रीय समुदायिक-सामाजिक-परिवारिक एवं वैयक्तिक संसार जगत के परिवेश की परिकल्पना को प्रस्तुत की परिकल्पना को प्रस्तुत करेंगे जिसे गैर भारतीय परम्परा में कई काल तथा कई सन्दर्भों में प्रस्तुत किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुक्रमणिका

इकाई संख्या	इकाई का नाम	पृष्ठ
इकाई – 1 :	यहूदी धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति	1
इकाई – 2 :	ईसाई धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति	12
इकाई – 3 :	इस्लाम धर्म–ग्रन्थ में अहिंसा एवं शान्ति	30
इकाई – 4 :	प्रमुख विचारक (प्रथम) : (क) सन्त ऑगस्टाइन (ख) सन्त थामस एक्विनस (ग) लेव टॉलस्टाय	55
इकाई – 5 :	प्रमुख विचारक (द्वितीय) : (क) कार्ल मार्क्स (ख) हेनरी डेविड थोरो (ग) मार्टिन लूथर किंग (जू)	95

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun